प्राचीन भारत

का

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

(Literary and Cultural History of Ancient India)

प्रो. निरंजनसिंह 'योगमणि'

एम. ए. (हिन्दी व संस्कृत)

रिसर्च पब्लिकेशन्स

त्रिपोलिया, जयपुर-2

TOPICS FOR STUDY

1. वैदिक साहित्य—संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं सूत्र-ग्रन्थ 20 अंक
2. पौराणिक, आधुनिक तथा शास्त्रीय साहित्य 20 अंक

    (क) पौराणिक साहित्य

    (ख) आधुनिक साहित्य

    (ग) शास्त्रीय साहित्य—(i) दार्शनिक साहित्य (ii) धर्मशास्त्र (iii) अर्थशास्त्र (iv) अलंकार-शास्त्र (v) आयुर्वेद (vi) वैज्ञानिक साहित्य (vii) ज्योतिष (viii) तन्त्र एवं (ix) गणित

3 प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास 20 अंक

    (i) ऋग्वेद काल से 400 ई. पू. तक का प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास।

    (ii) मौर्य काल से 12वी शताब्दी ई. तक के ऐतिहासिक अवशेषों का इतिहास (Monuments of Ancient India)।

    (iii) भारत के औपनिवेशिक (Colonial) तथा सांस्कृतिक (Cultural) विस्तार का इतिहास।

Published by Research Publications, Tripolia, Jaipur-2

Printed at S. L. Printers, Jaipur

भूमिका

देववाणी संस्कृत में प्राचीन भारत का समग्र साहित्य सृजित हुआ है। साहित्यिक इतिहास की परिधि 3000 ई. पू. से आज तक व्यापक है परन्तु प्राचीन भारत का साहित्य 3000 ई. पू. से 1783 ई. तक ही सीमित रहा है। हमारा प्राचीन साहित्य वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में अनेकमुखी रहा है। वैदिक साहित्य ऋग्वेद से प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद के पश्चात् यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद नामक संहिताओं की रचना हुई। संहिता-काल के उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थों का युग आरम्भ हुआ। ऋग्वेद के ऐतरेय एवं कौषीतकी, यजुर्वेद के तैतिरीय तथा शतपथ, सामवेद का छान्दोग्य तथा अथर्ववेद का गोपथ प्रमुख ब्राह्मण ग्रन्थ मान्य हैं। वेद के इसी क्रम में आरण्यकों की रचना हुई। आरण्यकों के पश्चात् उपनिषद् युग का सूत्रपात हुआ। इस युग में मुख्यतः ब्रह्मविद्या के संकेतक ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, कौषीतकी, छान्दोग्य, तैतिरीय, श्वेताश्वतर तथा वृहदारण्यक नामक बारह उपनिषदों की रचना हुई। लौकिक संस्कृत में रामायण तथा महाभारत को क्रमशः प्रथम और द्वितीय स्थान मिला। इन ग्रन्थों के पश्चात् संस्कृत साहित्य साहित्यिक विधापरक तथा शास्त्रीय साहित्य के रूपों में विकसित हुआ। साहित्यिक विधाओं में नाटक, महाकाव्य, गीतिकाव्य, गद्य-साहित्य, आख्यान साहित्य आदि का विकास हुआ। नाटक के क्षेत्र में भास, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, विशाखदत्त आदि नाटककारों ने महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत कीं। कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' विश्व-साहित्य के अनुपम नाटकों में से एक है। अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष जैसे महाकवियों ने क्रमशः 'बुद्धचरित', 'रघुवंश', 'किरातर्जुनीय', 'शिशुपालवधम्' तथा 'नैषधचरित' की रचना करके महाकाव्य के जगत का विस्तार किया। गीतिकाव्य के क्षेत्र में कालिदास के 'मेघदूत' ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। गद्य साहित्य के क्षेत्र में बाणभट्ट की 'कादम्बरी', सुबन्धु की 'वासवदत्ता' तथा दण्डी का 'दशकुमारचरित' नामक विश्व-विश्रुत ग्रन्थ लिखे गए। 'पंचतन्त्र' आख्यान साहित्य का विश्व-विख्यात ग्रन्थ है। संस्कृत का शास्त्रीय साहित्य दर्शन, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, अलंकार शास्त्र, विज्ञान, ज्योतिष, तन्त्र तथा गणित प्रभृति के रूप में भी समादरणीय रहा है। दर्शन-जगत में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त षड्दर्शन के रूप में और चार्वाक, बौद्ध तथा जैन नास्तिक दर्शन के रूप में ख्यात रहे हैं। 'मनुस्मृति' जैसे ग्रन्थ धर्मशास्त्र के रूप में तथा कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' अर्थशास्त्र के रूप में प्रसिद्ध रहा है। अलंकार शास्त्र के क्षेत्र में भरत का 'नाट्यशास्त्र', भामह का 'काव्यालंकार', वामन का 'काव्यालंकार-सूत्र', आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक', अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती', कुन्तक का 'वक्रोक्ति जीवित', मम्मट का

'काव्यप्रकाश', क्षेमेन्द्र का 'औचित्य-विचार-चर्चा', विश्वनाथ का 'साहित्य दर्पण', जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' इत्यादि ग्रन्थ प्रसिद्ध रहे हैं। पौराणिक विज्ञान, 'वेदांग ज्योतिष', 'रुद्रयामल तन्त्र', जैसे ग्रन्थ भी शास्त्रीय साहित्य के गौरव के परिचायक रहे हैं।

प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास वैदिक युग से भक्ति आन्दोलन तक चलता है। वैदिक संस्कृति के परिचायक वेद, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् जैसा साहित्य रहा। पौराणिक संस्कृति या महाकाव्ययुगीन संस्कृति के आधार पुराण, रामायण तथा महाभारत नामक ग्रन्थ रहे हैं। बौद्ध संस्कृति त्रिपिटक साहित्य पर तथा जैन संस्कृति 'आचारांगसूत्र' जैसे ग्रन्थों के आधार पर जानने योग्य हैं। भक्तिकालीन संस्कृति को जानने के लिए शंकराचार्य का 'विवेकचूडामणि' एवं 'शारीरिकभाष्य', रामानुज का 'श्रीभाष्य' तथा वल्लभाचार्य का 'अणुभाष्य' नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। प्राचीन भारत की संस्कृति के इतिहास को स्पष्ट करने का श्रेय 'रुद्रदामन' जैसे शिलालेखों को भी है। भारतीय संस्कृति के प्राणभूत ग्रन्थों को विदेशी भाषाओं में अनूदित भी किया गया। ये ग्रन्थ भारतीय संस्कृति के प्रसार के प्रबल प्रमाण रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में वैदिक, पौराणिक, शास्त्रीय तथा आधुनिक साहित्य एवं सांस्कृतिक इतिहास का तलस्पर्शी ज्ञानांकन करने का प्रयास किया गया है। ऐतिहासिक सन्दर्भों का उल्लेख करते समय निष्कर्ष-स्वरूप तथ्यों के प्रतिपादन पर बल दिया गया है। संस्कृत साहित्य के इतिहास की प्रवृत्तियों अथवा विशेषताओं को यथास्थान उल्लिखित करना प्रस्तुत पुस्तक की एक नई दिशा है। हिन्दी साहित्य में जो प्रवृत्तिगत इतिहास लेखन की प्रणाली विकसित हुई, वह परीक्षा की दृष्टि से संस्कृत साहित्य में भी सदैव वांछित रही है। प्रस्तुत पुस्तक उसी कमी की प्रतिपूर्ति का एक प्रयास है। विषय का प्रतिपादन करने के लिए प्रामाणिक तथ्यों को यथास्थान देने का प्रयास किया गया है। सांस्कृतिक इतिहास को स्पष्ट करने के लिए संस्कृति के इतिहास की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करके सांस्कृतिक इतिहास का पथ निर्मित कर दिया गया है। विभिन्न विद्वानों द्वारा मतों को परीक्षित करके आवश्यक निष्कर्ष भी प्रस्तुत किए गए हैं। यद्यपि संस्कृत साहित्य की समस्त विधाओं का विवेचन 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' शीर्षकीय पुस्तक में ही सम्भव है, तथापि निर्धारित अध्यायों को आधार बनाकर प्रस्तुत पुस्तक में अद्यतन् साहित्यिक एवं सांस्कृतिक जानकारियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखन में जिन सन्दर्भ-ग्रन्थों की सहायता ली गई है, मैं उनके लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इस पुस्तक के संशोधन हेतु विद्वानों के सुझाव आमन्त्रित हैं। जो सुझाव यथासमय प्राप्त होंगे, उनको यथाविधि स्वीकार किया जाएगा।

निरंजनसिंह

अनुक्रमणिका

साहित्यिक इतिहास

साँस्कृतिक इतिहास

प्राचीन भारत का साहित्यिक एवं साँस्कृतिक इतिहास : एक परिचय

(Literary and Cultural History of Ancient India)

प्राचीन भारत (3000 ई. पू. से 1783 ई. तक)

प्राचीन भारत की कालावधि के विषय में इदमित्थं कुछ नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद को विश्व का प्राचीनतम साहित्य मानकर अद्य-पर्यन्त पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ है। परन्तु ऋग्वेद का रचना-काल अब भी निश्चयात्मकता के साथ प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। मैक्समूलर जैसे विकासवादी सिद्धान्तप्रिय वेद-विचारकों ने ऋग्वेद को कम से कम बारह सौ वर्ष ईसा पूर्व रचित अवश्य माना है। विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित वेदों के रचना-काल का अनुशीलन करने पर यह निश्चित हो जाता है कि वेद दो हजार वर्ष ईसा पूर्व में प्रणीत हो चुके थे। अतः ऋग्वेद के रचना-काल की पूर्व सीमा कम से कम तीन हजार वर्ष ई. पू. मानी जा सकती है।

इतिहास में प्राचीन भारत की समय-सीमा सिन्धुघाटी की सभ्यता से लेकर अर्थात् 4000 वर्ष ईसा पूर्व से लेकर 10वीं शताब्दी पर्यन्त स्वीकार की जाती है। 10वीं शताब्दी से लेकर 18वीं शताब्दी के मध्यपर्यन्त मध्यकाल स्वीकारा गया है। आधुनिक काल 18वीं शताब्दी के मध्य से लेकर अद्यपर्यन्त स्वीकार किया जाता है। परन्तु संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों ने गणित तथा तन्त्र जैसे शास्त्रीय साहित्य को प्राचीन भारत की देन मानकर तथा 1784 ई. में सर विलियम जोन्स की सफल चेष्टाओं से 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' नामक शिक्षण-संस्था की कलकत्ता में स्थापना के आधार पर नवजागरण को आधुनिक मानकर प्राचीन भारत को 1783 ई. पर्यन्त ही स्वीकार किया गया है।[1]

काल-निर्धारण के लिए आदि, मध्य तथा अन्त नामक काल-त्रिभेद की मान्यता है। यदि संस्कृत साहित्य के इतिहास को तीन भागों में विभाजित किया

1 डॉ. हीरालाल शुक्ल : आधुनिक संस्कृत-साहित्य की भूमिका।

जाए तो 3000 ई. पू. से 600 ई. पू. तक आदिकाल, 600 ई. पू. से 1783 ई. तक मध्य काल तथा 1784 ई. से आज तक आधुनिक काल माना जा सकता है। हमारे देश में प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रवृत्तियों किंवा विशेषताओं की प्रधानता दृष्टिगोचर होती रही है, होती है। अतः हमें 1784 ई. से आधुनिकता का श्रीगणेश मानकर प्राचीन भारत का समय 3 हजार ई. पू. से लेकर 1783 ई. तक ही मानना पड़ेगा।

साहित्यिक इतिहास का सम्बन्ध साहित्यिक कृतियों के सन्दर्भों से रहा करता है। जब कोई साहित्यिक कृति काव्यात्मक सौंदर्य से संवलित होकर किसी विशेष युग का प्रतिनिधित्व करती है, तो उसका साहित्यिक इतिहास स्वयमेव निर्मित होता हुआ भी विद्वानों को अन्य कृतियों के साथ तुलनात्मक ऐतिहासिक सन्दर्भ प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया करती है। परन्तु जब साहित्यिक कृतियों में विभिन्न युगों की संस्कृति के विकास को भी प्रस्तुत किया जाता है तो उसे अन्तः साक्ष्य के आधार के रूप में गिना जाता है तथा अन्य बाह्य उपकरणों—शिलालेख, सिक्के आदि के आधार पर संस्कृति का विश्लेषण किया जाता है। इसीलिए प्राचीन भारत के साहित्य के इतिहास को साहित्यिक इतिहास तथा सांस्कृतिक इतिहास के रूप में विभाजित किया गया।

साहित्यिक इतिहास

संस्कृत हमारी प्राचीन भाषा है। संस्कृत सम्पर्क-भाषा होने के साथ-साथ साहित्य की भाषा के रूप में समादृत रही है। अतः प्राचीन भारत का साहित्यिक इतिहास प्रमुखतः संस्कृत साहित्यक का ही इतिहास है। संस्कृत भाषा वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के रूप में प्रचलित रही है। वैदिक संस्कृत में वैदिक साहित्य का प्रणयन हुआ तथा लौकिक संस्कृत में पौराणिक, शास्त्रीय तथा काव्य-महाकाव्यादि की रचना हुई। यहाँ मुख्यतः प्राचीन भारत के अथवा संस्कृत के प्राचीन साहित्य की परम्परा को सूचित करना ही हमारा प्रयोजन है।

वैदिक साहित्य

वैदिक संस्कृत में प्रणीत ईश्वरत्व-प्राप्त ऋषियों के साहित्य को वैदिक साहित्य कहा जाता है। वैदिक साहित्य की समय-सीमा सामान्यतः 3000 ई, पू. से लेकर 1000 ई. पू तक है। वैदिक साहित्य को मुख्यतः चार भागों में बाँटा जाता है—1. संहिता, 2. ब्राह्मण, 3. आरण्यक एवं उपनिषद् तथा 4. वेदांग साहित्य।

1. संहिता—संकलित अथवा संग्रहीत ग्रन्थ को 'संहिता' नाम से जाना जाता है। वेद-मन्त्र विभिन्न ऋषियों की परम्परा में प्रचलित रहते हुए इधर-उधर बिखरे हुए थे। विभिन्न ऋषियों ने यत्र-तत्र विकीर्ण मन्त्रों का संकलन करके संहिताओं का निर्माण किया। प्रमुख संहिताएँ चार हैं—1. ऋग्वेद, 2. यजुर्वेद, 3. सामवेद तथा 4. अथर्ववेद।

जिस संहिता में ऋचाओं—अर्थात् पद्य या मन्त्रों का संकलन है, उसे ऋग्वेद के नाम से जाना जाता है। प्राचीनकाल में ऋग्वेद की पांच शाखाएँ थीं—1. शाकल, 2. वाष्कल, 3. आश्वलायन, 4. शांखायन तथा माण्डूक्य। आगे चलकर

ऋग्वेद की 27 शाखाएँ विकसित हुईं। ऋग्वेद संहिता के रचनाकारों में शंखायन, वाष्कलि, कुषीतक, आश्वलि प्रभृति ऋषि शिष्य-परम्परा के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस संहिता में 10 मण्डल, 85 अनुवाक तथा 10589 तक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। इस संहिता का रचना-काल 3000 ई. पू. के लगभग माना जाता है।

यजुर्वेद संहिता में 'यजुष' या गद्य की प्रधानता है। इस संहिता के 'कृष्ण' तथा 'शुक्ल' नामक दो भाग हैं। कृष्ण यजुर्वेद की 'तैत्तिरीय,' 'मैत्रायणी' तथा 'कठ' शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। शुक्ल यजुर्वेद में 'काण्व' तथा 'वाजसनेय' शाखाओं को गिना जाता है। प्रस्तुत संहिता में चालीस अध्याय हैं। चालीसवाँ अध्याय 'ईशावास्य' उपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध है। 'यजुर्वेद संहिता' के रचनाकारों में कण्व, याज्ञवल्क्य, वैशम्पायन, आत्रेय आदि ऋषि प्रमुख हैं। इस संहिता का रचनाकाल 2500 ई. पू. है।

सामवेद संहिता में 'साम' या गीति-तत्त्व की प्रधानता है। इस संहिता की तीन शाखाएँ—कौथुम, जैमिनीय तथा राणायणीय हैं। सामवेद संहिता के प्रणेताओं में जैमिनि, कुथुमी, राणायण जैसे ऋषियों का योगदान है। इस संहिता का रचना-काल 2500 ई. पू. स्वीकार किया जाता है। सामवेद में गीतों की प्रधानता है।

अथर्ववेद सहिता के प्रधान प्रणेता 'अथर्वन्' ही थे। अथर्वा तथा अंगिरस ने इस संहिता को विश्व-विदित बनाया। वेद की इस चौथी संहिता में 20 अध्याय हैं। आयुर्वेद तथा तन्त्रादि से प्रस्तुत संहिता का प्रगाढ़ सम्बन्ध है। इस संहिता का निर्माण-काल 2000 ई. पू. मान्य है।

संहिता-साहित्य कण्ठ-साहित्य के रूप में विकसित रहा था। परन्तु कालान्तर में भोजपत्र पर लिखने की परम्परा विकसित हुई तथा विभिन्न संहिताओं का भाषा-तत्त्व तथा वर्ण्य विषय के आधार पर संकलन करके उन्हें चार वेदों—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का रूप प्रदान किया। समस्त संहिता साहित्य विभिन्न युगों में प्रणीत होने के कारण वैदिक भाषा के विभिन्न रूपों में विकसित हुआ। इसीलिए वैदिक संस्कृत के शब्दों के विभिन्न रूप मिलते हैं। संहिता साहित्य भारतवर्ष का ही नहीं, अपितु विश्व का प्राचीनतम साहित्य है।

2. ब्राह्मण—वेदों की रचना के उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। ब्रह्म या विस्तृत भाव को स्वयं में संयोजित करने वाला अथवा यज्ञ की प्रधानता से परिपूर्ण वैदिक साहित्य को ब्राह्मण साहित्य के नाम से जाना जाता है। संहिता-साहित्य के यज्ञ-भाग को ब्राह्मणों में विस्तार दिया गया है। ब्राह्मणों का सम्बन्ध चारों वेदों से रहा है। ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन 2000 ई. पू. के लगभग माना जाता है।

ऋग्वेद से दो ब्राह्मणों का सम्बन्ध है। प्रथम ब्राह्मण ऐतरेय है तथा दूसरा कौषीतकी। 'इतरा' नामक शूद्रा के पुत्र महीदास ने ऐतरेय ब्राह्मण की रचना की। कुषीतक नामक ऋषि की शिष्य-परम्परा में 'कौषीतकी' ब्राह्मण की रचना हुई। इन

दोनों ब्राह्मणों में यज्ञ-विधान की चर्चा के अतिरिक्त सृष्टि-रचना तथा इतिहास-भूगोल से सम्बद्ध जानकारी भी प्रस्तुत की गई है।

यजुर्वेद की कृष्ण शाखा से सम्बद्ध 'तैत्तिरीय' ब्राह्मण है तथा शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण 'शतपथ' है। 'तैत्तिरीय' का सम्बन्ध वर्णाश्रम धर्म से है तथा 'शतपथ' का सम्बन्ध विभिन्न आख्यानों एवं उपाख्यानों के साथ-साथ यज्ञ-विधान तथा विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं से है। 'शतपथ' एक अभूतपूर्व ब्राह्मण है।

सामवेद की कौथुमीय संहिता या शाखा के पाँच ब्राह्मण हैं—1. ताण्डय, 2. षड्विंश, 3. अद्भुत, 4. मन्त्र तथा 5. छान्दोग्य। सामवेद की दूसरी शाखा 'जैमिनीय' से 'जैमिनीय ब्राह्मण' तथा 'जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण' विकसित हुए। इन ब्राह्मणों का इतिहास तथा धर्मशास्त्र की दृष्टि से व्यापक महत्त्व है। राणायणीय संहिता का कोई ब्राह्मण नहीं है।

अथर्ववेद से सम्बद्ध एकमात्र ब्राह्मण 'गोपथ' है। यह ब्राह्मण ग्रन्थ होने पर भी वेदान्त से सम्बद्ध है। इस ब्राह्मण का यज्ञ और ब्रह्मविद्या नामक दोनों ही तत्त्वों की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

(i) आरण्यक—अरण्य या वन में रचित तथा पठित होने की परम्परा के कारण वनप्रस्थितयों से सम्बद्ध कर्मों का प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थों को आरण्यक ग्रन्थ कहा गया। जहाँ ब्राह्मणग्रन्थ गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करने में व्यस्त रहे, वहाँ आरण्यकों ने वनप्रस्थियों के धर्म की विवेचना की।

ऋग्वेद से सम्बद्ध आरण्यक 'ऐतरेय' तथा कौषीतकी हैं। पूर्व वर्णित इन्हीं नामों वाले ब्राह्मण ग्रन्थों की परम्परा में जो शिष्य-परम्परा कार्य कर रही थी, उसी परम्परा में इन आरण्यकों का प्रणयन हुआ। इन आरण्यकों में सृष्टि के गूढ तत्त्व को भी स्पष्ट किया है। यजुर्वेद के आरण्यकों में 'तैत्तिरीय' तथा 'शतपय' हैं। सामवेद से सम्बद्ध आरण्यक 'जैमिनीयोपनिषद् आरण्यक' तथा 'छान्दोग्यारण्यक' हैं। इन आरण्यकों में उपनिषद्-तत्त्व की भी पर्याप्त चर्चा है। अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है। आरण्यकों का रचना-काल 1500 ई. पू. तक माना जाता है।

(ii) उपनिषद्—आरण्यकों में उपनिषद्-तत्त्व पर्याप्त प्रवेश पा चुका था। इसीलिए आरण्यकों और उपनिषदों को एक दूसरे के निकट पाया जाता है। आध्यात्म-विद्या से पूर्ण ग्रन्थों को उपनिषद् कहा जाता है। प्रमुख तथा प्रामाणिक उपनिषद् बारह हैं, जिन पर शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य जैसे वेदान्तविदों के भाष्य उपलब्ध हैं। बारह उपनिषदों के नाम इस प्रकार हैं—1. ईशावास्य, 2. केनोपनिषद्, 3. कठोपनिषद्, 4. प्रश्नोपनिषद्, 5. मुण्डकोपनिषद्, 6. माण्डूक्योपनिषद्, 7. तैत्तिरीयोपनिषद्, 8. ऐतरेयोपनिषद्, 9. छान्दोग्योपनिषद्, 10. बृहदारण्यकोपनिषद्, 11. कौषीतकी उपनिषद् तथा 12. श्वेताश्वतरोपनिषद्।

'ऐतरेय' तथा 'कौषीतकी' उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं। यजुर्वेद से जुड़े हुए उपनिषद् बृहदारण्यकोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, ईशावास्य तथा कठोपनिषद् हैं। 'केनोपनिषद्' तथा 'छान्दोग्योपनिषद्' का सम्बन्ध सामवेद से

से । 'प्रश्न', 'मुण्डक' तथा 'माण्डूक्य' उपनिषद् अथर्ववेद के समय के साथ सम्पृक्त हैं ।

उपनिषद् के प्रणेताओं में पूर्व वर्णित शिष्य-परम्परा में और भी अधिक विकास हुआ । उपनिषदों को वेदों के अन्तिम भागों में अवस्थित देखने के कारण उन्हें 'वेदान्त' भी कहा गया है । उपनिषदों को ब्रह्मविद्या का समुद्र माना जाता है । उपनिषदों का रचना-काल 1000 वर्ष ई. पू. स्वीकार किया जा सकता है ।

वेदांग साहित्य—वेद के अंगों को जानने के लिए जिस साहित्य की रचना हुई, उसे वेदांग साहित्य के नाम से जाना जाता है । वैदिक साहित्य के मर्म को स्पष्ट करने का श्रेय वेदांग साहित्य को ही है । वेद के 6 अंग हैं—1. शिक्षा, 2. कल्प, 3. व्याकरण, 4. निरुक्त, 5. छन्द तथा 6. ज्योतिष । वैदिक साहित्य का महत्त्व वेदों के रहस्य को प्रतिपादन करने या समझाने से है । स्वर-ज्ञान को 'शिक्षा' कहते हैं । 'पाणिनीय शिक्षा' स्वर-ज्ञान को सूचित करने वाला ग्रन्थ है । सूत्र ग्रन्थों को 'कल्प' के अन्तर्गत रखा गया है । आश्वलायन, शांखायन तथा आपस्तम्ब जैसे सूत्रग्रन्थ 'कल्पसूत्रों' के रूप में प्रसिद्ध हैं । सूत्र ग्रन्थों को गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र तथा धर्मसूत्र नामक रूपों में विभाजित किया गया है । प्रातिशाख्य ग्रन्थ वैदिक व्याकरण से सम्बद्ध ग्रन्थ है । आचार्य यास्क का 'निरुक्तम्' एक निरुक्त ग्रन्थ है । निरुक्त के माध्यम से वेदार्थ का ज्ञान कराया जाता है । 'छन्दोऽनुशासन ग्रन्थ में गायत्री, उष्णिक, जगती जैसे वैदिक छन्दों के लक्षणों एवं स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । 'वेदांग ज्योतिष' में ज्योतिष-तत्त्व का वर्णन है ।

आज वेदांग साहित्य से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते । वेदांग साहित्य में सूत्रग्रन्थों का विकास सर्वाधिक हुआ । सूत्रग्रन्थों का रचना-काल 600 ईसा पूर्व माना गया है । 'कल्प' के अतिरिक्त अन्य वेदांगों का विकास मुख्यतः लौकिक संस्कृत के युग में ही हुआ ।

लौकिक साहित्य—जब वैदिक संस्कृत देववाणी या ऋषियों के साहित्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी, तब जन-समाज में जिस संस्कृत भाषा को व्यवहृत किया जा रहा था, उसी को अपेक्षाकृत शुद्ध रूप में साहित्य में प्रयोग करके लौकिक संस्कृत का स्वरूप प्रदान किया गया । लौकिक संस्कृत में सबसे पहले आदि कवि वाल्मीकि ने 'रामायण' की रचना की । रामायण के पश्चात् महाभारत तथा पुराण एवं स्मृति-ग्रन्थों का प्रणयन लौकिक भाषा में ही हुआ । कालान्तर में लौकिक संस्कृत ही साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित रही । छठी शताब्दी ईसा पूर्व आचार्य पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' नामक व्याकरण-ग्रन्थ लिखकर संस्कृत भाषा को सुव्यवस्थित कर दिया था । लौकिक संस्कृत अब संस्कृत के नाम से जानी जाती है । लौकिक संस्कृत साहित्य का इतिहास सुविस्तृत है ।

1. पौराणिक महाकाव्य—लौकिक संस्कृत में पाणिनि से पूर्व की रचनाएँ पौराणिक प्रतिमानों को लेकर अवतीर्ण हुईं । भाषा और पुराण-प्रथित सिद्धान्तों को अपनाने के कारण पौराणिक महाकाव्यों का स्वरूप चरित-काव्य के रूप में विकसित हुआ । इसीलिए 'रामायण' तथा 'महाभारत' को पौराणिक महाकाव्यों के

रूप में जाना जाता है। 'रामायण' तथा 'महाभारत' नामक ग्रन्थों को पौराणिक महाकाव्यों के रूप में सम्मान मिला है। 'रामायण' के प्रणेता आदिकवि वाल्मीकि थे। भाषा-तत्त्व के आधार पर रामायण का रचना-काल छठी शताब्दी ईसा पूर्व सिद्ध होता है। रामायण सात सर्गों में एक महाकाव्योचित रामकथा को लेकर रची गई है। इस महाकाव्य में आदर्श पात्रों का निरूपण, प्रकृति-प्रेम का चित्रण, भारतीय संस्कृति का प्रतिपादन तथा भाषा-शैली का सहज सुन्दर रूप एवं प्रवाह देखा जाता है।

'महाभारत' एक धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, तथा पौराणिक महाकाव्य के रूप में लिखा हुआ एक विशाल ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचयिता कृष्णद्वैपायन वेदव्यास माने जाते हैं। प्रारम्भ में इसे 'जय' काव्य कहा गया तथा कालान्तर में वैशम्पायन तथा शौनक जैसे ऋषियों के सहयोग से इसे 'महाभारत' का स्वरूप मिला, महाभारत का रचना-काल पंचम शताब्दी ईसा पूर्व है। इस ग्रन्थ में अठारह पर्व हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ कौरवों तथा पाण्डवों के राज्य-विभाजन को लेकर होने वाले महायुद्ध की कथा का सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत करता है।

2. पुराण—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंश्यानुचरित नामक लक्षणों से युक्त ग्रन्थों को 'पुराण' नाम से अभिहित किया है। पुराण-साहित्य के अन्तर्गत मुख्यतः अष्टादश पुराणों को गिना जाता है। अठारह पुराणों के नाम इस प्रकार हैं– 1. ब्रह्म, 2. पद्म, 3. विष्णु, 4. शिव, 5. भागवत, 6. नारद, 7. मार्कण्डेय, 8 अग्नि, 9. भविष्य, 10. ब्रह्मवैवर्त, 11. लिंग, 12. वराह, 13. स्कन्द, 14. वामन, 15. कूर्म, 16. मत्स्य, 17. गरुड़ तथा 18. ब्रह्माण्ड। पुराणों के सर्वाधिक प्रसिद्ध रचयिता के रूप मे कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का नाम उल्लेखनीय है। वस्तुतः पुराणों की रचना शौनक, सूत, पराशर, नारद, तथा अनेकानेक वेदव्यासों के संरक्षण में हुई है। पुराणों के रचना-काल की पूर्व सीमा 500 ई. पू तथा अपर सीमा बारहवीं शताब्दी तक है। पुराणों ने परवर्ती संस्कृत साहित्य को नहीं, अपितु हिन्दी, तमिल, बंगला आदि विभिन्न भाषाओं के साहित्य को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है।

3. शास्त्रीय साहित्य—प्राचीन भारत में संस्कृत भाषा में ही कारिका तथा सूत्रशैली के माध्यम से शास्त्रीय साहित्य की रचना हुई। शिक्षा विशेष को शास्त्र कहा जाता है। शास्त्रीय साहित्य का विकास विभिन्न रूपों में हुआ, जिसका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है।

दार्शनिक साहित्य—सहज ज्ञान की विवेचना का नाम दर्शन है। भारतीय षड्दर्शन के अतिरिक्त चार्वाक, बौद्ध तथा जैन जैसे दर्शन भी अपना-अपना यथेष्ठ महत्त्व रखते हैं। वेदों का समर्थन करने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाए तथा वेद विरोधी दर्शनों को नास्तिक दर्शन कहा गया। 'आस्तिको वेद समर्थकः' तथा 'नास्तिको वेद निन्दकः' सिद्धान्त के आधार पर सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त षड्दर्शन आस्तिक दर्शन के रूप में प्रख्यात हैं तथा चार्वाक, बौद्ध एवं जैन दर्शन वेद-विरोधी दर्शन होने के कारण नास्तिक दर्शन कहलाते हैं।

'साँख्य' एक प्राचीनतम दर्शन है। साँख्य के प्रणेता के रूप में महर्षि कपिल का नाम आदरणीय है। कपिल का 'साँख्यसूत्र' साँख्य दर्शन का आधार है। कपिल के स्थितिकाल के विषय में निश्चयतः कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी 'साँख्यसूत्र' पाँचवीं शती ईसा पूर्व की रचना अवश्य है। साँख्य दर्शन के विकासकर्त्ता के रूप में ईश्वर कृष्ण को पर्याप्त महत्त्व मिला है। ईश्वर कृष्ण का स्थितिकाल चौथी शताब्दी है। इनका 'साँख्यकारिका' ग्रन्थ साँख्य दर्शन का विद्वतापूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य माठर की 'माठरवृत्ति' भी साँख्य दर्शन का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। माठराचार्य का समय छठी शताब्दी निश्चित है।

पतजलि का 'योगसूत्र' योगदर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है। पतंजलि का स्थिति-काल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी मान्य है। योग से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है परन्तु वे सभी ग्रन्थ आज अप्राप्य हैं। साँख्य दर्शन की भाँति योग दर्शन भी स्वभाववादी दर्शन है, परन्तु दोनों की विकास-प्रक्रिया भिन्न है।

महर्षि गौतम द्वारा प्रतिपादित न्याय-सिद्धान्त 'न्यायदर्शन' के रूप में मान्य है। दूसरी शताब्दी में अक्षपाद गौतम ने 'न्यायसूत्र' नामक प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना की। न्याय दर्शन के विकास में उद्योतकर (7वीं शती) का 'न्यायवार्तिक' विशेष रूप से प्रसिद्ध है। नवम् शताब्दी में आचार्य धर्मोत्तर ने 'न्यायविन्दु टीका' नामक ग्रन्थ की रचना करके तथा दशम शताब्दी में आचार्य जयन्त भट्ट ने 'न्याय-मंजरी' लिखकर न्यायदर्शन का विकास किया। बौद्ध दार्शनिक दिङनाग तथा धर्मकीर्ति ने क्रमशः छठी तथा सातवीं शताब्दी में बौद्ध-न्याय के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। बौद्ध दार्शनिकों तथा नैयायिकों की खण्डन-मण्डन परम्परा के कारण न्यायदर्शन का अभूतपूर्व विकास हुआ।

महर्षि कणाद् वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक के रूप में विख्यात हैं। महर्षि कणाद् का समय चौथी शती ई. पू. निश्चित है। कणाद् का 'वैशेषिक सूत्र' वैशेषिक दर्शन का मूल आधार माना जाता है। आचार्य प्रशस्तवाद ने चौथी शताब्दी में 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के ऊपर दसवीं शताब्दी में उदयनाचार्य ने 'किरणावली' तथा श्रीधराचार्य ने 'न्याय-कंदली' नामक टीका लिखी। वैशेषिक दर्शन परमाणुवादी दर्शन है।

मीमांसा दर्शन के सूत्रपात का श्रेय आचार्य जैमिनि को है। इनके 'मीमांसा सूत्र' नामक ग्रन्थ का रचना-काल 550 ई. पूर्व है। शवर स्वामी का 'शावर भाष्य' मीमांसा दर्शन का एक पुनरुद्धारक ग्रन्थ है। 'शावर भाष्य' पर कुमारिल ने सातवीं शताब्दी में प्रामाणिक टीका की। कुमारिल का मत भाट्टमत के नाम से प्रसिद्ध है। 'शावर भाष्य' के दूसरे टीकाकार प्रभाकर हुए। प्रभाकर का मत गुरुमत नाम से जाना जाता है। मुरारि 'शावर भाष्य' के तीसरे प्रसिद्ध टीकाकार हुए। मुरारि के मत को मुरारिमत के रूप में जाना जाता है। मीमांसा दर्शन में आद्योपान्त कर्मकाण्ड की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

आचार्य वादरायण का 'ब्रह्मसूत्र' वेदान्त दर्शन के रूप मे विख्यात है। वादरायण का स्थितिकाल चौथी शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। अनेक विद्वानों ने कृष्णद्वैपायन को ही वादरायण मान लिया है। बारह उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र को 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से जाना जाता है। प्रस्थानत्रयी मूल वेदान्त है। शंकराचार्य (788-820 ई.) तथा रामानुजाचार्य (1037-1137 ई.) ने वेदान्त को क्रमशः अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद के रूप मे विकसित किया। वेदान्त दर्शन में ब्रह्मविद्या का सर्वाधिक तर्कपूर्ण विवेचन मिलता है।

नास्तिक दर्शनो मे चार्वाक दर्शन सर्वाधिक प्राचीन है। चार्वाक दर्शन के आदि विचारक आचार्य वृहस्पति हुए हैं। आचार्य वृहस्पति का समय 600 ई पू. तो मानना ही पड़ता है। भौतिक रस-चार्वाक को महत्त्व देने के कारण भौतिकवादी दार्शनिकों को चार्वाक नाम दिया गया। चार्वाक दर्शन का एक नाम 'लोकायत' भी है। चार्वाक दर्शन में 'खाओ पीओ मौज करो' सिद्धान्त की अनुपालना हुई है।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में गौतम बुद्ध ने बौद्ध दर्शन का सूत्रपात किया। उनके अनुयायियों द्वारा लिखित 'धम्मपद' बौद्ध दर्शन का महान् ग्रन्थ है। बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय हैं—1. वैभाषिक, 2. सौत्रान्तिक, 3. योगाचार तथा 4. शून्यवाद या माध्यमिक। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे आचार्य वसुमित्र ने 'अभिधर्मकोश' नामक ग्रन्थ की रचना की। छठी शताब्दी मे योगाचारवादी आचार्य दिङ्नाग हुए। आप बौद्ध न्याय के जनक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। दूसरी शताब्दी में नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' लिखकर शून्यवाद की प्रतिष्ठापना की। बौद्ध दर्शन के अन्य आचार्यों में आचार्य धर्मकीर्ति, आचार्य असंग, आचार्य स्थिरमति प्रभृति उल्लेखनीय हैं। बौद्ध दर्शन क्षणिकवाद तथा दुःखवाद को लेकर विकसित हुआ है।

महावीर स्वामी ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व में जैन दर्शन का प्रवर्तन किया। इस दर्शन का विकसित करने वाले आचार्यों में स्वयंभु तथा उमास्वामि का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। स्वयंभु का 'पउमचरिउ' अथवा 'पद्मचरित' नामक ग्रन्थ आठवीं शताब्दी की देन है। जैन दर्शन के आगमिक ग्रन्थों के रूप में 'आचारांगसूत्र,' 'सूत्रकृतांग' तथा 'दृष्टिवाद' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। जैन दर्शन ने जीवात्मा को स्वीकार करके कैवल्य का स्वरूप स्पष्ट किया है।

प्राचीन भारत का दर्शन विश्व दर्शन के क्षेत्र में अद्वितीय माना गया है। भारतीय दार्शनिक साहित्य का विकास भौतिकवादी तथा आध्यात्मवादी, ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी, वेदवादी एवं वेद विरोधवादी रूपों में हुआ।

धर्मशास्त्र—धर्म के दश लक्षण माने गए हैं तथा उनसे सम्बद्ध धर्माज्ञा का वर्णनकर्त्ता शास्त्र धर्मशास्त्र के नाम से जाना जाता है। अब स्मृति-ग्रन्थों को ही धर्मशास्त्र के रूप में माना जाता है। अठारह स्मृतियों का क्रम इस प्रकार है—1. मनुस्मृति, 2. याज्ञवल्क्य स्मृति, 3. अत्रि स्मृति, 4. विष्णु स्मृति, 5. हारीत स्मृति, 6. उशनस् स्मृति, 7. अंगिरा स्मृति, 8. यम स्मृति, 9. कात्यायन स्मृति, 10. वृहस्पति स्मृति, 11. पराशर स्मृति, 12. व्यास स्मृति. 13. दक्ष स्मृति,

14. गौतम स्मृति, 15. वशिष्ठ स्मृति, 16. नारद स्मृति 17. भृगु स्मृति तथा 18. आपस्तम्ब स्मृति। स्मृति ग्रन्थों के नाम पुरातन ऋषि-परम्परा के आधार पर निश्चित हुए हैं। स्मृति ग्रन्थों का निर्माण-काल दो सौ वर्ष ईसा पूर्व से लेकर कम से कम चौथी शताब्दी तक माना जाता है। धर्मशास्त्र में धर्म के विविध लक्षणों तथा रहस्यों का सरल एवं स्पष्ट वर्णन हुआ है।

अर्थशास्त्र—अर्थ या धन पर शासन-व्यवस्था को केन्द्रित करने वाले राजनीतिशास्त्र को ही अर्थशास्त्र नाम दिया गया है। वैदिक काल में शंकर ने 'वैशालाक्ष' नामक अर्थशास्त्र की रचना की। महाभारत का अनुशासन पर्व एक सुव्यवस्थित अर्थशास्त्र ही है। 325 ई. पू में विष्णु गुप्त या कौटिल्य ने 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' की रचना की। कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु था। उसे चाणक्य नाम से भी जाना जाता है। दशम् शताब्दी में आचार्य सोमदेव ने 'नीतिवाक्यामृत' नामक ग्रन्थ की रचना की। एकादश शती में धारा नरेश भोज ने 'मुक्तिकल्पतरु' तथा चण्डेश्वर ने 'नीतिरत्नाकर' तथा 'नीतिप्रकाशिका' नामक ग्रन्थों की रचना की। द्वादश शती में आचार्य हेमचन्द्र ने 'लघ्वर्हन्नीति' नामक अर्थशास्त्रीय कृति प्रस्तुत की।

अलंकार शास्त्र—काव्य शास्त्र या साहित्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र कहा गया है। प्राचीन भारत के अलंकार शास्त्र में छः सम्प्रदाय प्रसिद्ध रहे हैं—1. रस सम्प्रदाय, 2. ध्वनि-सम्प्रदाय, 3. अलंकार-सम्प्रदाय, 4. रीति-सम्प्रदाय, 5. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय तथा 6. औचित्य सम्प्रदाय।

आचार्य भरत ने दूसरी शताब्दी में 'भरत नाट्य शास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना करके रस-सम्प्रदाय का सूत्रपात किया। रस-सम्प्रदाय के प्रामाणिक विचारकों में दशम शताब्दी में आविर्भूत आचार्य अभिनवगुप्त का नाम चिरस्मरणीय है। आचार्य अभिनव ने 'अभिनवभारती' नामक रस-सिद्धान्तपरक ग्रन्थ की रचना की। दशम शताब्दी में ही आचार्य धनञ्जय के 'दशरूपक' ग्रन्थ का प्रणयन हुआ। एकादश शताब्दी में आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' लिखा। बारहवीं शताब्दी में आचार्य रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना की। 14वीं शताब्दी में आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' नामक रसवादी लक्षण ग्रन्थ को प्रणीत किया। सत्रहवीं शती में आचार्य जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' नामक ग्रन्थ लिखा। रस ग्यारह माने गए हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत, शान्त, भक्ति तथा वात्सल्य। रसवादी अलंकार शास्त्र में रस को काव्य की आत्मा माना गया है।

नवम् शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ की रचना करके ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। दशम् शताब्दी में आचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन' अथवा 'ध्वन्यालोकलोचन' नामक ग्रन्थ लिखकर ध्वनि-सम्प्रदाय को विकसित किया। ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य मम्मट ने ध्वनिविरोधी आचार्यों के मतों का खण्डन करने के लिए ध्वनिवादी ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' की रचना

की। 14वीं शताब्दी में कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में तथा सत्रहवीं शताब्दी में आचार्य जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में ध्वनि-तत्त्व पर प्रकाश डाला। ध्वनिवादियों ने ध्वनि-संख्या का विस्तार 10 हजार 455 ध्वनि-भेदों के रूप में किया है।

छठी शताब्दी में आचार्य भामह ने 'काव्यलंकार' नामक अलंकारवादी ग्रन्थ की रचना की। सातवीं शती के प्रारम्भ में आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' नामक ग्रन्थ प्रणीत किया। आठवीं शताब्दी में आचार्य उद्भट 'काव्यालंकार सारसंग्रह' ग्रन्थ अलंकारों के वैज्ञानिक विवेचन की दिशा को आविर्भूत करने वाला सिद्ध हुआ। आचार्य रुद्रट ने नवम् शती में अनेक नवीन अलंकारों की उद्भावना के सूचक 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ प्रणीत किया। 11वीं शताब्दी में अग्निपुराण नामक ग्रन्थ का प्रणयन हुआ। वारहवीं शताब्दी में आचार्य रुय्यक ने 'अलंकार सर्वस्व' नामक अभूतपूर्व अलंकारवादी ग्रन्थ लिखा। तेरहवीं शताब्दी में आचार्य जयदेव ने 'चन्द्रलोक' की रचना की। सत्रहवीं शताब्दी में आचार्य अप्पयदीक्षित ने 'कुवलायानन्द' नामक ग्रन्थ लिखा। अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा माना है तथा अलंकारों के स्वरूप को अत्यन्त विस्तृत कर दिया है। अलंकार शास्त्र के सभी आचार्यों ने अलंकारों का विवेचन किया है।

अष्टम शताब्दी में आचार्य वामन ने रीति-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यलंकार सूत्र' है। रीति-तत्त्व का विवेचन अलंकारवादी आचार्य दण्डी ने भी किया है। वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली रीतियों को आचार्य कुन्तक (11वीं शताब्दी) ने सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग तथा मध्यममार्ग का रूप देकर रीति तत्त्व को नया रूप प्रदान किया। 11वीं शताब्दी में आचार्य भोजराज ने 'शृंगारप्रकाश' तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक ग्रन्थों की रचना की। सरस्वतीकण्ठाभरण' में रीति-तत्त्व पर प्रकाश डाला गया है 'रीति' पद-रचना का नाम है। रीति-सम्प्रदाय में रीति को काव्य की आत्मा माना गया है।

दशम शताब्दी में कुन्तकाचार्य ने 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक ग्रन्थ लिखकर वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध करके अलंकार शास्त्र को एक अनोखी देन दी। कुन्तक से पूर्व छठी शताब्दी में आचार्य भामह ने वक्रोक्ति के महत्त्व पर प्रकाश डाला। अष्टम शताब्दी में आचार्य वामन ने वक्रोक्ति के विषय में विचार किया था। दशम शताब्दी में आचार्य अभिनव गुप्त ने वक्रोक्ति-तत्त्व की मीमांसा की। कुन्तक के पश्चात् 'वक्रोक्ति' केवल एक शब्दालंकार के रूप में शेष रही।

एकादश शती के उत्तरार्द्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' नामक ग्रन्थ लिखकर औचित्य-सम्प्रदाय को प्रवर्तित किया। आचार्य भरत ने दूसरी शताब्दी में औचित्य-तत्त्व पर विचार किया था। नवम शताब्दी में आचार्य आनन्दवर्धन ने रस के परिपाक के लिए औचित्य-तत्त्व का महत्त्व प्रतिपादित किया

था। काव्य के दोषों के परिहार के रूप में औचित्य-तत्त्व की चर्चा प्रायः सभी आचार्यों ने की है।

वैज्ञानिक साहित्य– क्रमबद्ध ज्ञान के साहित्य को वैज्ञानिक साहित्य कहा गया है। 500 ई. पू. से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक वैज्ञानिक साहित्य का प्रणयन होता रहा। परन्तु आजकल रत्नपरीक्षा, वास्तुविद्या, अश्वशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र आदि वैज्ञानिक साहित्य या तो उल्लेख के रूप में अथवा अर्वाचीन रूप में प्राप्त होता है। 11वीं शताब्दी के ग्रन्थ 'अग्निपुराण' मे तथा अनेक पुराणों में वैज्ञानिक साहित्य के संकेत भरे पड़े हैं।

आयुर्वेद—आयुर्वेद का श्रीगणेश अथर्ववेद के 'अथर्वन्' भाग से होता है। वैदिक काल में आचार्य धन्वन्तरि के गुरु भास्कर ने आयुर्वेद-संहिता' की रचना की। आचार्य धन्वन्तरि ने 'चिकित्सा रसायन शास्त्र' लिखकर आयुर्वेद को प्रतिष्ठित रूप प्रदान किया। च्यवन ऋषि ने 'जीवदान' नामक आयुर्वेदिक ग्रन्थ लिखा। ये सभी आचार्य छठी शताब्दी ई. पू. से पूर्व के हैं। प्रथम शताब्दी में चरक-सम्प्रदाय के 'चरक' नामधारी आचार्य ने 'चरक-संहिता' की रचना की। चौथी शताब्दी में आचार्य नागार्जुन के 'रसरत्नाकर', 'आरोग्यमंजरी', 'रसकच्छपुट' जैसे आयुर्वेदिक ग्रन्थों ने आयुर्वेद को एक सर्वथा नवीन रूप दे डाला। वैदिक तथा पौराणिक काल में आयुर्वेद के शंकर, नारद. भरद्वाज, सुश्रुत आदि आचार्य हुए हैं, जिनका उल्लेख 'चरक-संहिता' नामक ग्रन्थ में किया गया है। ग्यारहवीं शताब्दी में वैद्यक शास्त्र के कोश के रूप में सुरेश्वर का 'शब्द-प्रदीप' सामने आया। तेरहवीं शताब्दी में आचार्य नरहरि ने राजनिघण्टु' नामक शब्दकोश का प्रणयन किया। आयुर्वेद के क्षेत्र में 'अश्वशास्त्र', 'गजशास्त्र' आदि पशु-चिकित्सा से सम्बन्धित ग्रन्थ सम्मान्य रहे हैं।

ज्योतिष—नक्षत्र-ग्रह विद्या का नाम ज्योतिष है। चारों वेदों में ज्योतिष-तत्त्व विद्यमान है। आचार्य लगभ ने 500 ई. पू. में 'वेदांग ज्योतिष' नाम से पहले प्रामाणिक ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की। 300 ई. पू. जैन ज्योतिष के क्षेत्र में 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' तथा 'ज्योतिषकरण्डक' नामक ग्रन्थों की रचना हुई। पाँचवीं शताब्दी में आचार्य आर्यभट्ट ने 'आर्यभट्टीय' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। आचार्य कल्याण ने छठी शताब्दी में ज्योतिष के 'सारावली' ग्रन्थ को लिखकर मध्ययुगीन ज्योतिष साहित्य का सूत्रपात किया। आचार्य वराहमिहिर ने 'बृहज्जातक' नामक ग्रन्थ की रचना पाँचवीं शताब्दी में की थी। इस दृष्टि से वराहमिहिर कल्याणवर्मा के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। ब्रह्मगुप्त का 'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त' छठी शताब्दी की ज्योतिष कृति है। बारहवीं शताब्दी में भास्कराचार्य ने 'सिद्धान्त शिरोमणि' ग्रन्थ लिखकर आयुर्वेद को विश्वव्यापी बना दिया। 13वीं शताब्दी में पद्मप्रभुसूरि ने 'भुवनदीपक' नामक ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की। सोलहवीं शताब्दी में आचार्य रंगनाथ ने 'गूढार्थप्रकाशिका' तथा नारायण पण्डित ने 'मुहूर्तमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ प्रणीत किया। 17वीं शताब्दी में आचार्य कमलाकर ने 'सिद्धान्त विवेक' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। 1731 ई. में पण्डितराज जगन्नाथ नें 'सिद्धान्त सम्राट' नामक ज्योतिषीय

ग्रन्थ की रचना की। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लोकमान्य तिलक तथा डॉ. गोरखप्रसाद जैसे विद्वानों के प्रयासों से भारतीय ज्योतिष को आधुनिक रूप मिला तथा भारतीय ज्योतिष साहित्य को समूचे विश्व में सम्मान मिला है।

तन्त्र साहित्य—ज्ञान विस्तार तथा विघ्न-विनाशक विद्या को 'तन्त्र' के रूप में जाना जाता है। तन्त्र का श्रीगणेश अथर्ववेद से होता है। पौराणिक काल में 'वराहीतन्त्र' की रचना हुई। पाँचवीं शताब्दी में आचार्य आर्यभट्ट ने 'तन्त्रग्रन्थ' की रचना की। तन्त्रग्रन्थों में 'रुद्रयामल तन्त्र' महत्त्वपूर्ण है। दशम शताब्दी में आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रवार्तिक' नामक ग्रन्थ प्रणीत किया। तन्त्र साहित्य मुख्यतः शैवागम से सम्बद्ध है।

गणित-साहित्य—गणित-साहित्य का प्रामाणिक श्रीगणेश 500 ई. पू. में आचार्य लगध के 'वेदांगज्योतिष' नामक ग्रन्थ से होता है। प्रारम्भ में गणित ज्योतिष का ही एक अंग था। वेद, ब्राह्मण, रामायण तथा महाभारत में गणित की बहुत कुछ जानकारी के संकेत प्राप्त होते हैं। पाँचवीं शताब्दी में आचार्य आर्यभट्ट ने 'आर्यष्टशत' नामक गणितग्रन्थ की रचना की। नवीं शताब्दी में आचार्य महावीर ने 'गणितसार संग्रह' नामक गणितीय कृति प्रस्तुत की। 11वीं शताब्दी में आचार्य भास्कर ने 'लीलावती' नामक गणित ग्रन्थ लिखा। प्राचीन भारत के वैदिक काल में गणित का पर्याप्त विकास था, ऐसे संकेत पुराणों में मिलते हैं।

गान्धर्वशास्त्र—नृत्य एवं संगीत शास्त्र को गान्धर्ववेद के नाम से जाना जाता है। दूसरी शताब्दी में आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की। किन्हीं वृद्ध भरत का 'नाट्यवेदागम' एक गान्धर्वशास्त्रीय ग्रन्थ है। नन्दिकेश्वर ने 'भरतार्णव ग्रन्थ लिखा। 'नाट्यार्णव' ग्रन्थ 'भरतार्णव' का ही अंश माना जाता है। 12वीं शताब्दी में शार्ङ्गदेव ने 'संगीत रत्नाकर' नामक महत्त्वपूर्ण गान्धर्वशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। 17वीं शताब्दी में आचार्य सोमनाथ ने 'संगीतदर्पण' नामक ग्रन्थ लिखा।

व्याकरणशास्त्र—वैदिक युग के प्रातिशाख्य ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' व्याकरण का प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ है। पाणिनि का स्थिति काल 500 ई. पू. माना जाता है। 300 ई. पू. में आचार्य कात्यायन ने अष्टाध्यायी से सम्बद्ध वार्तिक लिखा। ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी में पतंजलि ने 'महाभाष्य' नामक व्याकरणिक ग्रन्थ की रचना की। सातवीं शताब्दी में आचार्य भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' नामक व्याकरणिक ग्रन्थ लिखा। बारहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने 'शब्दानुशासन' नामक ग्रन्थ लिखा। 17वीं शताब्दी में आचार्य वरदराज ने 'सिद्धान्त कौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना की। आज सिद्धान्त कौमुदी सर्वाधिक प्रचलित व्याकरणिक ग्रन्थ है। 17वीं शताब्दी में आचार्य मार्कण्डेय ने 'प्राकृतसर्वस्व' तथा रामतर्क वागीश ने 'प्राकृत कल्पतरु नामक प्राकृत व्याकरण के ग्रन्थों का प्रणयन किया।

साहित्यिक विधाओं के ग्रन्थ

संस्कृत साहित्य महाकाव्य, गीति काव्य, चम्पू काव्य, ऐतिहासिक काव्य, नाटक, गद्य साहित्य तथा आख्यान साहित्य के रूप में भी विशेषतः विकसित हुआ। प्राचीन भारत में अनेक राजाओं ने साहित्य-सृजन को प्रोत्साहन दिया। प्राचीन भारत के साहित्यिक विधा परक साहित्य का पर्याप्त विस्तार है, जिसे यहाँ संक्षिप्ततः प्रस्तुत किया जा रहा।

महाकाव्य—सर्गबद्ध विशद काव्य को महाकाव्य कहा जाता है। प्रथम शताब्दी में अश्वघोष ने 'बुद्धिचरित्र' तथा 'सौन्दरानन्द' नामक महाकाव्यों की रचना की। चौथी शताब्दी में कालिदास ने 'रघुवंश' तथा 'कुमारसम्भव' नामक सुप्रसिद्ध महाकाव्यों का प्रणयन किया। सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भारवि ने 'किरातार्जुनीय' नामक महाकाव्य लिखा। भट्टि का 'रावण वध' भी सातवीं शती में रचा गया। कुमारदास का 'जानकीहरण' महाकाव्य प्रख्यात है। कुमारदास भट्टि के समकालीन थे। माघ ने आठवीं शती के प्रारम्भ में 'शिशुपालवधम्' नामक महाकाव्य की रचना। रत्नाकर ने नवम् शताब्दी में 'हरविजय' नामक महाकाव्य प्रणीत किया। 11वीं शताब्दी में आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'दशावतार चरित्र' नामक पौराणिक महाकाव्य की रचना की। श्रीहर्ष का 'नैषध चरित' बारहवीं शताब्दी की देन है। कनिष्क, विक्रमादित्य तथा विजयपाल जैसे राजाओं ने महाकाव्यों का विकास कराने में पर्याप्त योगदान दिया।

गीतिकाव्य—हृदय की निर्बन्ध अभिव्यक्ति काव्य के क्षेत्र में गीतिकाव्य कहलाती है। पूर्वापर प्रसंगमुक्ति ही गीतिकाव्य का आधार है। चौथी शताब्दी में कालिदास ने 'ऋतुसंहार' 'मेघदूत' तथा 'शृंगारशतक' नामक गीति काव्यों की रचना की। चौथी शती में अर्थात् कालिदास के समकालीन 'घटकर्पर' उपाधिमान कवि ने 'घटकर्पर' गीतिकाव्य प्रणीत किया। हाल की 'गाथासप्तशती' एक सुन्दर गीतिकाव्य है। हाल का स्थितिकाल प्रथमशती निर्धारित किया गया है।[1] 7वीं शताब्दी में आचार्य भर्तृहरि ने 'नीतिशतक', 'शृंगारशतक' तथा 'वैराग्यशतक' नामक गीतिकाव्यत्रय की रचना की। आठवीं शताब्दी में आचार्य अमरूक ने 'अमरूकशतक' की रचना की। 11वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'विक्रमांकदेवचरित' महाकाव्य के प्रणेता विल्हण ने 'चौरपंचाशिका' नामक गीतिकाव्य लिखा। धोयी का 'पवनदूत' बारहवीं शताब्दी की रचना है। बारहवीं शताब्दी में आचार्य गोवर्धन ने 'आर्या सप्तशती' नामक ग्रन्थ लिखा। बारहवीं शताब्दी में ही जयदेव ने 'गीतगोविन्द' नामक भक्तिपरक गीतकाव्य की रचना की। 17वीं शताब्दी में पण्डितराज जगन्नाथ ने छः गीतिकाव्य रचे। इनके गीतिकाव्यों के नाम इस प्रकार हैं—1. 'गंगालहरी', 2. 'सुधालहरी', 3. 'अमृतलहरी', 4. 'करुणालहरी', 5. 'लक्ष्मीलहरी', तथा 6. 'भामिनी विलास'।

1 Indian Review, Dec. 1909.

चम्पूकाव्य— गद्यपद्यमय काव्य को चम्पू काव्य कहते हैं।[1] त्रिविक्रम भट्ट ने 10वीं शती में 'नलचम्पू' की रचना की। दशम शताब्दी में सोमदेव ने 'यशस्तिलकचम्पू' नामक चम्पू काव्य की रचना की। 'यशस्तिलक चम्पू' में अवन्ति के राजा यशोधरा का वर्णन है। दशम शताब्दी के प्रारम्भ में अथवा 970 ई. में हरिश्चन्द्र ने 'जीवनधर चम्पू' की रचना की। 11वीं शताब्दी में धारानरेश भोज ने 'रामायण चम्पू' की स्थापना की। सेड्ढल ने 11वीं शताब्दी में प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के राजा मलयवाहन और नागराज की कन्या उदयसुन्दरी के विवाह को लक्ष्य करके 'उदयसुन्दरी कथा' चम्पू की रचना की। 16वीं शताब्दी में रानी तिरुमलाम्बा ने 'वरदाम्बिका परिणय चम्पू' की रचना की।

ऐतिहासिक काव्य—इतिहास प्रसिद्ध कथा को लेकर लिखे गए काव्य ऐतिहासिक काव्य कहलाते हैं। सातवीं शताब्दी में आचार्य वाणभट्ट ने 'हर्षचरित' नामक ऐतिहासिक काव्य की रचना की। कन्नौज नरेश हर्ष का 'हर्षचरित' में काव्यात्मक वृत्त प्राप्त होता है। आठवीं शताब्दी में वाक्पतिराज ने कन्नौज के राजा यशोवर्मा की विजय से सम्बद्ध गौडवहो' नामक ऐतिहासिक काव्य की रचना की। कश्मीर निवासी विल्हण कवि ने 'विक्रमांकदेवचरित' नामक इतिहास तथ्यपूर्ण काव्य लिखा। विक्रमादित्य चालुक्यवंशी राजा थे। बारहवीं शताब्दी में कल्हण ने 'राजतरंगिणी' की रचना की। राजतरंगिणी' में आदिकाल से लेकर 1151 ई. तक के कश्मीर नरेशों के राज्य का वर्णन किया था। 12वीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने 'कुमारपालचरित' नामक काव्य की रचना की। दिल्ली सम्राट पृथ्वीराज के आश्रय में जयानक कवि ने 'पृथ्वीराजचरित' नामक काव्य प्रणीत किया। इन ऐतिहासिक काव्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य इतिहासपरक काव्य भी प्रणीत किये गये।

नाटक—दृश्य काव्य की विशद विधा को नाटक कहा जाता है। संस्कृत साहित्य में सबसे पहले नाटककार के रूप में भास का नाम उल्लेखनीय है। भास ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में उत्पन्न हुए। उन्होंने रामायण तथा महाभारत को आधार बनाकर अनेक प्रकार के नाटकों की रचना की। उनके प्रसिद्ध नाटक 'अभिषेक,' 'प्रतिमा,' 'बालचरित', 'चारुदत्त', 'स्वप्नवासवदत्ता', 'दूतवाक्य', 'कर्णभार', 'दूतघटोत्कच', 'उरुभंग', 'मध्यम व्यायोग', 'पंचरात्र', इत्यादि हैं। तृतीय शताब्दी ई. पू. में शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' नामक प्रकरण की रचना की। प्रथम शताब्दी में अश्वघोष ने 'शारिपुत्र प्रकरण' लिखा। चौथी शताब्दी में कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्रम्', 'विक्रमोर्वशीयम्' तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तलम' नामक तीन नाटकों की रचना की। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटकों की गणना में आता है। पांचवीं शताब्दी में विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक प्रणीत किया। सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कन्नौज नरेश हर्ष ने 'प्रियदर्शिका',

1 साहित्य दर्पण, 6/336—'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।'

'रत्नावली', तथा 'नागानन्द' नामक नाटकत्रय की रचना की। महाकवि भवभूति ने 'मालती माधव', 'महावीर चरित' तथा 'उत्तररामचरित' नामक नाटकों की रचना की। 'उत्तर-रामचरित' भवभूति की कीर्ति का केन्द्र सिद्ध हुआ है। सातवीं शताब्दी में नारायणभट्ट का 'वेणीसंहार' नाटक भी प्रसिद्ध हुआ। आठवीं शताब्दी में मुरारि ने 'अनर्घराघव' नाटक की रचना की। नवम् शताब्दी में अनंगहर्ष का 'तापसवत्सराज-चरित' नामक नाटक प्रणीत हुआ। नवीं शताब्दी में दामोदरमिश्र ने 'हनुमन्नाटक' की रचना की। दशम् शताब्दी में राजशेखर ने 'बालरामायण' तथा 'कर्पूरमंजरी' नामक नाटकों की रचना की। दशम् शताब्दी में ही क्षेमीश्वर का 'चण्डकौशिक' नाटक रचा गया। संस्कृत के नाटकों में निम्नवर्ग के पात्रों की भाषा प्राकृत रही है।

गद्य-साहित्य—वैदिक युगीन गद्य के उपरान्त नाटकों मे गद्य को स्थान मिला। परन्तु गद्य-साहित्य के विकास का श्रेय दण्डी, सुबन्धु, बाण जैसे गद्य-साहित्यकारों को है। छठी शताब्दी में दण्डी ने 'दशकुमारचरित' ग्रन्थ की रचना की। छठी शताब्दी में ही सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' नामक गद्य-साहित्य की अनुपम कृति प्रस्तुत की। सातवीं शताब्दी में बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' नामक कथा साहित्य की रचना की। उक्त तीनों ही गद्यकारों ने अपनी कृतियों को काव्य-तत्त्व से सुसज्जित किया है।

आख्यान-साहित्य—नीतिकथापरक तथा लोककथापरक साहित्य को 'आख्यान-साहित्य' कहा जाता है। नीतिकथापरक ग्रन्थों में विष्णु शर्मा का 'पंचतन्त्र' 300 ई. के आस-पास लिखा गया। 'पंचतन्त्र' एक रोचक तथा सुप्रसिद्ध कथाग्रन्थ है। 14वीं शताब्दी मे नारायण पण्डित ने 'हितोपदेश' नीतिकथा की रचना की। आठवीं शताब्दी में नेपाल के बुद्धिस्वामी ने 'बृहत्कथा' नामक लोककथा की रचना की। 11वीं शताब्दी में क्षेमेन्द्र ने 'बृहत्कथामंजरी' नामक आख्यान लिखा। ग्यारहवीं शताब्दी में सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' नामक सुप्रसिद्ध लोककथासाहित्य लिखा। बारहवीं शताब्दी में शिवदास ने 'वेतालपंचविंशतिका' नामक आख्यान-साहित्य प्रस्तुत किया। इसमें न्यायप्रिय विक्रमादित्य की 25 कहानियाँ संग्रहीत हैं। बारहवीं शताब्दी में ही 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका' आख्यान ग्रन्थ लिखा गया। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य आख्यान ग्रन्थों की रचना हुई।

सांस्कृतिक इतिहास

प्राचीन भारत में संस्कृति के विभिन्न रूप विकसित हुए। विभिन्न परिस्थितियों में विकसित होने वाले सांस्कृतिक प्रतिमानों को ही सांस्कृतिक इतिहास का आधार माना जाता है। विभिन्न जातियों तथा विभिन्न विचारधाराओं के टकराव एवं समन्वय के फलस्वरूप संस्कृति का इतिहास अग्रसर होता है। प्राचीन भारत वैदिक युग से पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु यहाँ वैदिक संस्कृति से ही सांस्कृतिक इतिहास का निर्देश करना हमारा प्रयोजन है। फिर भी इतना तो कहना ही होगा कि वैदिक संस्कृति पर प्राग्वैदिक संस्कृति के निवृत्तिमार्ग का स्पष्ट प्रभाव है।

ऋग्वैदिक संस्कृति—ऋग्वैदिक संस्कृति 3000 ईसा पूर्व से प्रचलित हुई।

उस युग की संस्कृति को जानने का प्रमुख आधार ऋग्वेद है। ऋग्वैदिक संस्कृति में यज्ञ-सम्पादन की प्रधानता रही। ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टाओं ने इन्द्र, वरुण, रुद्र, विष्णु, सूर्य या सविता, अग्नि, पर्जन्य आदि देवताओं के स्तवन का प्रमुख आधार यज्ञ ही माना। यज्ञ को विस्तृत अर्थ में ग्रहण करके समस्त सृष्टि की रचना का कारण यज्ञ ही बताया गया।[1] ऋग्वैदिक दार्शनिक अनुचिन्तन उस युग की संस्कृति की महानता का द्योतक है। ऋग्वैदिक संस्कृति में अद्वैतवाद, बहुदेववाद तथा एकेश्वरवाद जैसी परिष्कृत विचारधाराएँ विद्यमान हैं। ऋग्वेद का धार्मिक जीवन नैतिक मूल्यों से परिपूर्ण है। द्यूत-क्रीड़ा को घोर पाप सिद्ध किया गया। विभूतियों या सम्मान्य व्यक्तियों के सम्मान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

ऋग्वैदिक समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों के अतिरिक्त एक अन्त्य या दास वर्ण भी था। तद्युग में ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ नामक आश्रमों को पर्याप्त सम्मान मिला। वानप्रस्थ तथा संन्यास नामक आश्रमों को मान्यता नहीं मिली थी। ऋग्वैदिक युग में स्त्रियों को पर्याप्त सम्मान मिला। गृहिणी घर की स्वामिनी हो जाती थी। स्त्रियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने तथा स्वतन्त्रतः पति-वरण करने की सुविधाएँ या अधिकार मिले हुए थे। ऋग्वैदिक काल में सात्विक भोजन को महत्त्व दिया गया, परन्तु भोजन में माँस को भी स्थान दिया गया। सोमरस आर्यों का प्रिय पेय था। उस युग के व्यक्ति सूती वस्त्रों से परिचित थे तथा मृगचर्म एवं वल्कल वस्त्रों को पहनने की प्रथा प्रचलित थी। ऋग्वैदिक काल की स्त्रियाँ रुक्म तथा निष्क नामक आभूषणों को धारण करती थीं। आमोद-प्रमोद की दृष्टि से दुन्दुभि तथा कर्करी वाण जैसे वाद्य प्रचलित थे। तत्कालीन समाज में राज-व्यवस्था का भी अस्तित्व था। उस युग में राष्ट्रीयता की भावना भी विकसित हो चुकी थी। तत्कालीन समाज में कृषि, पशु पालन आदि कार्यों के साथ-साथ वस्त्र बनाना, चमड़े का सामान तैयार करना, स्वर्णाभूषण बनाना आदि धन्धे भी प्रचलित थे। ऋग्वैदिक समाज चिकित्सा की विशेष सुविधाओं से लाभान्वित था। भौगोलिक ज्ञान की दृष्टि से उसे नदियों, पर्वतों तथा समुद्रों का ज्ञान था। ज्योतिष के क्षेत्र में भी तत्कालीन समाज आगे बढ़ा हुआ था। उस युग की काव्य-कला का उत्कर्ष तो इस रूप में देखा जा सकता है कि 'पुरुष' या चैतन्य तत्त्व को सम्पूर्ण समाज के रूप में मानवीकृत किया गया।

अज्ञात तथा रहस्यमय शक्ति के प्रति ऋग्वैदिक ऋषियों की जिज्ञासापूर्ण धारणा यह सिद्ध कर देती है कि तत्कालीन समाज कोई आखेट युग नहीं था। वह युग हजारों वर्षों की सभ्यता और संस्कृति के विकास को स्पष्टतः सूचित करता है।

उत्तर वैदिक संस्कृति—ऋग्वेद के पश्चात् यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण व आरण्यक ग्रन्थ तथा उपनिषदों एवं सूत्रग्रन्थों की रचना हुई। तीन सहस्र ई.पू से लेकर 1000 ई. पू. तक का काल उत्तर वैदिक संस्कृति से जोड़ा जाता

1 ऋग्वेद, 10/90/1—16

है। यदि सूत्र ग्रन्थों का रचना काल 600 ई. पू. तक हुआ तो यह स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक संस्कृति की अपर सीमा 600 ई. पू. तक माननी पड़ेगी।

उत्तर वैदिक संस्कृति में दार्शनिक अनुचिन्तन और भी विकसित हुआ। सम्पूर्ण समाज को गृहस्थ धर्म के रहस्यों से अवगत कराने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों ने अभूतपूर्व कार्य किया। यज्ञ के क्षेत्र को इतना विस्तार दिया गया कि ईश्वर को भी यज्ञ का ही रूप सिद्ध कर दिया गया। यज्ञ के विधि-विधानों का सर्वाधिक विकास सूत्रकाल की देन है।

आरण्यक ग्रन्थों में वानप्रस्थियों के कर्मों का विवेचन करके ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थाश्रम नामक दो आश्रमों के अतिरिक्त वानप्रस्थ आश्रम की संस्थापना कर दी गई। वानप्रस्थ के सन्दर्भ में विचार करते समय यहाँ तक कह दिया गया कि ज्ञान का प्रसार करना वानप्रस्थियों के पर्यटन का मूल विषय है।

उपनिषदों के युग में ब्रह्म चिन्तन चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ईश्वर का ही रूप माना जाने लगा। इस युग में संन्यास आश्रम को भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अतः ऋग्वैदिक युग के पश्चात् चारों आश्रमों को स्थान मिला। उत्तर वैदिक युग में संस्कृति इतनी विकसित हुई कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा साहित्य पर आच्छादित हो गई। पठन-पाठन को इतना महत्त्व दिया गया कि गुरु तथा शिष्य के सम्बन्धों को पवित्र करने के साथ-साथ गुरु को ईश्वरीय ज्ञान का साक्षात् केन्द्र सिद्ध कर दिया। 'अधिकारीवाद' की परम्परा भी इस समय विकसित हो चुकी थी। अमरता की भावना का चरम विकास भी इसी युग की देन है।

उत्तर वैदिक युग में देवताओं के स्वरूप में भी विकास हुआ। विष्णु को सूर्य देवता का रूप न मानकर एक स्वतन्त्र देव माना जाने लगा तथा रुद्र को शिव का साक्षात् स्वरूप स्वीकार किया जाने लगा। उत्तर वैदिक युग में वैवाहिक स्थिति भी परिवर्तित हुई। बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। महर्षि याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी तथा कात्यायनी नामक दो पत्नियाँ थीं। मनु की अनेक पत्नियाँ थीं। उत्तर वैदिक संस्कृति में शिक्षा की दृष्टि से कुछ उदारता अपनाई गई। वेद पढ़ने के अधिकारी शूद्र भी माने गए तथा स्त्रियाँ भी। गाय को अवध्य माना गया तथा अहिंसा पर बल दिया गया। उत्तर वैदिक संस्कृति में जहाँ एक ओर कर्मकाण्ड का बोलबाला हुआ, वहाँ दूसरी ओर आध्यात्म-चिन्तन भी विकसित हुआ।

वैदिक युगोत्तर संस्कृति—उत्तर वैदिक साहित्य का युग कम से कम 600 ई. पू. तक चलता रहा। उसी समय रामायण नामक महाकाव्य का भी उदय हुआ। सूत्र ग्रन्थों में महाभारत का उल्लेख है, अतः 'जय' काव्य के रूप में ही नहीं, अपितु महाभारत के रूप में भी 'महाभारत' नामक पौराणिक महाकाव्य 400 ई. पू. में ही उदित हो चुका था। पुराणों का प्राथमिक रूप भी उत्तर वैदिक युग में ही उदित हो गया था। अतः वैदिक युगोत्तर संस्कृति का एक पक्ष महाकाव्यकालीन तथा प्रथम पौराणिक युगीन संस्कृति के रूप में है। वैदिक युगोत्तर संस्कृति में ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ही बौद्ध तथा जैन संस्कृतियों का भी उदय हुआ। इसलिए

वैदिक युगोत्तर संस्कृति दो रूपों में विकसित हुई। प्रथम को महाकाव्य तथा पैराणिक संस्कृति के रूप में तथा द्वितीय को बौद्ध तथा जैन संस्कृति के रूप में जाना जाता है। उक्त दोनों संस्कृति-भेदों का मूल रूप ईसा पूर्व 600 से लेकर ईसा पूर्व 400 तक स्वीकार किया जाता है।

महाकाव्यकालीन एवं पौराणिक युगीन संस्कृति—रामायण तथा महाभारत नामक पौराणिक महाकाव्य क्रमशः 600 ईसा पूर्व तथा 400 ईसा पूर्व तक वृहदाकारता को प्राप्त कर चुके थे। इसी अवधि में पुराणों का भी विकास होने लगा था। तत्कालीन समाज का सांस्कृतिक इतिहास विभिन्न रूपों में विकसित हुआ, जिसे यहाँ संक्षिप्ततः प्रस्तुत किया जा रहा है।

रामायण काल में वैदिक संस्कृति के विकास के लिए एक सुदृढ़ राजनीतिक व्यवस्था की गई। केन्द्रीय शक्ति के निर्माण के लिए राजसूय तथा अश्वमेघ यज्ञ किए जाते थे। आर्य तथा राक्षस संस्कृति के टकराव के कारण केन्द्रीय शक्ति के निर्माण की महती आवश्यकता पर वल दिया गया। कर्म, भक्ति तथा ज्ञान मार्ग तीनों ही प्रधानता पा चुके थे। अवतारवाद की भावना भी विकसित हो चुकी थी। रामायण काल में आदर्श भ्रातृत्व को पारिवारिक तथा सामाजिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रवल प्रयास किया गया। एक नारी व्रत की प्रथा भी वहु-पत्नी रखने या वहु-विवाह प्रथा के विरोध में आदर्शता प्राप्त कर चुकी थी। राम का सीता के प्रति प्रेम एक पत्नी व्रत का ही उदाहरण है। वर्णाश्रम धर्म को जोरों से लागू रखने का भी समर्थन किया गया। तत्कालीन समाज मे आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक दृष्टियों से भी आदर्शता को प्रधानता दी गई। मूलतः रामायण युगीन संस्कृति का प्राण धर्म था।

महाभारत काल में संस्कृति का प्राण धर्म न रहकर राष्ट्र कर्म वन गया। महाभारतकाल के चरित्र नायक श्री कृष्ण राष्ट्र कर्म की भावना से ओत-प्रोत होकर ही तानाशाही के विरोध में संघर्षरत रहे। राजा लोग वहु-विवाह को राजनीतिक महत्त्व देते रहे। केन्द्रीग शक्ति के निर्माण के लिए राजसूय यज्ञ की परम्परा पूर्ववत् विकसित रही। स्त्रियों के प्रति किंचित् उदार दृष्टिकोण होने पर भी स्त्रियों का शोषण होता रहा। आध्यात्म विद्या प्राप्त करने का अधिकार स्त्रियों तथा शूद्रों को भी था। महाभारत काल में अवतारवाद की भावना प्रवलता प्राप्त करती चली गई। वर्ण-धर्म को सुविस्तृत रूप देने तथा आश्रम-धर्म को अतिशय नियमवद्ध करने का श्रेय भी महाभारत युग को ही है। 400 ईसा पूर्व के महाभारत में नास्तिकता को आडे हाथों लेकर आस्तिकता का पूर्ण समर्थन किया गया।

अठारह पुराणों का मूल रूप 400 ईसा पूर्व में ही वन चुका था। पुराणों में अवतारवाद को इतना प्रवल स्वरूप प्रदान किया गया कि भक्ति मार्ग को कर्म तथा ज्ञान मार्ग की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक एवं लोकप्रिय स्वरूप प्रदान किया गया। वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था का पुरजोर समर्थन किया गया। भक्ति योग को इतना व्यापक वना दिया गया कि ज्ञानमार्गी शंकर तथा कर्मयोगी विष्णु को आदिशक्ति

का स्वरूप देकर शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों का प्रचलन हो गया। पुराण-प्रभावित समाज में संस्कृति को मुख्यतः पुरुष को दृष्टिगत रखकर ही प्रस्तुत किया गया। स्त्री को पराधीन रखने की परम्परा का सूत्रपात पुराण-युग में ही हुआ। पौराणिक युग मे वैदिक युगीन गूढ़ तत्वों का लौकिक धरातल पर इतना विस्तार हुआ कि सम्पूर्ण समाज को कर्मकाण्ड तथा भक्ति-प्रपंच में बांध दिया गया। सांस्कृतिक विकास के लिए राजनीतिक केन्द्रीयकरण तथा आर्थिक उत्थान को अत्यन्त आवश्यक माना गया। राजकुलों में विवाह-प्रथा स्वयंवर पर आधारित रही। पुराणों के वंश्यानुचरित से यह स्पष्ट है कि पुराण-युग में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्गों की ही प्रधानता रही। मूर्ति-पूजा के विकास का श्रेय भी पौराणिक युग को है।

यथार्थतः रामायण तथा महाभारतकाल में जो सांस्कृतिक विकास हुआ, उस पर भी पौराणिक संस्कृति की स्पष्ट छाया अंकित रही। इसीलिए रामायण तथा महाभारत को पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। महाकाव्य युगीन तथा पौराणिक युगीन संस्कृति एक सुदीर्घ परम्परा में विकसित होने के कारण विविध मुखी है। पौराणिक युगीन तथा महाकाव्यकालीन संस्कृति के विकास में काव्यात्मक कल्पनाओं का जो योगदान रहा, उन्हीं के फलस्वरूप ईश्वर के असाधारण रूपों का विकास हुआ।

बौद्ध तथा जैन युगीन संस्कृति—ईसा पूर्व छठी शताब्दी में ब्राह्मणवाद के विरोध में गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी के संरक्षण में क्रमशः बौद्ध तथा जैन नामक अनीश्वरवादी संस्कृतियों का विकास हुआ। ईश्वरवादिता को आधार बनाकर अनेक आडम्बरों का विकास हो चला था तथा जाति-पांति के बन्धन अत्यधिक जटिल बन चुके थे। अतः सिद्धार्थ तथा वर्धमान ने राजघरानों का त्याग करके 'बोधि' एवं 'केवल ज्ञान' को प्राप्त करके क्रमशः बौद्ध तथा जैन संस्कृति एवं धर्म का सूत्रपात किया। तत्कालीन राजाओं के संरक्षण में बौद्ध एवं जैन धर्म पर्याप्त विकसित हुए। ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर 400 ईसा पूर्व तक बौद्ध तथा जैन संस्कृतियां भारतवर्ष में अपने पैर पूरी तरह से जमा चुकी थीं।

बौद्ध संस्कृति के विकास में बौद्ध धर्म के साहित्य का विशिष्ट महत्त्व है। बौद्ध धर्म का प्रतिष्ठित ग्रन्थ 'धम्मपद' बौद्ध संस्कृति के नैतिक मूल्यों को उजागर करने हेतु एक अद्वितीय आधार है। गौतम बुद्ध ने चार आर्य सत्यों को प्रतिपादित किया—1. दुःख है, 2. दुःख का कारण है, 3. दुःख से मुक्ति सम्भव है तथा 4. दुःख से मुक्ति के उपाय हैं। दुःख की सिद्धि के लिए पांच उपादान—विज्ञान, रूप, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार को प्रतिपादित किया गया है। दुःख का मूल तृष्णा को बताया गया। दुःख से मुक्ति की सम्भावना तृष्णा-त्याग के रूप में की गई। चौथे आर्य सत्य को साकार करने के लिए अष्टांगिक योग मार्ग को प्रतिपादित किया गया। अष्टांग योग में सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि को स्थान दिया गया। बौद्ध संस्कृति में जीव को विज्ञान-प्रवृत्तियों का संग्रह बताया गया तथा संसार

को स्वभाव या प्रकृति की रचना। इसी कारण से किसी स्थिर तत्त्व को स्वीकार न करके क्षणिकवाद को महत्त्व देकर दुख, त्याग तथा वैराग्य नामक तत्त्वों को सांस्कृतिक इतिहास में उजागर कर दिया। बौद्ध धर्म व दर्शन में 'निर्वाण' को व्यक्ति की मुक्ति का स्वरूप स्वीकार किया गया। सभी जीवधारियों के प्रति करुणा या सहानुभूति ही बौद्ध संस्कृति की महत्त्वपूर्ण देन है।

जैन संस्कृति छठी शताब्दी ईसा पूर्व से प्रारम्भ होती है। महावीर या वर्धमान तथा अन्य तीर्थंकरों की विचारधारा को 'आचारांग सूत्र' जैसे धर्म ग्रन्थों में प्रस्तुत किया गया है। जैन संस्कृति में बौद्ध संस्कृति की भाँति अनीश्वरवाद को माना गया है। परन्तु जैन दर्शन जीवात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करके कैवल्य की स्थिति में उसकी मुक्ति मानकर भी उसकी समाप्ति को स्वीकार नहीं करता। जैन संस्कृति में जीव को चतुर्दश गुणों से विभूषित बताया गया है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र को 'त्रिरत्न' के नाम से पुकारा गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को 'पंच अणुव्रत' के नाम से अभिहित किया गया है। दिशाओं में मर्यादागत भ्रमण, प्रयोजनहीन या पाप-उत्पादक वस्तुओं का परित्याग तथा भोग्य पदार्थों की मात्रा को सीमित करना नामक तीन व्रतों को 'त्रिगुण व्रत' नाम दिया गया। पौराणिक धर्म लक्षणों के समानान्तर दश धर्म लक्षणों को भी स्वीकार किया गया। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम मार्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम आकिंचन, उत्तम ब्रह्मचर्य तथा उत्तम त्याग नामक दश धर्म-लक्षण हैं। अहिंसा को प्रबलतम रूप में प्रस्तुत करना जैन संस्कृति की विश्व को महानतम देन है।

बौद्ध तथा जैन संस्कृति कर्मकाण्ड का विरोध करने के लिए विकसित हुई। जाति-पाँति के भेदभाव को दूर करने के लिए सम्पूर्ण मानव समाज को मानव-जाति का ही प्रसार बताया गया। रहस्यपूर्ण ईश्वर जैसे तत्त्व का निषेध करके प्रत्यक्ष सम्यक् कर्मवादी दृष्टिकोण का प्रसार करके भारतीय संस्कृति में एक नया अध्याय जोड़ा गया।

भारत का औपनिवेशिक एवं सांस्कृतिक विस्तार—भारतवर्ष को जो राजनीतिक शक्तियाँ भारत से बाहर शासन स्थापित कर सकीं तथा अपनी शाखा विशेषों को बाहर ही राज्य करने दिया, उसी स्थिति एवं प्रवृत्ति को 'उपनिवेशवाद' कहा गया। प्रकृति प्रेमी तथा पर्यटन प्रिय आर्यों को अपनी संस्कृति का प्रसार करने का राजनीतिक महत्त्व भी जान पड़ा। इसलिए वैदिक युग में जहाँ तक पृथ्वी तथा द्युलोक का विस्तार है, वहीं तक सभी प्राणियों के हित की कामना की गई। इसी सांस्कृतिक उदारता ने अनुकूल परिस्थिति पाकर भारतीय संस्कृति को विश्व-व्यापक बना दिया।

ऋग्वैदिक संस्कृति देव, आर्य तथा आर्येत्तर जातियों की संस्कृति का समन्वित रूप है। निरन्तर संघर्षरत रहने वाले आर्यों ने विरक्ति का अनुभव किया तथा उत्तर वैदिक युग से सम्पूर्ण विश्व के वातावरण को शान्तिपूर्ण देखने की कामना

की ।[1] संस्कृति के प्रचार-प्रसार की प्रवृत्ति वैदिक युग से ही विकसित थी, इसलिए वैदिक संस्कृति का सर्वाधिक विकास हुआ। प्रचार की इसी प्रवृत्ति को बौद्धों तथा जैनों ने भी अपनाया।

लंका में बौद्ध संस्कृति को प्रचारित करने का सर्वाधिक श्रेय तीसरी शताब्दी ई.पू. में सम्राट् अशोक के पुत्र महेन्द्र तथा उसकी पुत्री संघमित्रा को है। जावा, सुमात्रा, वोर्नियो आदि हिन्द एशिया के देशों में अशोक के शासन-काल से ही संस्कृति का प्रचार प्रारम्भ हो गया। शकारि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र पर अधिकार करके वहाँ के कवीलों और मुखियों को हिन्द एशिया के द्वीप-समूहों में बसने के लिए बाध्य करके भारतीय संस्कृति के प्रसार में सहायता प्रदान की। बौद्ध भिक्षुओं ने दुर्गम यात्राएँ करके चीन, तिब्बत तथा नेपाल में बौद्ध संस्कृति का प्रचार किया। शिव नामक देवता की पूजा पश्चिमी एशिया के देशों में ही नहीं, अपितु अफ्रीका महाद्वीप तक में होती रही है, ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं। प्राचीनकाल में खुरासान, ईरान, इराक, मासुल तथा सीरिया की सीमा तक बौद्ध धर्म का प्रचार था। प्राचीन युग में अफगानिस्तान को गन्धर्वदेश, बर्मा को ब्रह्म देश, जावा को यवद्वीप, सुमात्रा को सुवर्ण द्वीप कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति वृहत्तर भारत नामक राष्ट्र के स्वरूप को उजागर करके प्रतिष्ठित थी। सीरिया में 18 से 22 फीट ऊँची देव मूर्तियों की प्रतिष्ठापना यही सिद्ध करती है कि पश्चिमी एशिया में भारतीय संस्कृति प्रचलित थी। मध्य एशिया में भारत के प्रमुख उपनिवेश काशगर, यारकन्द, खुत्तन आदि में विद्यमान थे। प्राचीन भारत के साहित्य को चीनी, अरबी, फारसी आदि भाषाओं में अनुदित करके विदेशों में भारतीय संस्कृति को अपनाया गया।

भारतीय संस्कृति के प्रचार और प्रसार के प्रमाण भारतीय कला के अवशेषों के रूप में विदेशों में विद्यमान हैं। मध्य एशिया में भारतीय मूर्तिकला तथा वास्तुकला के उदाहरण फरात के ऊपरी भाग में बड़ी-बड़ी देवमूर्तियों तथा देव मन्दिरों के रूप में प्राप्त हुए हैं। भारतीय संस्कृति का समन्वयवादी दृष्टिकोण संस्कृति के प्रचार-प्रसार में विशेष सहायक हुआ। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि भारतीय संस्कृति पर विदेशी संस्कृतियों का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है, जिसके फलस्वरूप समन्वयवादी धारणा और भी व्यापक बनी। विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप यूनानी, हूण, शक, तुर्क आदि जातियों की संस्कृति का थोड़ा-बहुत प्रभाव भारतीय संस्कृति के ऊपर अवश्यमेव पड़ा है।

---

1 यजुर्वेद, 36/18.

2 वैदिक साहित्य

(Vedic Literature)

वेद संसार का सबसे प्राचीनतम साहित्य है। 'वेद' शब्द ज्ञानार्थक 'विद्' धातु में 'घञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका में 'वेद' शब्द का स्पष्टीकरण निम्न रूप से किया है—"विन्दन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति अथवा विन्दन्ते, लभन्ते विन्दन्ति विचारयन्ति, सर्वे मनुष्याः सत्यविद्यां मैर्येषु वा तया विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।" अतः वेद का मूल रूप निम्न है—

1. वेद सत्यविद्या है, 2. वेद ज्ञानियों का विषय है तथा 3. वेद सभी मनुष्यों के लिए उपयोगी है।

उपर्युक्त तीनों तथ्य जिस साहित्य में परिपक्व रूप में प्राप्त किए गए, पुराने आचार्यों ने उसी साहित्य को वैदिक साहित्य के नाम से अभिहित किया। हमें यहाँ यह विस्मृत नहीं करना चाहिए कि वैदिक साहित्य में वैदिक संस्कृत भाषा ही द्रष्टव्य है। अतः इन्हीं कतिपय गिने-चुने आधारों को लेकर वैदिक साहित्य को अधोलिखित रूपों में विकसित किया गया है—

1. संहिता-साहित्य, 2. ब्राह्मण साहित्य,
3. आरण्यक साहित्य, 4. उपनिषद् साहित्य।

वेदों का रचना-काल—वैदिक साहित्य के विवेचन से पूर्व उसके रचना-काल के सन्दर्भ में जान लेना आवश्यक है। यद्यपि वेदों के प्रणयन के विषय में इदमित्थम् कुछ नहीं कहा जा सकता, तथापि कुछ मान्यताओं पर प्रकाश डालकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। वेदों के रचना-काल को निर्धारित करने के लिए प्रमुख मत निम्न हैं—

वेदों का अपौरुषेयत्व—भारतीय मत के आधार पर वेद ईश्वरीय कृति हैं—ईश्वरकृत है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में भी इसी मत की पुष्टि द्रष्टव्य है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ ऋग्वेद, 10/90/9

मनुस्मृति में ईश्वर द्वारा वेदों का ज्ञान अग्नि, वायु, सूर्य तथा अङ्गिरा को दिए जाने का वर्णन है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ।। मनुस्मृति, 1/23
अध्यापयामास पितृक् शिशुराङ्गिरसः कविः ।। वही 2/151

महर्षि दयानन्द ने वेदों को ईश्वरकृत मान कर उन्हें उतना ही प्राचीन सिद्ध किया है, जितनी कि यह सृष्टि प्राचीन है। उनके अनुसार ईश्वर ने मनुष्यों के कल्याणार्थ वेद को ऋषियों के हृदय में प्रकाशित किया था। सत्यार्थ प्रकाश' में इसका युक्तियुक्त प्रतिपादन किया गया है।

मैक्समूलर का मत—मैक्समूलर का सिद्धान्त विकासवादी है। उसने वैदिक साहित्य को चार भागों–छन्द, मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र में वर्गीकृत किया है। वे अपने मत को सिद्ध करने के लिए यह मान कर चले हैं कि गौतम बुद्ध के उद्भव के समय वैदिक साहित्य लिखा जा चुका था। अतः वैदिक साहित्य 600 ई. पू. प्रणीत हो चुका था। यदि सूत्रों की रचना 600ई. पू. स्वीकार किया जाए तो उससे 200 वर्ष पूर्व ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हो चुकी होगी। अतः ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों का रचना-काल 800 ई. पू. निर्धारित किया जा सकता है। मैक्समूलर ने वेदों को मन्त्र तथा छन्द नामक दो भागों में विभाजित करके दोनों के विकास के लिए क्रमशः दो-दो सौ वर्षों का समय देकर यह सिद्ध किया है कि वेदों का रचना-काल 1200 ई.पू. से लेकर 1000 ई.पू. तक स्वीकार किया है। मैक्समूलर का मत केवल अनुमान पर आधारित है।

कुछ अन्य मत—मैक्डोनल ने भाषा-विज्ञान के आधार पर वेदों की रचनावधि 1300 ई. पू. स्वीकार की है। डॉ. आर. जी. भण्डारकर ने यजुर्वेद के 40वें अध्याय में प्रयुक्त 'असूर्या' शब्द को लेकर वेदों का सम्बन्ध असीरिया (मेसोपोटामिया) से जोड़ा है। इतिहास के अनुसार असीरिया के असुर 2500ई.पू. भारत में आए थे। अतः यजुर्वेद से पूर्व रचित तथा विकसित ऋग्वेद का रचना-काल 6000 ई.पू. रहा होगा। जर्मनी के विद्वान् जैकोबी तथा भारतीय विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ऋग्वेद का रचना-काल क्रमशः 4500 ई.पू. तथा 6500 ई.पू. सिद्ध किया है। उक्त दोनों विद्वानों के मतों का आधार ज्योतिषी गणना है। नारायणराव भवनराव पारंगी ने भूगर्भशास्त्र के आधार पर ऋग्वेद का रचना-काल 9000 ई. पू. स्वीकार किया है। कुछ सनातनी विद्वानों ने वेदों का रचना-काल लाखों वर्ष पुराना माना है।

वस्तुतः वेद सभी मानवों के कल्याण हेतु रचे गए हैं। जिस व्यक्ति का हृदय समस्त समाज के कल्याण के लिए चिन्तन मनन करके ज्ञान की अभिव्यक्ति करता है, वही वेद-रचना है। गीता में कहा गया है कि सिद्ध पुरुष के हृदय में सम्पूर्ण मानव-समाज प्रतिबिम्बित हो जाता है तथा समस्त मानव-समाज में वह सिद्ध पुरुष चरित्रतः प्रतिबिम्बित होने लगता है। अतः वह सिद्ध पुरुष सर्वत्र समदर्शी होने के कारण ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः।। गीता, 6/29

ऐसा ईश्वर-स्वरूप व्यक्ति जब अपने अनुभूत ज्ञान की अभिव्यक्ति करता है तो वह ज्ञान-रचना सर्वजीवहिताय होती है। हमारे यहाँ इसीलिए वेदों को ईश्वरकृत कहा गया है।

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में 'पुरुष' शब्द चेतना का वाचक है। ज्ञान का सम्बन्ध अन्तश्चेतना से ही है। अत. 'ऋषियो मन्त्रद्रष्टारः' जैसी उक्तियों के आधार पर यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि वेद ऋषियों की अन्तश्चेतना से व्यक्त हुए हैं। इसलिए उन्हें 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—अर्थात् ईश्वर का ज्ञाता ईश्वर ही हो जाता है, जैसे सिद्धान्तों के आधार पर वेद पुरुषों की रचना न होकर अपौरुषेयत्व-प्राप्त सिद्ध पुरुषों किंवा ऋषियों की रचना है। वेदों के अवलोकन से भी यही बात सुस्पष्ट है। वेदों का अनुशीलन करने पर वेद के प्रणेताओं के निर्धारण हेतु निम्नलिखित तथ्य ध्यान देने योग्य हैं—

1. वेदों का सूक्त-विभाजन विभिन्न ऋषियों के नामों की स्पष्ट सूचना देता है। वेदों में वशिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि जैसे मन्त्रदृष्टाओं का स्पष्ट उल्लेख है।

2. वेदों का भाषा वैदिक संस्कृत है। वैदिक संस्कृत में शब्दों के रूप अनेक प्रकार के पाए जाते हैं। इसका ज्वलन्त प्रमाण यास्कीय निरुक्त है जो यह सिद्ध कर देता है कि वेद विभिन्न युगों के अनेक ऋषियों द्वारा रचित हैं।

3. वेदों के अन्तिम भाग वेदान्त या उपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध हैं। उपनिषदों में निवृत्तिमार्ग की प्रधानता है तथा वेदों में प्रवृत्तिमार्ग की। अतः निवृत्ति-मार्गी द्रविड़ों तथा प्रवृत्तिमार्गी आर्यों के योग से ही वेदों की रचना हुई है। इस आधार पर विभिन्न संस्कृतियों के विभिन्न ऋषियों की सूचना स्वतः मिल जाती है।

4. वेदों की रूपक शैली[1] भी यह स्पष्ट करती है कि वेदों में इन्द्र एक प्रतापशाली देवता भी है तथा वह एक राजा भी है। 'इन्द्र' एक उपाधि[2] है। अतः ऐसे राजवंशों में अनेक राजकवियों का होना स्वतः सिद्ध है। अतः वेदों के प्रणेता अनेक युगों के अनेक कवि ही हैं।

5. वेदों की रचनावधि प्रागैतिहासिक ही मानी गई है। इतिहास पूर्व काल वैदिक संस्कृत भाषा का ही युग था। अतः उस समय के क्रान्तदर्शी विद्वानों—अर्थात् कवियों ने समसामयिक भाषा में ही काव्य-रचना की। प्रत्येक कवि अपने समय की भाषा में ही साहित्य-सृजन करता है। इसलिए वेद भी तत्कालीन कवियों द्वारा वैदिक संस्कृत में ही रचे गए, अतः वे इन सिद्ध कवियों के ही उद्‌गार हैं।

6. सत्य-विद्या सहज ज्ञान का विषय होने के कारण ईश्वरकृत ही मानी जाती है। इसीलिए तो 'वेद' को ब्रह्म वाक्य, 'होली बाइबिल' को वर्डस् ऑफ गॉड तथा

1 देखिए, आचार्य बलदेव उपाध्यायकृत पुराण विमर्श की भूमिका
2 वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 229 के आधार पर

'कुरान शरीफ' को कलामुल्लाह माना जाता है। सत्य और अनन्त ज्ञान ही ब्रह्म है— 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' (तैतिरीयोपनिषद्)। अत: जब प्रथम शताब्दी पूर्व तथा छठी शताब्दी में प्रचलित क्रमशः ईसाई एवं इस्लाम धर्मों के मूल धर्म ग्रन्थ ईश्वरकृत कहे जा सकते हैं तो 'वेद' को ब्रह्मकृत कहना स्वाभाविक और तर्क संगत है। परन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म ग्रन्थ महापुरुषों द्वारा विभिन्न परिवेशों को दृष्टिगत रखकर ही प्रणीत किए गए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'वेद' अनेक क्रान्तदर्शी विद्वानों की ईश्वरीय प्रतिभा की अभिव्यक्ति हैं। ये विद्वान् विभिन्न युगों में अपने नाम की— यश की परवाह किए बिना जन-कल्याणार्थ सहज ज्ञान को वेद के रूप में अभिव्यक्त करते रहे। वस्तुत: 'वेद' सहज ज्ञान या सत्य विद्या के रूप में होकर भी रस-साहित्य है और रस अभिव्यक्त होने के कारण अनिर्वचनीय और ब्रह्मानन्द सहोदर होता है—

सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेदान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मानन्द सहोदरः॥ —साहित्य दर्पण

अत: अब 'वेद' की अभिव्यक्ति का ईश्वरकृत कहने का मर्म मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में स्वत: स्पष्ट हो गया। अब हम वेदों की रचनावधि की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत करते हैं।

वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ वेदों का रचना-काल गौतम बुद्ध के जन्म से पूर्व ही स्वीकार करते हैं। वस्तुत: आधुनिक खोजों के आधार पर पृथ्वी की रचना का इतिहास अरबों वर्ष पुराना सिद्ध किया जा रहा है और साथ ही साथ ज्योतिष के आधार पर जैकोबी तथा लोकमान्य तिलक जैसे विद्वानों ने 'वेद' का रचना-काल 4500 ई.पू. तथा 6500 ई.पू. तक सिद्ध किया है, तो ऐसा अनुमान करना स्वाभाविक हो जाता है कि आर्यों और द्रविडों के समन्वय के उपरान्त वेदों को संगृहीत करके संहिताओं के रूप में प्रस्तुत किया गया होगा। आर्यों और द्रविड़ों का समन्वय एशिया माइनर में प्राप्त 1400 ई.पू. के शिलालेखों से स्पष्ट है। यथार्थत: यह समन्वय-साधन तथा वेद मन्त्रों का संग्रहण किसी अल्पावधि की देन नहीं कहा जा सकता। अत: वेद संहिताओं का प्रणयन-काल कम-से-कम 2000 ई.पू. समझना चाहिए। 'सिन्धु' शब्द का भाषा वैज्ञानिक विवेचन करने पर पता चलता है कि यह शब्द वैदिक संस्कृत में द्रविड़ अथवा ऑस्ट्रिक जातियों के भाषा-भाषी लोगों की भाषा का है।[1] तब तो हमें यह स्वीकार करना ही चाहिए कि प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर अग्रसर होने वाले द्रविड़ वैदिक संस्कृत के पूर्व काल में भी सहज ज्ञान से सम्बद्ध 'वेद' को अपनी भाषा में व्यक्त करते होंगे। अत: वेद-रचना कब से प्रारम्भ हुई, इसका निर्धारण उसी भाँति अनिर्वचनीय है, जिस प्रकार कि प्रथम सृष्टि का निर्धारण अकथ्य और अनिर्वचनीय है।

1 डॉ. भोलानाथ तिवाड़ी : हिन्दी भाषा, हिन्दी की व्युत्पत्ति (प्रकरण)

संहिता
(Sagnhita)

वेद की चार संहिताएँ विश्व-विदित हैं। ऋग्वेद संहिता वेद की प्राचीनतम संहिता स्वीकार की गई है। अन्य तीन संहिताएँ—यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद हैं। उक्त संहिताओं पर विचार करने से पूर्व हमें 'संहिता' शब्द पर विचार कर लेना चाहिए। आचार्य पाणिनि ने संहिता के सन्दर्भ में लिखा है—'परः सन्निकर्षः संहिता।'[1]—अर्थात् जिसमें पदों के अन्त का दूसरे पदों के आदि से मिलान किया जाता है, उसे संहिता कहते हैं। कुछ विद्वान् पदों की मूल प्रकृति[2] को ही 'संहिता' के नाम से पुकारते हैं। वस्तुतः विभिन्न मन्त्रों का युक्ति-युक्त संग्रह ही संहिता है। सूक्तों, अध्यायों, काण्डों अथवा वर्गों में विभाजित मन्त्रों का संकलन ही संहिता है। पहले लेखन-पद्धति का विकास न होने के कारण विभिन्न सूक्त या मन्त्र-समूह बिखरे हुए ही थे। कालान्तर में ऐसे मन्त्रों को यथाक्रम संगृहीत किया गया तथा संग्रह करने के कारण उन्हें संहिता नाम दिया गया।

1. ऋग्वेद-संहिता

'ऋच्' का अर्थ है—पद्य अथवा मन्त्र। व्युपत्ति के आधार पर 'ऋच्' स्तवन का मननीय करण— है आधार है—ऋच्चते स्तूयते अनया इति ऋच्। अतः 'ऋच्' मन्त्र का पर्याय है। 'मन्त्र' शब्द 'मन्' धातु में 'ष्ट्रन' प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न हुआ है। 'मन्त्र' शब्द के स्पष्टीकरणार्थ महर्षि दयानन्द ने लिखा है—मन्यते (विचार्यते) ईश्वरादेशोः येन स मन्त्रः अर्थात् जिसके माध्यम से ईशाज्ञा का ज्ञान होता है, वही मन्त्र है। अतएव ऋग्वेद संहिता मन्त्रों या ऋचाओं का संग्रह है।

ऋग्वेद की पांच शाखाएँ प्रमुख मानी जाती हैं—एतेषां शाखा पंच विधा भवन्ति। ये पाँचों शाखाएँ—शाकलाः, वाष्कलाः, आश्वलायनाः, शांखायनाः और माण्डूकेयाः। इन पाँचों शाखाओं का नामकरण विभिन्न ऋषियों के शिष्य—सम्प्रदाय की परम्परा के फलस्वरूप हुआ है। अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से अथवा व्याख्यानों के प्रक्रम के कारण ऋग्वेद की विभिन्न शाखाएँ प्रचलित रही हैं, जिनकी संख्या 27 तक गिनाई गई है—

1. मुद्गल शाखा, 2. गालव शाखा, 3. शालीय शाखा, 4. वात्स्य शाखा, 5. रौशिरि शाखा, 6. वोध्य शाखा, 7. अग्निमाठर शाखा, 8. पराशर शाखा, 9. जातू कर्ण्य शाखा, 10. आश्वलायन शाखा, 11. शंखायन शाखा, 12. कौपीतकी शाखा, 13. महाकोपीतकी शाखा, 14. शाम्व्य शाखा, 15. माण्डूकेय शाखा, 16. ब्रह्वृच शाखा, 17. पैङ्ग्य शाखा, 18. उद्दालक शाखा, 19. शतवलाक्ष शाखा, 20. गज शाखा, 21, 22 व 23–वाष्कलि भरद्वाज की शाखाएँ, 24. ऐतरेय शाखा, 25. वशिष्ठ शाखा, 26. सुलभ शाखा तथा 27. शौनक शाखा।

1 अष्टाध्यायी, 1/4/109
2 'पदप्रकृतिसंहिता।'—ऋक्प्रातिशाख्य

वस्तुतः ऋग्वेद की पाँच शाखाओं को भी इन 27 शाखाओं में स्थान मिला है। परन्तु वर्तमान में विवेच्य संहिता के रूप में शाकल संहिता ही उपलब्ध है। ऋग्वेद-संहिता में 10 मण्डल, 85 अनुवाक एवं 2008 वर्ग है। वेदज्ञों के अनुसार प्रस्तुत संहिता में मन्त्रों की संख्या 10467 से लेकर 10589 तक मिलती हैं। ऋग्वेद-संहिता प्राचीनतम साहित्य के रूप में मान्य है।

शाकल संहिता के सन्दर्भ में यह प्रसिद्ध है कि पंजाब के मद्र राज्य या क्षेत्र की राजधानी शाकल नगरी थी। यहीं शाकल्य या देवमित्र नामक वेदविद् का प्रादुर्भाव हुआ। शाकल्य ने 'शाकल संहिता' का सूत्रपात् किया और तदनन्तर उनकी शिष्य-परम्परा में उक्त संहिता 'शाकल संहिताएँ' नाम से विख्यात हुई। ऋग्वेद का मूल विषय दिव्य शक्ति की स्तुति करना है। परन्तु हमें यहाँ न भूलना चाहिए कि वह दिव्य शक्ति मूलतः एक ही शक्ति के विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद में मुख्यतः अधोलिखित दिव्य शक्तियों का स्तवन किया गया है—

1. इन्द्र, 2 हिरण्यगर्भ, 3. वरुण, 4. रुद्र, 5. मरुत्, 6. अग्नि, 7. पृथिवी, 8. उषस्, 9. पुरुष, 10. पितृ, 11. रात्रि, 12. यम, 13. पर्जन्य, 14. सोम, 15. अश्विनौ, 16. विष्णु, 17. नदी इत्यादि।

ऋग्वेद में कुछ कथानकीय संकेत—यद्यपि ऋग्वेद दिव्य शक्तियों के स्तवन का केन्द्र है, परन्तु इसमें रहस्य को खोजने की अनुपम जिज्ञासा भी देखते ही बनती है। 'पुरुष' तथा 'नासदीय' सूक्त रहस्यात्मकता के अबाध समुद्र कहे जा सकते हैं। इसके 'विष्णु' सूक्त में सूर्य को त्रिविक्रम सिद्ध करके वामनावतार की ओर स्पष्ट संकेत कर दिया गया है। जिस प्रकार से सूर्य तीन पहर में समस्त ब्रह्माण्ड को अपनी किरणों के माध्यम से माप देता है—पार कर लेता है. उसी प्रकार ईशावतार वामन ने ब्रह्माण्ड को तीन अंगों में ही नाप लिया था। ऋग्वेद के 'रुद्र' सूक्त में रुद्र को नित्य युवक,भेषजविद,अघोर कोपनशील,अतिस्तुत्य देव आदि के रूप में चित्रित करके पौराणिक शंकर—महादेव के व्यक्तित्व के विकास हेतु मार्ग प्रशस्त कर दिया गया है। देवराज इन्द्र के भव्य व्यक्तित्व को उजागार करने के लिए उसे वृत्रहन्ता, शम्बर नाशक, अपनी माता की माँग के सिन्दूर को धोने वाला सिद्ध किया गया है। पुरुरवा-उर्वशी, मनु-इडा आदि नाम भी विशद् कथानकीय संकेतों के स्पष्ट परिचायक हैं।

2. यजुर्वेद संहिता

'यजुष' शब्द का अर्थ है—पूजा एवं यज्ञ। यजुर्वेद में कर्मकाण्ड की प्रधानता है। यजुर्वेद के दो भाग हैं—कृष्ण एवं शुक्ल। कृष्ण भाग में छन्दोबद्ध मन्त्रों तथा गद्यात्मक विनियोगों के दर्शन होते हैं। शुक्ल यजुर्वेद में उक्त दोनों ही तत्त्वों का अभाव है। यहाँ हमें यजुर्वेद की शाखाओं या संहिताओं पर विचार कर लेना चाहिए।

कृष्ण यजुर्वेद—इसकी तीन संहिताएँ प्रसिद्ध हैं—तैत्तिरीय, मैत्रायणी, और कठ। तैत्तिरीय संहिता के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वैशम्पायन ऋषि ने एक बार रुष्ट होकर अपने शिष्य याज्ञवलक्य से कहा कि शिष्य, तुम गुरु से अधीत विद्या का

वमन कर दो। आज्ञाकारी शिष्य याज्ञवलक्य ने वेद विद्या वमन कर दिया। गुरुजी की आज्ञा पाकर कुछ अन्य शिष्यों ने उस वेद विद्या को तित्तिर बनकर चुग लिया। इसीलिए उस वेद विद्या को 'तैत्तिरीय संहिता' के नाम से पुकारा गया। वस्तुतः यह एक रूपक है। भला, वेद विद्या भी वमन का विषय हो सकती है? कदापि नहीं। वस्तुतः वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य की अन्तर्मुखी वृत्ति से क्रुद्ध होकर उन्हें उभयमुखी रूप में तरण-तारण रूप में चारित्रिक उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए कहा। याज्ञवल्क्य ने उस वेद विद्या का प्रसार किया, वही गृहीत ज्ञान का वमन है तथा वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने उस विद्या को संगृहीत और सम्पादित करके तित्तिर-वृत्ति का परिचय दिया। इसीलिए उसे 'तैत्तिरीय संहिता' नाम से अभिहित किया गया। यह शाखा आचार की प्रधानता से परिपूर्ण है।

मैत्रायणी शाखा—इस शाखा का सम्बन्ध आध्यात्म विद्या के गूढ़तम तत्त्वों से है। इसकी सात उपशाखाएँ भी स्वीकार की गई हैं—मानव, दुन्दुभ, आत्रेय, वाराह, हरिद्रवेय, श्याम और शामानयीय।

कठ शाखा—कठ लोगों या मनीषियों की शाखा को 'काठक संहिता' नाम भी दिया गया है। यह संहिता औपनिषदिक तत्त्वों से परिपूर्ण दिखलाई पड़ती है। इस शाखा का सम्बन्ध कठोपनिषद् से जोड़ा जाता है।

शुक्ल यजुर्वेद—शुक्ल यजुर्वेद में गद्य की प्रधानता है। इसकी दो संहिताएँ प्रसिद्ध हैं—काण्य तथा वाजसनेय। इन दोनों शाखाओं या संहिताओं में वाजसनेय शाखा ही अधिक प्रसिद्ध है। इस शाखा का नामकरण वाजसेनी के पुत्र (याज्ञवल्क्य) के नाम पर ही हुआ है। सूर्य के द्वारा याज्ञवल्क्य ऋषि को दिन में ज्ञान प्राप्त होने के फलस्वरूप प्रस्तुत यजुर्वेद को शुक्ल यजुर्वेद कहा गया। वस्तुतः शुक्ल यजुर्वेद में राष्ट्र को धवलित करने के लिए जिस आचार-संहिता का विधान दिखलाई पड़ता है, उसी के कारण इसे शुक्ल यजुर्वेद नाम से पुकारा गया है। कण्व ऋषि की शिष्य-परम्परा में जिस शाखा का अभ्युदय और अभ्युत्थान हुआ, उसे 'काण्व संहिता' नाम से अभिहित किया गया है।

आधुनिक यजुर्वेद में चालीस अध्याय हैं। इन अध्यायों में अधिकांश अध्यायों का सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है। यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय ईशावास्योपनिषद् के रूप में प्राप्त होता है।

3. सामवेद संहिता

'साम' सुन्दर और सुखकर वचन का नाम है। 'सत्यं वदेत प्रियं वदेत' सिद्धान्त सामवेद में पूरी तरह से देखा जा सकता है। 'साम' के माध्यम से देवताओं को प्रसन्न किया जाता है तथा विघ्नों का विनाश किया जाता है—समयति सन्तोषयति देवान् अनेन इति सामन् अथवा स्यति नाशयति विघ्नं इति सामन्। 'सामवेद' गीति काव्य का अन्यतम उदाहरण है। कहा जाता है कि जब नाटक की रचना की गई तो ईश्वर ने—ईश-तुल्य ऋषियों ने नाटक को रोचक बनाने के लिए सामवेद से ही गीतों को संगृहीत करने की प्रेरणा ली—'सामभ्यो गीतमेव च'।

सामवेद संहिता में गेय ऋचाएँ तथा गेय यजुप-समूह की प्रधानता है। सामवेद के ऋचा-समूह को 'आर्चिक' तथा यजुप-पुञ्ज को 'स्तोक' कहा जाता है। सामवेद का सम्बन्ध मुख्यतः गीति से है। इसीलिए इसमें गान की पाँच क्रियाओं की ओर संकेत भी किया गया है। सामवेद से सम्बद्ध छान्दोग्योपनिषद् में सामगान की पाँच क्रियाओं का क्रम निम्न है– हिंकार, प्रस्ताव, उद्‌गीथ, प्रतिहार और निधान वस्तुतः उद्‌गीथ वाणी की या गान की चरम सीमा है। प्रकारान्तर से 'उद्‌गीथ' 'ओंकार' या 'ॐ' का ही पर्याय है। छान्दोग्योपनिषद् में उद्‌गीथ को सार का भी सार कहा गया है–एषां सर्वभूतानां पृथिवी रसः। पृथिव्या आपो रसः। अपामोषधयो रसः। ओषधीनां पुरुषो रसः। पुरुषस्य वाग्रसः। वाचः साम रसः। साम्नः उद्‌गीथो रसः।

सामगान की छः लय भी प्रसिद्ध हैं—क्रुष्ट, प्रथमा, द्वितीया, चतुर्थी, मंद्र और अतिस्वार्य। कहा जाता है कि महाभारतकालीन ईशावतार श्रीकृष्ण सामवेद के महान् अध्येता थे। उन्होंने घोर अंगिरस से वेदान्तमत की दीक्षा ली थी तथा साम-गान के रहस्य को सीखा था। सम्भवतः इसीलिए श्रीकृष्ण ने 'छालिक्य' नामक गान का आविष्कार किया था, जिसे यादवों ने अपना प्रधान गान माना था। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में श्रीकृष्ण और शृंगार रस का जो चमत्कारी सम्बन्ध स्थापित किया गया है, उसके पीछे भी श्रीकृष्ण को सामवेत्ता के रूप में जानने-मानने की व्यापक भूमिका कार्य करती जान पड़ती है।

सामवेद की तीन संहिताएँ उपलब्ध हैं—कौथुम संहिता, जैमिनीय संहिता तथा राणायणीय संहिता। कुछ विद्वानों ने सामवेद की अनेक संहिताओं के प्रचलन की चर्चा की है, परन्तु आज उक्त तीन संहिताओं के अतिरिक्त अन्य कोई संहिता उपलब्ध नहीं होती। सामवेद के मन्त्र द्रष्टाओं की संख्या भी कम नहीं है। महर्षि जैमिनी इसके आदि विचारक और मन्त्रद्रष्टा माने जाते हैं। कुछ अन्य विचारक इस प्रकार हैं—हिरण्यनाभ लौगाक्षि, कुथुमी, कुशीति, लांगली, राणायण, उपमन्यु इत्यादि।

सामवेद को गांधर्ववेद के नाम से भी जाना जाता है। इसमें हजारों राग-रागनियाँ दर्शनीय हैं। सामवेद की अधिकांश ऋचाएँ गायत्री और जगती छन्दों में हैं। उस युग में प्रमुख वाद्य-यन्त्र—दुन्दुभि, वीणा और वेणु रहे। सामवेद को ललित कलाओं का उद्‌गम केन्द्र या बिन्दु माना जाता है। इस वेद से छान्दोग्य ब्राह्मण' तथा छान्दोग्योपनिषद् सम्बद्ध हैं।

4. अथर्ववेद संहिता

वेद की चौथी संहिता अथर्ववेद है। कहा जाता है कि एक बार ब्रह्माजी ने उग्र तपस्या करके अपने तेजस्वी शरीर से दो जल धाराएँ उत्पन्न कीं। पहली धारा को अथर्वन तथा दूसरी धारा को अंगिरा कहा गया। वस्तुतः 'ब्रह्मा' मन्त्रद्रष्टा के लिए उपाधिसूचक शब्द है। ब्रह्मा की तपस्या से दो जलधाराओं के उत्पन्न होने का अर्थ है—मन्त्रद्रष्टा ब्रह्मा के दो विद्वान पुत्रों की उत्पत्ति एवं विकास। मनुस्मृति में ऋक्, यजुः, साम नामक तीन वेदों के आविर्भाव की बात कहकर अथर्ववेद के विषय

में महर्षि अंगिरा या वृहस्पति द्वारा ब्रह्माजी को अथर्ववेद का ज्ञान देने की बात का उल्लेख है—'अध्यापयामास पितृन् शिशुरांगिरसः कविः।' अतः मन्त्रद्रष्टा ब्रह्मा के शिष्यों अथवा पुत्रों ने ही अथर्ववेद की रचना की।

अथर्ववेद के मूलतः दो भाग हैं—अथर्वन् और अंगिरस्। 'अथर्वन्' भाग में मन्त्र-तन्त्र, टोना-टोटका तथा औषधियों का युक्तियुक्त विवेचन है। 'अंगिरस्' भाग में मारण-उच्चाटन विषयक मन्त्रों का संग्रह है। प्राप्त अथर्ववेद संहिता में 20 काण्ड, 48 प्रपाठक, 760 सूक्त एवं 6000 मन्त्र हैं। विवेच्य संहिता के अभ्युत्थान में भृगुवंशी विद्वानों का पूर्ण सहयोग रहा है। अथर्ववेद को 'ब्रह्मवेद' नाम से भी अभिहित किया गया है। प्रस्तुत वेद में शाप-आशीर्वाद, मारण-उच्चाटन, मोहन-वशीकरण, स्तुति-प्रार्थना आदि से सम्बद्ध मन्त्रों का संग्रह होने के कारण ही इसे 'ब्रह्मवेद' कहा गया है। वस्तुतः उक्त प्रकृति के मन्त्रों को 'ब्राह्मणी' कहा जाता है। इसलिए अथर्ववेद 'ब्रह्मवेद' के रूप में स्वीकार किया गया है। 'ब्रह्म' शब्द विस्तार का वाचक है। अथर्ववेद में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए—विस्तार के लिए अनेक स्वरूप परिकल्पनाएँ हैं; यथा—

जीवेम शरदः शतम्, बुध्येम शरदः शतम्, रोहेम शरदः शतम्।

प्रस्तुत वेद में शरीर को आठ चक्रों तथा नव द्वारों से संयुक्त सिद्ध करके, उसे अयोध्या नगर के रूप में परिकल्पित किया है—

अष्टचक्राः नव द्वाराः देवानां पुरयोध्या।

यथार्थतः शरीर देवों की—दिव्य शक्तियों की ही नगरी है या पुर है। शरीर को पुष्ट रखने के लिए औषधियों का सेवन तथा मन को पवित्र एवं अवदात रखने के लिए आध्यात्म पथ पर अग्रसर होना ही अथर्ववेद की मौलिक शिक्षाएँ हैं। इस वेद में कुछ मन्त्र यज्ञों से सम्बद्ध तथा कुछ मन्त्र आध्यात्मिक रहस्यों से सम्बन्धित हैं।

वेदों का वर्ण्य विषय

वेद सत्य विद्या के अगाध भण्डार हैं, अतः उनका वर्ण्य-विषय भी मानव-समुदाय के परम कल्याण से सम्बद्ध है। वेद में मुख्यतः निम्न विषयों का वर्णन किया गया है—

1. दिव्य शक्तियों का स्तवन, 2. यज्ञ-सम्पादन, 3. कर्मण्यता, 4. प्रकृति-प्रेम, 5. आध्यात्मिक गहराइयाँ, 6. स्वस्थ जीवन-दर्शन, 7. आयुर्वेदिक ज्ञान

1. दिव्य शक्तियों का स्तवन—वेदों में द्यौलोक, अन्तरिक्ष लोक, भूलोक आदि से सम्बद्ध दिव्य शक्तियों का स्तवन किया गया है। सूर्य, पूषा, मित्र, सविता आदि दिव्य शक्तियों को मनुष्यों के कार्य में पूर्ण सहायक सिद्ध करके उनसे प्रकाश पाने के फलस्वरूप मनुष्यों को भी उनसे प्रेरणा ग्रहण करने के अनुदेश दिए गये हैं। सूर्य अपने किरण-घोड़ों को हांकता हुआ सिद्ध किया गया है। इन्द्र को कभी सूर्य, कभी बादल तथा कभी एक राजा के रूप में स्मरण किया गया है। पर्जन्य देवता वृष्टि करके समस्त फसलों को अपार रूप में उत्पन्न कराने में उपादान-भूमिका

प्रस्तुत करता है, इसीलिए उसके लिए आहुतियाँ देना याजकों का परम पुनीत कर्त्तव्य है। अग्नि देवता भूलोक का देवता है, जो देवयज्ञ में पुरोहित का कार्य करता है। वस्तुतः अग्नि में जो हवि आहूत की जाती है वह अग्नि के माध्यम से ही वातावरण में व्याप्त होकर मानव के लिए शुद्ध वायुमण्डल प्रदान करती है। हिरण्यगर्भ—सूर्य देवता को समस्त सृष्टि का मूल आधार मानकर उसे प्रेरणा स्रोत सिद्ध किया है। सूर्य के प्रति मन्त्रद्रष्टा की भक्ति निम्नलिखित मन्त्र में द्रष्टव्य है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकासीत।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्त देवाः।
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

मन्त्रद्रष्टाओं ने पृथ्वी को गोमाता के रूप में, नदियों को वत्सला माँ के रूप में तथा सूर्य-रूप विष्णु को सभी मानवों के भाई के रूप में चित्रित करके सांस्कृतिक स्तर पर सामाजिक भावनाओं को दिव्यत्व प्रदान करने का सुन्दर प्रयास किया गया है।

2. यज्ञ-सम्पादन—डॉ. रामधारीसिंह दिनकर ने आर्यों को प्रवृत्तिमार्गी सिद्ध किया है। आर्यों को प्रवृत्तिमार्गी सिद्ध करने का आधार उनका यज्ञ सम्पादन ही है। इस सन्दर्भ में डॉ. दिनकर के शब्द द्रष्टव्य हैं—"वैदिक युग के आर्य मोक्ष के लिए चिन्तित नहीं थे, न वे संसार को असार मानकर उससे भागना चाहते थे। उनकी प्रार्थना की ऋचाएँ ऐसी हैं, जिनसे पस्त से पस्त आदमियों के भीतर भी उमंग की लहर जाग सकती है। उन्हें ऋतु का ज्ञान प्राप्त हो चुका था और वे मानते थे कि सारी सृष्टि किसी एक ही प्रच्छन्न शक्ति से चलित और ठहरी हुई है तथा उस शक्ति की आराधना करके, मनुष्य जो भी चाहे, प्राप्त कर सकता है। किन्तु, बराबर उनकी प्रार्थना लम्बी आयु, स्वस्थ शरीर, विजय, आनन्द और समृद्धि के लिए ही की जाती थी। वैदिक प्रार्थनाएँ, प्रार्थनाएँ भी हैं और सबल, स्वस्थ, प्रफुल्ल जीवन को प्रोत्साहन देने वाले मन्त्र भी।" वस्तुतः वेदों का यज्ञ-सम्पादन निम्न विशेषताएँ लिए हुए है—

1. प्रकृति निरन्तर यज्ञ करती है, अतः मनुष्यों को उससे अथक परिश्रम की प्रेरणा लेनी चाहिए।

2. यज्ञ प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम का परिचायक है।

3. यज्ञ नियमितता का मूल स्रोत है।

4. यज्ञ के माध्यम से पूर्वजों के प्रति भी निष्ठा व्यक्त की जा सकती है।

5. यज्ञ का प्रत्यक्ष देवता अग्नि वातावरण की शुद्धि में सहायक सिद्ध होता है—"अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥"

6. 'यज्ञ' शब्द एक विस्तृत अर्थ में रण-यज्ञ, श्रम-यज्ञ, भोग-यज्ञ आदि का वाचक है, अतः सहज प्रशंस्य है।

3. कर्मण्यता—वेदों में विभिन्न दिव्य शक्तियों की स्मृतियों की स्तुति करने के पीछे एक महान् कर्मण्यता छिपी हुई है। रुद्र देवता को महाशक्ति-सम्पन्न नित्य तरुण तथा शत्रुओं के प्रति अत्यन्त कोपनशील सिद्ध करने के साथ-साथ उनसे यह भी प्रार्थना की गई है कि वे तथा उनकी सेनाएँ आर्यों के शत्रुओं अथवा सदाचार परायण व्यक्तियों के शत्रुओं को धराशायी कर दें। वस्तुतः रुद्र देवता की वीरता तथा उसकी सेनाएँ इस तथ्य की द्योतक हैं कि जिस प्रकार रुद्र ने अपने संगठन के माध्यम से देव और दैत्य शक्तियों को नाकों चने चबा दिये, उसी प्रकार हम भी नीतिमार्ग पर चलते हुए दुरात्माओं के विनाश हेतु अपने सुदृढ़ संगठन के माध्यम से आगे बढ़ें। इसीलिए शंकर को अद्वितीय योद्धा भी सिद्ध किया गया है—

"विश्वमम्त्रं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥"—ऋग्वेद 2/33/10

मित्र देवता जगत् में प्रकाश करता हुआ सभी कृषकों को कार्य में व्यस्त करता है। सोमरस के पाने से अमरता का वरण करके मध्यम मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा दी गई है। वेदों की कर्मण्यता के पीछे विभिन्न शक्तियों से अपार याचना को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों में प्राकृतिक शक्तियों के सामने झुकने की भी वृत्ति भाग्यवादिता के रूप में दिखलाई पड़ती है। भोगवादी आर्य ज्ञानमार्गी शंकर से भयभीत दिखलाई पड़ते हैं।[1] आर्य मन्त्रद्रष्टाओं में रुद्र के सामने ठहरने की कोई शक्ति भी दिखलाई नहीं पड़ती वे रुद्र देवता को विभिन्न यज्ञों के सम्पादन से, जिनमें भोगवादी प्रवृत्तियों का अभाव है, से संतुष्ट करना चाहते हैं। फिर भी वेदों का प्रवृत्तिमार्ग कर्मण्यता का ही पथ है। किसी बड़ी शक्ति के सम्मुख झुकना अथवा उसे अपने पक्ष में लेने का उपक्रम भी कर्मवादी दृष्टिकोण ही है।

4. प्रकृति प्रेम—वेदों में प्राकृतिक शक्तियों के प्रति अगाध प्रेम प्रदर्शित किया गया है। ऋग्वेद में महर्षि विश्वामित्र ने उषा को एक अमर युवती के रूप में चित्रित किया है। उषा की लालिमा पर मुग्ध होकर ऋषि ने अपने कवि हृदय का परिचय देते हुए यहाँ तक कह डाला कि उषा देवी दिव्य गुणों से परिपूर्ण है, वह मरण-धर्म से रहित है, वह सुवर्णमय रथ पर आरूढ़ होकर विश्व का दर्शन किया करती है, उसे प्रिय और सत्य वाणियों का उच्चारण करने वाली सूर्य की किरणों से विशेष स्नेह है, वह स्वर्ण के समान दैदीप्त होती हुई हमें विमुग्ध किया करती है।[2] कुछ अन्य मन्त्रद्रष्टाओं ने उषा को सूर्य की पुत्री कहा है।

वैदिक ऋषियों ने अग्नि को एक यजमान का रूप देकर इन्द्र-बादल या सूर्य को एक राजा का रूप देकर, पृथ्वी को गोमाता का रूप देकर प्राकृतिक तत्त्वों का मानवीकरण कर दिया है, जो उनके प्रकृति-प्रेम की पराकाष्ठा का परिचायक है। केवल इतना ही नहीं, वैदिक ऋषियों ने तो द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, जलमण्डल, वायुमण्डल, थल क्षेत्र, ओषधि-समूह, वनस्पति-समूह, विश्वदेव आदि का स्मरण

1 "मा त्वा रुद्र चुक्रुधाम नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।" —ऋग्वेद, 2/33/4

2. ऋग्वेद 3/61/1–2

करके समस्त प्राकृतिक वातावरण को शान्तिपूर्ण देखने का निश्चय प्रकट किया है। शरद ऋतु के प्रेमी मन्त्रद्रष्टाओं ने जीने, उन्नति करने जैसी क्रियाओं के लिए 'जीवेम शरदः शतम्' तथा 'रोहेम शरदः शतम्' कहकर अपनी प्रकृति परायणता का परिचय दिया है। प्रकृति-प्रेमी वेद प्रणेताओं ने वर्षा ऋतु के सन्दर्भ में मेघ-गर्जना को बड़ा महत्त्व दिया है। मेघों के गर्जन से शत्रुओं के या विरहीजनों के हृदय विकम्पित हो जाते हैं। वस्तुतः मेघ एक महाक्रान्तिकारी शक्ति के रूप में दृष्टिगोचर होता है। कालिदास का मेघदूत लौकिक संस्कृत साहित्य में मेघ के कार्यों-रूपों को चित्रित करने में वैदिक पर्जन्य देवता से ही अनुप्रेरित जान पड़ता है। हिन्दी के प्रकृति-प्रेमी कवि सुमित्रानन्दन पन्त का 'बादल' जहाँ अंग्रेजी के महान् कवि पी. वी. शैले की 'क्लाउड' कविता से प्रभावित जान पड़ता है, वहाँ वह पर्जन्य देवता से भी कम प्रभावित नहीं है। सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की 'बादल' कविता पर भी पर्जन्य सूक्त की सहज प्रकृति की छाप देखी जा सकती है। अब हम यहाँ सूर्य देवता के उस चित्र को प्रस्तुत करना चाहेंगे, जिसमें वह अन्धकार से परिपूर्ण अन्तरिक्ष लोक से पुनः पुनः आते हुए अपने प्रकाश से सभी जीवधारियों को अपने स्वर्णिम रथ पर आरूढ़ होकर, देखता हुआ चित्रित किया गया है—

> आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयनमृतं मर्त्यं च।
> हिरण्येन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्॥ ऋक्.1/35/2

अतः वेदों में सम्पूर्ण यज्ञ-विधान के पीछे अपार प्रकृति-प्रेम ही निहित है। जहाँ मेढ़कों के हर्ष के माध्यम से कृषि-प्रधान देश भारतवर्ष की सम्पन्नता सूचित की गई है, वहाँ आर्यों की प्रकृति निष्ठा को समझना सरल और स्वाभाविक हो ही जाता है।

5. आध्यात्मिक गहराइयाँ—वेदों के अन्तिम भाग को वेदान्त के नाम से जाना जाता है। अतः अधिकांश आध्यात्मिक गहराइयाँ वेदों के अन्तिम भागों में ही दर्शनीय है। परन्तु, इससे हमें यह न समझ लेना चाहिए कि वेदों के आदि और मध्य में किसी प्रकार की कोई रहस्यात्मकता ही नहीं है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में समस्त जगत् में ईश्वर की व्यापकता का सुन्दर चित्रण किया गया है। हमें कर्मनिष्ठा के माध्यम से ही भोगवाद की ओर बढ़ना चाहिए। हमें कर्म परायण रहकर ही सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए। सत्य रूपी महापात्र का मुख हिरण्यमय पात्र से ढका हुआ है, अतः हम जब तक कंचन-कामिनी रूपी माया को नहीं त्यागेंगे, तब तक यथार्थता का दर्शन संभव नहीं है। यथा—

> हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
> तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ —यजुर्वेद

अथर्ववेद में ईश्वरवादी 'नेति-नेति' सिद्धान्त का परिपाक दर्शनीय है। जिसे मन के द्वारा मनन का विषय नहीं बनाया जा सकता, अपितु मन ही जिसकी शक्ति से मनन करता है, वही ईश्वर है; अन्य कुछ नहीं। आँखें जिसे नहीं देख सकतीं, अपितु जिसकी शक्ति से आँखें देखने का कार्य करती हैं, वही ईश्वर है; अन्य कुछ

नहीं। प्राण जिसकी शक्ति से संचार करते हैं, बुद्धि जिसकी शक्ति से चिन्ता करती है, इन्द्रियाँ जिसकी शक्ति से क्रियाशील रहती हैं; वही ईश्वर है। जो इन्द्रियों एवं अन्तःकरण की पकड़ में आ जाय, जिसकी पूजा बाह्य उपकरणों से होती है, वह ईश्वर नहीं है।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में चेतना-स्वरूप ईश्वर का मानवीकरण करके उसे अनन्त पैर वाला, असीम सिरों वाला, अगणित हाथों वाला सिद्ध किया है। वस्तुतः वह चैतन्य तत्त्व समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर का विराट स्वरूप ही है तथा इसमें निहित असीम ज्ञानमयी-आनन्दमयी चेतना ही परमब्रह्म है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद इसी तत्त्व पर आश्रित है। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त सृष्टि-रचना की असीम गहराइयाँ का ज्वलन्त उदाहरण है। नासदीय सूक्त को लेकर जगद्गुरु शंकराचार्य के ईश्वर, जीव और जगत् का अनिर्वचनीय स्वरूप विकसित हुआ है। बौद्ध दर्शन की सर्वोत्कृष्ट शाखा शून्यवाद की पृष्ठभूमि भी नासदीय सूक्त ही है। अतः वेदों में भाग्यवाद, यज्ञवाद, अद्वैतवाद, शून्यवाद, सर्वास्तिवाद आदि दार्शनिक सिद्धान्त बीज रूप में देखे जा सकते हैं। वेदों का एकेश्वरवाद तथा बहुदेववाद भी देखते ही बनता है।

6. स्वस्थ जीवन-दर्शन—व्यावहारिक दर्शन का नाम ही जीवन दर्शन है। वेदों में सभी वर्णों के लोगों को—स्त्रियों को सत्यविद्या को पढ़ने तथा समझने का अधिकार दिया गया है। यजुर्वेद में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कल्याणी वाणी को—वेद को पढ़ने का अधिकार अन्त्य लोगों को भी है। इसी आधार पर वेदों में स्त्रियों एवं पुरुषों को समान धरातल पर खड़ा करने का सुन्दर प्रयास किया गया है, यथा—

यथेमां कल्याणीमवदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्भ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ।। —यजुर्वेद

जिस नारी-शोषण की बात आज के मानवतावादी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में की जाती है तथा उसके उद्धार हेतु आन्दोलन भी किए जाते हैं, वह नारी-उद्धार की भावना तो वेदों में साकार रूप में—व्यवहार रूप में दृष्टिगोचर होती है।

ऋग्वेद के अक्ष सूक्त में जुआ खेलने के व्यसन की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है—"जिस जुआरी के धन पर बलवान द्यूत का पासा लगने लगता है, ऐसे जुआरी की पत्नी के केशों को जीते हुए पुरुषों द्वारा खींचा जाता है। हारे हुए जुआरी को उसके माता-पिता, पुत्र-पत्नी आदि भी घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। उसे घर से बाहर भी निकाल देते हैं। परन्तु, फिर भी जुआरी जब जुआ न खेलने का निश्चय करता है, तो द्यूत-क्रीड़ा का स्मरण अथवा पासों की खनखनाहट उसके चित्त को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। जुआरी पुनः व्यभिचारिणी स्त्री की भाँति व्यसन की ओर अग्रसर हो जाता है।"

वेदों में सोमरस के पान की विस्तृत चर्चा हुई है। सोम को सभी व्यक्तियों का राजा बतलाया गया है, उसके पान से आयु उसी प्रकार बढ़ती है जिस प्रकार सूर्य के प्रतिदिन उदय से दिनों की संख्या बढ़ती है। सोमरस के पान से प्रकाशमान

लोकों को प्राप्त किया जाता है— अर्थात् सात्विकी बुद्धि प्राप्त की जाती है, सोमपान से व्यक्ति बलवान बनता है, अपने शत्रु को विमर्दित करता है, किसी की धूर्तता के प्रकोप से अभय रहता है। वस्तुत. सोमरस का पान सीमित मात्रा में ही उपयोगी है। 'सोमरस' मदिरा का ही नाम है। इसलिए वेद में सोमपान की बुराई की भी चर्चा की गई है। यदि सोमपान में अतिपेयता का व्यवहार होगा तो व्यक्ति की मृत्यु भी हो सकती है तथा व्यक्ति क्रोधोन्मत्त भी हो सकता है—

"मा न रिष्येद्धर्यश्व पीतः।" —ऋग्वेद, 8/48/10

वेदों में वर्ण-व्यवस्था की मनोवैज्ञानिकता, माता-पिता का सम्मान, संतति-पालन की सुव्यवस्था, राष्ट्रीयता की भावना, कर्मपरायणता जैसी विशेषताओं को लेकर जीवन-दर्शन का स्वरूप चित्रित किया गया है।

7 **आयुर्वैदिक ज्ञान**—अथर्ववेद में आयुर्वैदिक ज्ञान की प्रधानता है। वेद का उपचार-सम्बन्धी ज्ञान भी यज्ञ के माध्यम से ही विकसित हुआ है। औषधियों के भण्डार लेकर एक किंवदन्ती है। एक बार एक भिषकाचार्य किसी राजा के दरबार में गए। राजा ने जब उनके आगमन का कारण पूछा तो उन्होंने बृहदाकार पुस्तक निकालकर राजा को भेंट की तथा कहा कि इसमें सम्पूर्ण आयुर्वैदिक ज्ञान है। राजा ने अपनी राजनीतिक व्यवस्था का परिचय देकर यही कहना चाहा कि वह इतनी बड़ी पुस्तक को पढ़ने अथवा सुनने का समय नहीं निकाल सकता। अतः राजा ने उस पुस्तक को अति संक्षिप्त करने का आदेश दिया। उक्त भिषगाचार्य ने पुस्तक का संक्षिप्तीकरण कर दिया। परन्तु, राजा ने उसे और भी संक्षिप्त रूप में देखना चाहा। अन्ततः वह पुस्तक एक श्लोक का एक चरण-मात्र ही बची। वह सूत्र निम्न है–'जीर्णमन्नं भोजनम्' अर्थात् खाए हुए पदार्थ के पूर्णतः जीर्ण हो जाने या पच जाने पर ही पुनः भोजन करना चाहिए। वस्तुतः आयुर्वैदिक औषधियों में प्राकृतिकता को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है। वेदों का 'त्यागमय भोग' सर्वोत्कृष्ट आयुर्वैदिक औषधि है–'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'। —यजुर्वेद, 40/1

संग्रह-रूप में वेदों के वर्ण्य-विषय में बारे में यही कहना समीचीन है कि वेद भौतिक और आध्यात्म पहलुओं के संतुलन को लेकर अवतीर्ण हुए हैं–अविद्या मृत्यु तरति विद्याऽमृतमश्नुते'। यथार्थतः आर्य लोग तुरंग की सवारी को महत्त्व देते थे। वे गाय को माता के समान आदर देते थे। इसीलिए अथर्ववेद में गोहत्या के निषेध की अनेकशः चर्चा हुई है। आर्य ने कृषि गोपालन को महत्त्व देने के साथ-साथ कुटीर उद्योगों को भी महत्त्व देते थे। वेदों के द्रष्टा स्वर्ण, लोहा, ताँबा आदि धातुओं से सुपरिचित जान पड़ते हैं। इसीलिए इन सभी तत्त्वों के समन्वयात्मक स्वरूप को देखने के कारण विभिन्न पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानों को वेदों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनी पड़ी। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने यह विचार रखा है वेदों के द्रष्टाओं की अनुभूति के विषय में अनुशीलन करने पर यही कहना पड़ता है कि वैदिक युग कोई आखेट युग नहीं था। वैदिक युग का व्यक्ति अत्यन्त संस्कृत

एवं जाग्रत जान पड़ता है। उनका कृषि एवं गोपालन व्यवसाय आजकल भी भारतवर्ष की ग्रामीण प्रगति का मूलमन्त्र है। कुछ विद्वानों ने वेदों में वायुयान को—विकसित विज्ञान को भी खोजने की चेष्टा की है। परन्तु. वह दूर की खिचड़ी पकाने वाली बात ही प्रतीत होती है। वेदों में 'विमान' शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है, परन्तु उसका अर्थ 'निर्माता' है, 'वायुयान' नहीं। यदि आर्य विमान बनाना जानते थे तो वे सैन्धव-सिन्धी घोड़े की सवारी को ही सर्वाधिक महत्त्व क्यों देते रहे ? विमान बहुत पहले ही बन चुके थे तो उनका विकास उसी रूप में होना चाहिए था, जिस रूप में वेदों के दर्शन का विकास हुआ है। अतः विकासवादी विचार-धारा के आधार पर उलटी गंगा बहाना कथमपि ठीक नहीं कहा जा सकता। अतः वेदों ने हजारों वर्षों के ज्ञान का संचित रूप मानव-जाति को प्रदान किया है, यही मानव-समुदाय के ऊपर उनका चिर ऋण है, वे हमारी अमूल्य थाती हैं। हमें वैदिक साहित्य पर गर्व है। वेदों के औपनिषदिक भाग के विषय में ठीक ही कहा है—

"वैदिक साहित्य के दार्शनिक तत्त्व भारत में अद्वितीय स्थान रखते हैं। इन तत्त्वों को विश्व के दर्शन साहित्य में भी अद्वितीय कहा जा सकता है।"[1]

ब्राह्मण ग्रन्थ
(Brahmanas)

ब्रह्म-भाव का नाम ब्राह्मण है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ को ईश्वर का साकार स्वरूप कहा गया है-'एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यो प्रजापतिः।'[2] अत जिन ग्रन्थों में यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को—अर्थात् ब्रह्म को स्पष्ट किया गया है, वे ग्रन्थ ही ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। किंवदन्ती के रूप में यह भी माना जाता रहा है। कि ब्राह्मण लोग ही यज्ञों को सम्पादित कराते रहे हैं, अतः पुरोहितों से सम्बद्ध ग्रन्थ ही ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। प्रस्तुत किंवदन्ती में आधुनिक व्यावहारिक धरातल पर बहुत कुछ सार भी दिखलाई पड़ता है। वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थ हिन्दुओं के मूल धर्मग्रन्थ हैं। प्रारम्भिक युग में वर्ण-व्यवस्था की मनोवैज्ञानिकता के फलस्वरूप हिन्दू-समाज में किसी प्रकार की कोई संकीर्णता नहीं रही होगी, परन्तु कालान्तर में जाति-पाँति के बन्धकों के जकड़ जाने पर ब्राह्मण पिता का अज्ञ और वृद्ध पुत्र भी यज्ञ कराने का अधिकारी माना जाने लगा तथा वेदाविद् ब्राह्मण-जातीतर व्यक्ति को यज्ञ कराने से वंचित रखा जाने लगा। आंशिक रूप में इसका पौराणिक प्रतिबिम्ब महर्षि वशिष्ठ तथा त्रिशंकु से जुड़े हुए क्षत्रिय वर्णोत्पन्न विश्वामित्र की कथा में देखा जा सकता है। फिर भी ब्राह्मण-ग्रन्थों का सम्बन्ध केवल ब्राह्मण जाति से ही है, ऐसी मान्यता मूर्खता मात्र ही कही जाएगी। वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थ सनातन धर्म से सम्बद्ध हैं

1 "Philosophical conciptems unequalled in India or perhaps anywhere else in the world'.

—*Paul Den sen*

2 शतपथ ब्राह्मण 4/3/4/3

और सनातन धर्म व्यक्ति या मनुष्य का धर्म है। यदि उसे मानव धर्म के नाम से पुकारा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। अब हमें विभिन्न वेदों के ब्राह्मण-ग्रन्थ पर विचार कर लेना चाहिए।

ऋग्वेद के ब्राह्मण--ऋग्वेद-संहिता के दो ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं--ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतिकी ब्राह्मण। यद्यपि ऋग्वेद-संहिता के अनेक ब्राह्मणों की संभावना की गई, परन्तु आज ऐतरेय और कौषीतकी ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य किसी ऋग्वैदिक ब्राह्मण-ग्रन्थ की प्रतिलिपि प्राप्त नहीं। अतः हमें दोनों ब्राह्मण ग्रन्थों के इतिहास पर विचार कर लेना चाहिए।

ऐतरेय ब्राह्मण--ऐतरेय ब्राह्मण में चालीस अध्याय हैं। इस ब्राह्मण में कुरुवंश के राजा परीक्षित-पुत्र जनमेजय के उल्लेख के साथ-साथ उसके पूर्वजों का भी उल्लेख किया है। डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने इस ब्राह्मण-ग्रन्थ का समय एक हजार ई. पू. के लगभग स्वीकारा है। यह ब्राह्मण यज्ञ-विधान की शिक्षाओं के साथ-साथ ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा अन्य क्षेत्रीय ज्ञान-विज्ञान से भी जुड़ा हुआ है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' को कुछ लोग 'इतरा' नामक शूद्र के गर्भ से उत्पन्न महीदास नामक ब्रह्मवेत्ता की रचना मानते हैं। व्याकरण के आधार पर यदि 'इतरा' शब्द में अपत्यवाचक ढक् प्रत्यय संयुक्त किया जाय तो 'ऐतरेय' शब्द ही निष्पन्न होगा।

कौषीतिकी ब्राह्मण--ऋग्वेद-संहिता का दूसरा ब्राह्मण शांखायन या कौपीतकी ही है। कुपीत ऋषि के पुत्र कौपीतक उल्लेख्य ग्रन्थ के द्रष्टा या उपदेष्टा स्वीकारे गए हैं। इस ब्राह्मण में 30 अध्याय हैं। प्रस्तुत ब्राह्मण की भाषा-वैज्ञानिक समीक्षा करने से पता चलता है कि यह ब्राह्मण एक ही लेखक की रचना है। इस ब्राह्मण में अनेक पौराणिक आख्यान हैं। इसमें यज्ञ-विधान की चर्चा के साथ-साथ विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का विलक्षण पुट भी दिखलाई पड़ता है। प्रस्तुत ब्राह्मण की विषय-प्रतिपादन की क्षमता भी उल्लेखनीय है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण--यजुर्वेद-संहिता के दो भाग हैं--कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद। इन दोनों संहिताओं का एक-एक ब्राह्मण है तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण। दोनों का ऐतिहासिक स्वरूप निम्न हैं--

तैत्तिरीय ब्राह्मण----प्रस्तुत ब्राह्मण के तीन भाग हैं, जो 25 प्रपाठक तथा 308 अनुवादकों में विभक्त हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में मनुष्य-बलि-अर्थात् पुरुष-मेध का भी वर्णन किया गया है। धर्म की दृष्टि से मनुष्य की बलि देना अनुचित है, इसलिए वेद के मर्मज्ञों को उक्त धार्मिक रूढ़ि का परिहार करने के लिए अनुसन्धान करना पड़ा। शतपथ ब्राह्मण में अन्न को 'गौ' या गाय का पर्याय कहा है। 'अश्वमेध' को 'राष्ट्र' का वाचक माना गया है। 'अग्नि' को 'अश्व' नाम से भी पुकारा है। 'अजय' अर्थात् घृत के रूप में 'मेघ' शब्द को रखा गया, यथा----

अन्नं हि गौः ।। –शतपथ ब्राह्मण 4/3/1/25
राष्ट्रं वा अश्वमेघः ।। वही 13/1/6/3
अग्निर्वा अश्वः । आज्यं मेधः ।। वही 4/3/1/25

अतः 'गोमेध' का अर्थ अग्नि में अन्न की आहुति देना है, 'अश्वमेध' का अर्थ राष्ट्रीय उन्नति से है, नृमेध' का अर्थ मानवीय उन्नति है। 'नृ'-अर्थात् मानव का घृत कर्मपरायणता या मानवता है तथा 'यज्ञ' श्रम या कर्म का ही वाचक है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी विभिन्न मेधों की चर्चा हुई है, वहाँ हमें उसे सात्विक क्षेत्र में ही ग्रहण करना चाहिए। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों के कार्य-विभाग का सुव्यवस्थित उल्लेख है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास नामक चार आश्रमों की चर्चा भी उक्त ब्राह्मण का प्रतिपाद्य है।

शतपथ ब्राह्मण—शतपथ ब्राह्मण में सौ अध्याय हैं। इनको 14 काण्डों में विभक्त किया गया है। इस ब्राह्मण का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। ब्राह्मण-ग्रंथों में सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शतपथ' ही है। इनके प्रमुख रचयिता महर्षि शांडिल्य माने जाते हैं। शांडिल्य ने आध्यात्म-क्षेत्र में 'शांडिल्य विद्या' की खोज की थी। आजकल 'शांडिल्य' ब्राह्मण जाति का एक गोत्र भी है। विवेच्य ब्राह्मण में श्री रामचन्द्र की कथा, कद्रू-वनिता के संघर्ष की गाथा, पुरुरवा-उर्वशी का प्रेमाख्यान तथा अश्विनी कुमारों की कथा दर्शनीय है। प्रस्तुत ब्राह्मण का रचना-काल 2500 ई पू. स्वीकार किया गया है। यह ब्राह्मण तार्किक और मनोवैज्ञानिक विवेचन के लिए विख्यात है। इसका आधार लेकर संस्कृत साहित्य की विभिन्न साहित्यिक विधाएँ विकसित हुई हैं। वस्तुतः इसे साहित्यकारों का महान् प्रेरणा-स्रोत कहना पूर्णतः उपयुक्त जान पड़ता है।

सामवेद के ब्राह्मण—सामवेद की तीन शाखाएँ—कौथुमीय, जैमिनीय तथा रामायणीय हैं। पहली दो शाखाओं के ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। रामायणीय संहिता का कोई ब्राह्मण प्राप्त नहीं हुआ है।

कौथुमीय संहिता के ब्राह्मण—कौथुमीय संहिता के पांच ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं—पंचविंश या ताण्डय, षड्विंश, अद्भुत, मन्त्र तथा छान्दोग्य। इन ब्राह्मणों में 'पंचविंश' ब्राह्मण का ऐतिहासिक महत्त्व है। इस ब्राह्मण में अनेक पौराणिक या सामाजिक कथानक भरे पड़े हैं। यदि पूरा ब्राह्मण-ग्रन्थ आज प्रामाणिक रूप में प्राप्त होता तो कथा-साहित्य की प्राचीनतम परम्परा की खोज कर ली जाती। इसी प्रकार से 'षड्विंश' ब्राह्मण भी अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। 'छान्दोग्य' ब्राह्मण का एक अंश 'छान्दोग्योपनिषद्' के रूप में प्राप्त होता है।

जैमिनीय संहिता के ब्राह्मण—जैमिनीय संहिता के दो ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं—जैमिनीय ब्राह्मण तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण। जैमिनीय ब्राह्मण में यज्ञ का जो रूप विकसित हुआ है, उसे महर्षि जैमिनीकृत 'मीमांसा' दर्शन का प्रेरणा-स्रोत कहा जा सकता है। प्रस्तुत ब्राह्मण का ऐतिहासिक महत्त्व भी अक्षुण्ण है। इस

ब्राह्मण को 'आर्षेय ब्राह्मण' के नाम से भी जाना जाता है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में यज्ञ और आध्यात्म का सुन्दर समन्वय है।

अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण—20 काण्डों में संयुक्त अथर्ववेद संहिता का एकमात्र ब्राह्मण 'गोपथ' है। यह ब्राह्मण दो काण्ड और ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। इसके प्रथम काण्ड में पाँच तथा द्वितीय काण्ड में छः अध्याय हैं। 'गोपथ' ब्राह्मण-ग्रन्थ होने पर भी एक वेदान्तिक ग्रन्थ माना जाता है। इस ब्राह्मण में आध्यात्म-विद्या का क्रमबद्ध विवेचन किया गया हैं। 'गो' एक श्लिष्ट शब्द है, जिसका इन्द्रिय, गाय और चेतना के रूप में अर्थ लिया जाता है या लिया जा सकता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों का विवेच्य विषय

ब्राह्मण-ग्रन्थ सनातन धर्म के प्रतिपादक हैं। सनातन धर्म मूलधर्म का ही दूसरा नाम है। आजकल जिसे हिन्दू धर्म या वैदिक धर्म नाम से जाना जाता है, वह सनातन धर्म या मानव धर्म ही है। ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य निम्न रूप में है—विधि-भाग, अर्थवाद, उपनिषद्-तत्त्व तथा आख्यान-चर्चा।

विधि-भाग—यज्ञ को सम्पादित करने की विधियों का वर्णन 'विधि-भाग' का मूल विषय है। कर्मकाण्ड की आवश्यकता और उपयोगिता का सुन्दर विवेचन विधि-भाग में किया गया है। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' अर्थात् यज्ञ करना हमारा महानतम कर्म है, इस नारे का उद्घोष विधि-भाग का प्राण है। अनेक प्रकार से यज्ञ-रचना का विधान मानव के विभिन्न हितों को ध्यान में रखकर ही किया गया है। इसके साथ-साथ वेद मन्त्रों का विश्लेषण करना या व्याख्या करना तथा शब्दों की व्युत्पत्ति करना भी ब्राह्मणों के विधि-भाग का मूल विषय है। इसे निम्न उदाहरण के माध्यम से सूचित किया जा सकता है—

अग्निर्वा अश्वः। आज्यं मेधः॥ —शतपथ ब्राह्मण

अर्थवाद—करणीय कार्यों की प्रशंसा करना तथा त्याज्य कार्यों की निन्दा करना 'अर्थवाद' कहलाता है–विहितकार्य प्ररोचना निषिद्धकार्य निवर्तना अर्थवाद।' अतः ब्राह्मण-ग्रन्थों के 'अर्थवाद' भाग मे यज्ञों के सम्पादन की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। एक ब्राह्मण के लिए अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान-प्रतिदान जैसे कार्य करणीय हैं। एक क्षत्रिय के लिए समाज-सुरक्षा तथा राष्ट्र-रक्षा का कार्य करणीय है। एक वैश्य के लिए कृषि, दुग्ध-व्यवसाय तथा व्यापार जैसे कार्य करणीय हैं। एक शूद्र व्यक्ति के लिए अन्य वर्णों की सेवा ही करणीय है। इसी तरह से आश्रम-व्यवस्था की करणीयता पर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है।

उपनिषद् तत्त्व—ब्रह्मविद्या का नाम उपनिषद् है। उपनिषद्-भाग में विद्या-अविद्या, ईश्वर-जीव, माया-जगत् जैसे रहस्यपूर्ण तत्त्वों के सन्दर्भ में विचार किया गया है। हमें यहाँ यह याद रखना चाहिए कि ब्राह्मण-ग्रन्थों का उपनिषद् भाग उपनिषदों जैसी गहराइयों से परिपूर्ण नहीं है। मनुष्य को जरा-मरण की व्याधि से मुक्त करने का विधान भी उपनिषद्-भाग में द्रष्टव्य है—

पुनर्मृत्युं मुच्यते य एवमेतःमग्निहोत्रे मृत्योऽतिमुक्ति वेद। —शतपथ 2/3/3/9

आख्यान-चर्चा—ब्राह्मण-ग्रन्थों में झूसी (प्रयाग के निकट) के राजा पुरुरवा का उर्वशी के प्रति अटूट अनुराग से युक्त आख्यान दर्शनीय है। सर्पवंश की आदि माता कद्रू तथा गरुडवंश की आदि माता सुवर्ण या वनिता के बीच राजसत्ता को लेकर संघर्ष हुआ, उसके संकेत ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलते हैं। राम तथा अश्विनी कुमारों की कथाएँ भी इन ग्रन्थों में मिलती हैं। राजवंशों की कथाओं के अतिरिक्त ऋषि-वंशों की कथाएं भी ब्राह्मणों में पढ़ी जा सकती हैं। रेक्व ऋषि का आख्यान छान्दोग्य ब्राह्मण में पठनीय है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में सनातन धर्म का जो स्वरूप व्यक्त किया है, उसके आधार पर ब्राह्मण-ग्रन्थों को यदि धर्मग्रन्थ या धर्मशास्त्र कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्त्व

संहिता काल के तुरन्त पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हुई। संहिताएँ यज्ञ की प्रधानता से परिपूर्ण रहीं। परन्तु उनमें विशेषतः मन्त्रों की प्रधानता होने से यज्ञ-सम्पादन जन-समाज के लिए दुर्बोध्य ही बनी रही। अतः यज्ञ के रहस्य के साथ-साथ अन्य रहस्यों को प्रकट करने में ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्त्व अनेकों रूप में देखा जा सकता है—1. यज्ञ-सम्पादन का विवेचन, 2. गृहस्थ-आश्रम की सीमाओं का निर्धारण, 3. वर्णव्यवस्था की वैज्ञानिक विवेचना, 4. राष्ट्रधर्म का प्रतिपादन, 5. दार्शनिक अनुचिन्तन का विकास तथा 6. ऐतिहासिक घटनाओं का स्पष्टीकरण।

1. यज्ञ-सम्पादन का विवेचन— ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ को ईश्वर का स्वरूप माना गया है ब्राह्मणों का अर्थवाद यज्ञ के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करने वाला है। किस प्रकार का यज्ञ सम्पादित करने से किस काल की प्राप्ति होती है, इस रहस्य को प्रकट करना भी ब्राह्मण-ग्रन्थों का ही कार्य रहा है। यज्ञ से सम्बद्ध मन्त्रों के शुद्ध पाठ से भाषागत स्तर निर्धारित होता है तथा यज्ञ करने से अनेक प्रकार के दुःखों का निवारण होता है। ब्राह्मणों में प्रायः सभी दुःखों का निदान यज्ञ-सम्पादन में ही खोजा गया है। प्रायः समस्त संसार शारीरिक तथा मानसिक रोगों का शिकार बना रहता है। इन रोगों के निदान के लिए घर के वातावरण को पवित्र बनाने के लिए यज्ञ-सम्पादन होना चाहिए। मृत्यु को जीतने के लिए मृत्युन्जय मन्त्र के माध्यम से यज्ञ होना चाहिए। मृत्युन्जय मन्त्र[1] का महत्त्व प्रतिपादित करके संसार-सागर में डूबे हुए व्यक्तियों को एक त्राण-संबल देना ब्राह्मण ग्रन्थों के महत्त्व का एक सुस्पष्ट परिचायक बिन्दु है।

2. गृहस्थ-आश्रम की सीमाओं का निर्धारण— ब्राह्मण-ग्रन्थों में गृहस्थ आश्रम

1 "त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥" —ऋग्वेद, 7/59/12

को समाज का मूल आधार सिद्ध किया है। इसीलिए गृहस्थ आश्रम के समस्त विधि-विधानों को स्पष्ट करके गृहस्थ जीवन को सरस और पवित्र बनाने का कार्य ब्राह्मण-ग्रन्थों ने किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण में चारों आश्रमों का सम्बन्ध गृहस्थ आश्रम से जोड़कर गृहस्थ आश्रम की महिमा को स्पष्टतः प्रतिपादित कर दिया है। इसीलिए ब्राह्मण-ग्रन्थों के युग में ही गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम मानने की परम्परा विकसित हो गई। वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थों ने जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण को सबल बनाने में जो भूमिका प्रस्तुत की है, उसका आधार गृहस्थ आश्रम के विस्तृत विवेचन को ही माना जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण में गृहस्थ आश्रम का सविस्तार उल्लेख हुआ है। गृहस्थियों में ईमानदारी से कार्य करने की प्रवृत्ति का विकास करने में ब्राह्मणों का जो योगदान रहा, उसे कदापि नहीं भुलाया जा सकता।

3. **वर्ण-व्यवस्था का वैज्ञानिक विवेचन**- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चारों वर्णों की वैज्ञानिक रूप में स्थापना का श्रेय ब्राह्मणों को ही है। संहिता काल में चारों वर्णों की व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक संकेत कर दिया था।[1] परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के स्वभाव एवं कार्यों को वैज्ञानिक रूप देकर समाज को व्यवस्थित कर दिया गया। शतपथ ब्राह्मण में वर्ण-व्यवस्था का इतना विशद विवेचन किया गया कि धर्मशास्त्र का मूल तत्त्व ब्राह्मण ग्रन्थों में ही पर्याप्त विकास को प्राप्त हो चुका था—यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। वर्ण-व्यवस्था को प्रकृति या स्वभाव से जोड़कर सामाजिक संतोष का युक्तिसंगत कार्य भी प्रशस्त कर दिया गया। वर्ण-व्यवस्था का ऐसा वैज्ञानिक विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

4. **राष्ट्रधर्म का प्रतिपादन**—राष्ट्रीय उन्नति के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों में राष्ट्र धर्म का प्रतिपादन किया गया। शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेध के रूप में राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने का सफल प्रयास दृष्टिगोचर होता है। 'अश्व' को राष्ट्र का स्वरूप मानकर राष्ट्रीय उन्नति के लिए यज्ञ सम्पादित करने पर बल दिया गया। राष्ट्रीयता की भावना का विकास करने का श्रेय ब्राह्मण-ग्रन्थों को ही है। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' कहकर यज्ञ की सार्वभौमिकता प्रतिपादित करके समस्त राष्ट्र को कर्म-सन्दर्भ में एक ही दिशा बोध दिया गया। 'प्रौढ़ ब्राह्मण' में समाजशास्त्र की सामग्री प्रस्तुत करके समाज को एक राष्ट्र के रूप में बद्ध करके राष्ट्रधर्म का प्रतिपादन किया गया है।

5. **दार्शनिक अनुचिन्तन का विकास**— ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपनिषद् तत्त्व की भी चर्चा हुई। सामवेद संहिता के गोपथ ब्राह्मण में वेदान्त तत्त्व का सुन्दर निदर्शन है। ऐतरेय ब्राह्मण में सृष्टि के रहस्यों को विशदतापूर्वक प्रस्तुत किया गया है।

1 ऋग्वेद, 10/90/12

औपनिषदिक तत्त्वों के विवेचन से सृष्टि के निर्माण को लेकर मानव की जिज्ञासा का परितोष करने का सुन्दर प्रयास करके उपनिषदों तथा अन्य दार्शनिक साहित्य के लिए मार्ग स्पष्ट कर दिया गया है। वैदिक साहित्य का उपनिषद् भाग सृष्टि-रचना, ईश्वर का स्वरूप, जीवात्मा का स्वरूप, मोक्ष का स्वरूप, पुनर्जन्म, जरा-मरण जैसे प्रसंगों को लेकर ब्राह्मण-ग्रन्थों का ऋणी रहा है। शतपथ ब्राह्मण में सृष्टि-रचना के रहस्यों का जो वर्णन हुआ है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों से ही दार्शनिक अनुचिन्तन का विकास हो चला था।

6. **ऐतिहासिक घटनाओं का स्पष्टीकरण**—संहिताओं में अनेक राजाओं, ऋषियों तथा देवताओं के संकेत मात्र ही निहित थे। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में उन संकेतों को ऐतिहासिक स्वरूप प्रदान करने का सर्वप्रथम प्रयास हुआ है। वेदों में कद्रू-वनिता पुरुरवा उर्वशी आदि के जो संकेत पहेली बने हुए थे, उन्हीं को शतपथ ब्राह्मण ने विस्तृत रूप देकर पुराणों के लिए एक विशिष्ट मार्ग खोल दिया। अतएव ब्राह्मण में कुरु वंश का इतिहास विस्तृत रूप में पाया जाता है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत के प्रणयन में विभिन्न कवियों को ऐतरेय ब्राह्मण से अनेक प्रेरणाएँ होती रही होंगी। पुराणों में कद्रू तथा वनिता के बीच होने वाले संघर्ष को सौतिया डाह की परम्परा का मूल आधार ही सिद्ध कर दिया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के पुरुरवा तथा उर्वशी के आख्यान को लेकर चौथी शताब्दी में कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' नामक सुप्रसिद्ध नाटक की रचना की। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्द्र देवता के स्वरूप को अत्यधिक विस्तार दिया गया है, जिसका लेशमात्र प्रभाव महाभारत तथा पुराणों पर अवश्य पड़ा है। पुराणों में चन्द्रवंश, सूर्यवंश तथा देव एवं दानव वंशों की जो सूची दी हुई है, उसके ऊपर भी ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में चन्द्रवंश के राजाओं का आख्यानात्मक वर्णन किया है। ब्राह्मण साहित्य का प्रभाव संस्कृत के ही ग्रन्थों पर न होकर अन्य भाषाओं के भी ग्रन्थों पर देखा जा सकता है। हिन्दी के महान् कवि जय शंकर प्रसाद ने 'कामायनी' की भूमिका में मनु, इड़ा तथा श्रद्धा के सम्बन्धों की प्रामाणिकता के लिए शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत किया है। कामायनी के कथानक पर भी ब्राह्मण साहित्य के आख्यानों का प्रभाव है। निष्कर्षतः ब्राह्मण-साहित्य ने पुराण, इतिहास तथा काव्य के विकास के लिए कथानकीय सामग्री प्रस्तुत की, यही मानना युक्तिसंगत है।

ब्राह्मण-साहित्य का धर्मशास्त्र के ऊपर भी अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध लेखक पी.वी. काणे ने ब्राह्मण ग्रन्थों को धर्मशास्त्र के अन्तर्गत ही गिना है। ब्राह्मण-साहित्य से प्रेरणा लेकर सूत्र ग्रन्थों ने यज्ञवाद को चरम महत्त्व दे डाला। धर्मशास्त्र से सम्बद्ध समस्त स्मृति-ग्रन्थों पर ब्राह्मण-साहित्य का व्यापक प्रभाव है।

वेदों के स्वरूप को जानने में ब्राह्मण-ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वेदों में ईश्वर को ही चतुर्वर्ण रूप कह दिया गया था। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों ने इस रहस्य को स्पष्ट करते हुए यहाँ तक कह डाला कि यह समाज ही चार वर्णों वाला

है। अतः ईश्वर को समाज के रूप में देखकर जो बात कही थी, उसी को ब्राह्मणों में दार्शनिक पहलू का रूप न देकर समाजशास्त्रीय रूप प्रदान करके वेद-तत्त्व को स्पष्ट किया गया। वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ ब्राह्मणों के आख्यान भाग के आधार पर इस निष्कर्ष पर सहजतया पहुँच चुके हैं कि वेदों में किसी अज्ञात शक्ति को चित्रित करने के साथ-साथ उससे सामाजिक अथवा ऐतिहासिक घटनाओं को भी जोड़ा गया है। वेदों की रूपक-शैली का निर्धारण करते समय ब्राह्मण-साहित्य को ही मूल आधार बनाया गया है।

ब्राह्मण-साहित्य में सरल भाषा तथा स्पष्ट शैली का प्रयोग होने से वेद-रहस्य को जनोपयोगी बना दिया गया है यदि ब्राह्मणों को जन-ग्रंथ कह दिया जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। विद्वानों ने ब्राह्मण साहित्य को धर्मशास्त्र तक कहा है। यदि ब्राह्मण ग्रंथों को वैज्ञानिक ब्राह्मण धर्म का आधार कहा जाय या वैदिक धर्म कहा जाए तो संभवतः किसी वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ को कोई आपत्ति न होगी।

आरण्यक ग्रन्थ

वन को सूचित करने वाले 'अरण्य' शब्द में 'वुञ्' प्रत्यय के योग से 'अरण्यक' शब्द बना है। प्राचीन काल में भारतवर्ष में कुछ तपोभूमियाँ थीं, जिनमें नैमिषारण्य तथा दण्डकारण्य विशेषतः प्रसिद्ध हैं। हरिद्वार का निकटवर्ती कुन्जर वन भी वीरों के मृगया-मनोरंजन का क्षेत्र होने के साथ-साथ तपस्वियों की तपोभूमि रहा है। पुराणों में 'हरिद्वार' शब्द के स्थान पर 'हरद्वार' शब्द का प्रयोग किया गया है। कभी हरद्वार में योगीराज शंकर का गुरुकुल रहा होगा, जहाँ शस्त्र-शास्त्र की विद्या का केन्द्र रहा होगा। ऋग्वेद के रुद्र-सूक्त में शंकर को अद्वितीय योद्धा[1], नित्य युवक[2], भिषगाचार्य[3] तथा ज्ञानमार्गी[4] सिद्ध किया गया है। नैमिषारण्य आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा उत्तरी पश्चिमी बिहार का ही भाग है, जहाँ सीताजी के पिता सीरध्वज जनक के गुरु गौतमजी का गुरुकुल विद्या के केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध रहा था। महर्षि गौतम न्याय दर्शन के प्रणेता के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। दण्डकारण्य में अत्रि, अगस्त्य सुतीक्ष्ण तथा शरभंग जैसे आचार्य एवं तपस्वियों के आश्रम रहे हैं। वस्तुतः ऐसे ही ऋषियों के आश्रमों में आरण्यक-ग्रंथों की रचना हुई। ऐसी वनस्थलियों में समाज-सेवी वानप्रस्थियों के लिए जितने भी विधान-नियम निर्मित किए गए, उन सबका संग्रह आरण्यक-ग्रन्थों के रूप में जाना जाता है। सम्भवतः वैदिक काल में ऐसे तपस्वियों को अरण्यवासी या वनवासी ही कहा जाता होगा। महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में एक प्रसंग यह है कि जब महर्षि कण्व अपनी पालिता पुत्री शकुन्तला को राजा दुष्यन्त के साथ परिणीत करके विदा करने को उद्यत थे, तो

1 ऋग्वेद 2/33/10,
2 वही 2//33/11,
3 वही 2/33/4,
4 वही 2/33/4–10.

उनकी दृष्टि जडीभूत हो गई, उनके नेत्रों से अश्रुओं की धारा प्रवाहित होने लगी उनका कण्ठ गद्गद् हो गया। जब महर्षि कण्व ने भाव-विभोर स्थिति पर विचार किया तो वे इसी निष्कर्ष पहुँचे कि जब एक वनवासी की यह स्थिति कन्या-वियोग की वेला में सम्भव है तो मोह के बन्धन में बँधे बेचारे गृहस्थी कन्या वियोग के असह्य दुःख को किस प्रकार सहन करते होंगे—"....स्नेहादरण्यौकसः।

पीडयन्ते गृहिणः कथं नु कन्याविश्लेषदुःखैर्नवैः ।।"

अतः जिन ग्रंथों को वनों में रचा गया तथा वनभागों के गुरुकुलों में जिनका पठन-पाठन भी विकसित हुआ, उन्हीं ग्रंथों को आज 'आरण्यक' नाम से अभिहित किया जाता है। सायणाचार्य ने भी आरण्यक-ग्रंथों के नामकरण के विषय में इसी तथ्य को पुष्ट किया है—'अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते।'

आरण्यक का वर्गीकरण

कहा जाता है कि जितनी वैदिक संहिताएँ प्रचलित रहीं, उतने ही ब्राह्मण तथा आरण्यक भी प्रसिद्ध एवं प्रचलित रहे। परन्तु सम्प्रति गिने-चुने आरण्यक ही उपलब्ध हैं। वेद-संहिताओं के आधार पर आरण्यकों का वर्गीकरण निम्न रूप में किया जा सकता है—

ऋग्वेद के आरण्यक—ऋग्वेद के दो आरण्यक प्रचलित हैं—ऐतरेय तथा कौषीतकी। उनके नामकरण की चर्चा ब्राह्मण ग्रंथों के प्रसंग में की जा चुकी है। ऐतरेय आरण्यक में वानप्रस्थियों के कार्यों के विवेचन के साथ-साथ सृष्टि-रचना की गूढ़ता का भी स्पर्श किया गया है। कौषीतकी आरण्यक विषय-प्रतिपादन की मार्मिकता के साथ-साथ वनवासियों के कृत्यों को भी सहजता के साथ व्यक्त करने वाला है। ऐतरेय आरण्यक महीदास की शिष्य-परम्परा में कौषीतकी आरण्यक महर्षि कुषीतक की शिष्य परम्परा में विकसित हुआ।

यजुर्वेद के आरण्यक— कृष्ण यजुर्वेद का आरण्यक 'तैत्तिरीय' है तथा शुक्ल यजुर्वेद का आरण्यक 'शतपथ' है। इनके नामकरण की चर्चा संहिता तथा ब्राह्मण ग्रंथों के प्रसंग में की जा चुकी है। यजुर्वेद संहिता का बृहदारण्यक ग्रंथ अपना अलग ही महत्त्व रखता है। इस आरण्यक का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। यह आरण्यक 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के रूप में भी प्रचलित है। इस आरण्यक अथवा उपनिषद् में आध्यात्मिक रहस्यों का मनोवैज्ञानिक चित्रण भी दिखलाई पड़ता है। इस आरण्यक का एक सुमधुर प्रसंग है कि एक बार महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी दोनों पत्नियों के सम्मुख अपने संन्यासी होने की चर्चा की उन्होंने मैत्रेयी तथा कात्यायनी नामक दोनों धर्मदेवियों के सम्मुख अपनी सम्पत्ति के बँटवारे का प्रस्ताव भी रखा। कात्यायनी ने महर्षि के प्रस्ताव का अनुमोदन किया, परन्तु मैत्रेयी ने इहलौकिक धन की क्षणिकता का प्रसंग उठाकर महर्षिजी से पारलौकिक धन प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की। तब महर्षि याज्ञवल्लभ ने मैत्रेयी को सन्तुष्ट करने के लिए ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। उस उपदेश का एक अंश यहाँ उद्धृत है—

"सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्, यदेव भगवान् वेद तेदव मे ब्रूहीति ।

स होवाच याज्ञवल्क्यः ।....न वा अरे पत्युः कामायः पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति ।

न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे ब्राह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति ।

न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति । न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति । न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति । न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा व अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो, मनतव्यो, निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि ! आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विवितम् ।"

अतः आत्महित ही सर्वस्व है । वस्तुतः उक्त विवेचन की मनोवैज्ञानिकता सत्यानुभूति का साक्षात् निदर्शन है ।

सामवेद के आरण्यक--सामवेद के दो आरण्यक हैं--जैमिनीयोपनिषदारण्यक तथा छान्दोग्यारण्यक । इन दोनों ही आरण्यकों में वैदिककालीन राजवंशों तथा ऋषिवंशों के आधार पर आचार संहिता का निर्माण किया गया है । कहीं-कहीं यथार्थता का स्पर्श करने वाली आध्यात्मिक गहराइयों को भी बड़ी सजीवता के साथ स्पष्ट किया गया है । निम्नलिखित उदाहरण से यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो सकेगा--

अल्पे सुखं नास्ति । यत्र भूमा तत्र सुखम् ।। --छान्दोग्य

छान्दोग्यारण्यक कुछ हेर-फेर से छान्दोग्योपनिषद् के रूप में भी प्रसिद्ध है ।

अथर्ववेद का सम्भावित गोपथ आरण्यक--अथर्ववेद के 'गोपथ' ब्राह्मण के आधार पर केवल यह कल्पना ही की गई है कि अथर्ववेद के 'गोपथ' आरण्यक का भी अस्तित्व होना चाहिए । परन्तु, गोपथारण्यक के रूप में कोई आरण्यक प्राप्त नहीं होता ।

आरण्यकों का वर्ण्य-विषय

जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में धर्मशास्त्र को आधार बनाकर गृहस्थाश्रम तथा सामाजिक व्यवस्थाओं के निरूपण को महत्त्व दिया गया है, उसी प्रकार आरण्यक ग्रन्थों में वानप्रस्थाश्रम से सम्बद्ध कर्मकाण्ड को विशेष महत्त्व दिया गया है । संक्षेपतः आरण्यकों में अग्रलिखित तत्त्वों को प्रतिपादित किया गया है--

1. यज्ञ-कर्मों की विधियों का प्रतिपादन
2. महाव्रतों के स्वरूप का विवेचन
3. वानप्रस्थियों के विशिष्ट कृत्यों का वर्णन
4. ज्ञानमार्गीय तत्त्वों की विवेचना ।

आरण्यक ग्रंथों के प्रामाणिक भाष्य

आरण्यक ग्रन्थों के मूल एवं प्रमाण-स्वरूप भाष्यकार आचार्य सायण तथा शंकराचार्य हुए हैं । शंकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना के लिए आरण्यकों के—ऐतरेय, कौषीतकी तथा बृहदारण्यक के औपनिषदिक तत्त्वों का सुन्दर विवेचन किया है । आचार्य शंकर कुछ भाष्यों की टीकाएँ अधोलिखित विद्वानों ने की है—

आनन्द ज्ञान, आनन्दगिरि, आनन्दतीर्थ अभिनव नारायण, नारायणेन्द्र सरस्वती, नृसिंहाचार्य तथा कृष्णदास, रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना के उद्देश्य से 'बृहदारण्यक' का प्रामाणिक भाष्य लिखा । तैत्तिरीयआरण्यक के ऊपर सायण, भाष्कर मिश्र तथा वरदराज के प्रामाणिक भाष्य प्राप्त होते हैं ।

उपर्युक्त समीक्षात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो ही जाता है कि आरण्यक ग्रन्थ सनातन धर्म के यथार्थ स्वरूप को प्रतिपादित करने में पूर्णतः सहायक सिद्ध हुए हैं । इन ग्रंथों की मुख्यतः दो विशेषताओं ने भारतीय संस्कृति को विश्व समाज के सम्मुख उजागर करने में आशातीत योगदान दिया है—प्रथम विशेषता है—समाज सेवा रूपी यज्ञ तथा दूसरी विशेषता है—आध्यात्म निष्ठा । वस्तुतः भारतवर्ष के महापुरुषों ने धर्म प्रचार तथा चरित्र प्रदर्शन के क्षेत्र में उक्त दोनों विशेषताओं को साकार करके भारतीय संस्कृति को दिव्य एवं अलौकिक रूप प्रदान किया है ।

आरण्यकों की उपयोगिता

आरण्यक ग्रंथों में विभिन्न पक्षों को नए अर्थों में ग्रहण करके उन्हें समाज सेवा से सम्बद्ध कर दिया गया। आरण्यकों ने उपनिषदों की सुदृढ़ एवं परिष्कृत भूमिका बना कर विश्व-दर्शन के सर्वोच्च साहित्य का मार्ग अनावृत किया ।

ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में अन्तर

संहिता-काल के पश्चात् वेद की चारों संहिताओं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के आधार ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ । कहा जाता है कि जितने ब्राह्मण थे, उतने ही आरण्यक ग्रन्थ रहे होंगे, परन्तु आज ब्राह्मण-ग्रन्थों के हिसाब से आरण्यक ग्रंथों की उपलब्धि नहीं हो सकी है । ब्रह्म या मन्त्र एवं यज्ञ को विस्तार देने वाले ग्रंथों को ब्राह्मण-ग्रंथ कहा गया तथा वानप्रस्थियों के कर्मों को विस्तार देने वाले ग्रंथों को आरण्यक ग्रंथ के रूप में जाना गया । विवेचन की दृष्टि से दोनों प्रकार के ग्रंथों के भेद दर्शनीय हैं—

1. रचना काल का भेद, 2. वर्ण्य-विषय का भेद तथा 3. महत्त्वगत भेद ।

1. रचना-काल का भेद—ब्राह्मण-ग्रंथ संहिता-ग्रंथों के अनुवर्ती माने जाते हैं तथा आरण्यक ग्रंथ ब्राह्मण ग्रंथों के अनुवर्ती रहे हैं । ब्राह्मण ग्रंथों का रचना-काल 2500 ईसा पूर्व माना गया है तथा आरण्यक ग्रंथों का रचना-काल 1500 ईसा पूर्व

से 2000 ईसा पूर्व तक हो चुका था, साधारणतः यह निष्कर्ष निकाला जाता है। ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के रचना-काल के सन्दर्भ में वेदों के रचना-काल के प्रसंग में पर्याप्त विचार किया जा चुका है।

2. वर्ण्य-विषय का भेद—ब्राह्मणों की वस्तु-सामग्री के विवेचन के सन्दर्भ में ब्राह्मणों के चारों भागों पर विचार किया गया है। 'विधिभाग का सम्बन्ध शुभाशुभ कार्यों की पहचान से रहा। 'अर्थवाद' नामक भाग में यज्ञों की विधियों तथा उपयोग पर प्रकाश डाला गया। 'उपनिषद्' भाग में सृष्टी के रहस्यों को तथा अन्य तत्त्वों को प्रकाशित किया गया। 'आख्यान' भाग का सम्बन्ध कथात्मक सामग्री के माध्यम से उपदेश देता रहा।

आरण्यक ग्रंथों का निर्माण वनों में हुआ। वन में ही उनका पठन-पाठन होने से उन्हें 'आरण्यक' कह दिया गया। आरण्यकों ने वानप्रस्थियों को लक्ष्य करके वानप्रस्थाश्रम-धर्म को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया। जहाँ ब्राह्मण ग्रंथों ने गृहस्थ-धर्म का व्यापक रूप में विवेचन किया, वहाँ आरण्यक ग्रंथों ने वानप्रस्थ-धर्म या आश्रम के स्वरूप को स्पष्ट किया। आरण्यकों में 'उपनिषद्' तत्त्व को भी ऐसा विस्तार दिया गया कि उपनिषदों की सुदृढ़ भूमिका आरण्यकों ने ही निर्मित कर दी। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' आरण्यक भी है और उपनिषद् भी। केवल इतना ही नहीं, अपितु ब्राह्मण ग्रंथों के यज्ञादि विधानों को भी आरण्यकों ने पर्याप्त महत्त्व दिया। अतः एक ओर आरण्यक ग्रंथ ब्राह्मण ग्रंथों के विषय को समाहित करके ब्राह्मण साहित्य की परम्परा को भी विकसित करते रहे और दूसरी ओर उन्होंने औपनिषदिक गहराइयों को प्रकट करके उपनिषदों के लिए एक सुदृढ़ भूमिका बना दी।

3. महत्वगत भेद—ब्राह्मण ग्रंथों के महत्त्व पर पीछे प्रकाश डाला जा चुका है। जहाँ ब्राह्मण-साहित्य, पुराण, इतिहास और काव्य को कथानकीय सामग्री देने का कार्य करता हुआ गृहस्थ-धर्म का विवेचन करता रहा, वहाँ आरण्यक ग्रंथ उपनिषदों के विचारकों के प्रेरणा-स्रोत बन कर वानप्रस्थ आश्रम को प्रामाणिक रूप देने में जुटे रहे। अतः महत्त्व की दृष्टि से भी दोनों प्रकार के साहित्य में पर्याप्त अन्तर रहा है।

ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रंथों के विषय में 'ब्राह्मण' एवं 'आरण्यक' नामक अध्यायों के सन्दर्भ में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, जिसका निर्देश निम्न रूप में किया जा रहा है—

1. नामकरण का अन्तर
2. रचनाकाल का अन्तर
3. वर्ण्य-विषय का अन्तर।

(क) ब्राह्मणों का वर्ण्यविषय—1. विधिभाग, 2. अर्थवाद, 3. उपनिषद् भाग तथा 4. आख्यान भाग।

(ख) आरण्यकों का वर्ण्य-विषय—1. यज्ञ कर्मों की विधियों का प्रतिपादन, 2. महत्त्वों के स्वरूप का विवेचन, 3. वानप्रस्थियों के विशिष्ट कृत्यों का वर्णन तथा 4. ज्ञानमार्गीय तत्त्वों की विवेचना।

निष्कर्ष--आरण्यकों ने वानप्रस्थ आश्रम को प्रामाणिक रूप प्रदान किया तथा धर्मशास्त्र को प्रभावित किया। ब्राह्मण ग्रन्थों ने धर्मशास्त्र को प्रभावित करने के साथ-साथ गृहस्थ धर्म का विवेचन किया। आरण्यकों में कर्ममार्ग तथा ज्ञान मार्ग का समन्वय किया गया है तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में सामाजिक व्यवस्थाओं को वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का प्रबल प्रयास किया गया है। आरण्यकों के ज्ञानमार्गीय तत्त्व उपनिषदों की विवेच्य-वस्तु में वर्णित हुए हैं। अतः यहाँ अधिक प्रकाश अनपेक्षित होगा।

उपनिषद्
(Upnisadas)

उपनिषदों में आध्यात्मक विद्या का चरमोत्कर्ष है। आधुनिक विद्वत्समाज में 'उपनिषद्' शब्द अंग्रेजी के 'सेमीनार' शब्द का वाचक है। यथार्थतः किसी सेमीनार में कुछ विद्वानों के द्वारा कुछ प्रपत्रों को पढ़कर तथा विचार-विमर्श के माध्यम से निर्धारित विषय को स्पष्ट किया जाता है। ठीक इसी तरह से औपनिषदिक ग्रन्थों का निर्माण भी विभिन्न विद्वानों के विचार-विमर्श का फल है। अतः इस सन्दर्भ या तथ्य को पुष्ट करने के लिए 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति को देख लेना आवश्यक है—

उप+नि+सद्+क्विप=उपनिषद्

वस्तुतः 'सद्' धातु का अर्थ है 'बैठना' और जब 'सद्' धातु में 'नि' उपसर्ग को जोड़ दिया जाए तो उसका अर्थ हो जाता है—पूर्णतः बैठना या प्रयोजन-विशेष से बैठना। 'उप' उपसर्ग का अर्थ है—समीप या लघु। अतः यहाँ 'उप' उपसर्ग 'समीप' अर्थ का ही वाचक है। इसलिए यह कहना ठीक है कि 'उपनिषद्' सार के भी सार हैं। यह तो सब मानते ही हैं कि परस्पर विचार-विमर्श से जो निष्कर्ष सामने आते हैं, वे यथार्थता का अवश्यमेव स्पर्श करते हैं।

हमें यहाँ यह याद रखना चाहिए कि जब ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड के प्रसार से जन-जीवन में रुढ़ियों और कट्टरताओं का प्रबल प्रचार-प्रसार होने लगा, तो वैदिक विद्वानों को समाज-सुधार की आवश्यकता प्रतीत हुई। तत्कालीन विद्वानों से यह रहस्य भी छिपा नहीं था कि किसी भी ग्रन्थ को वेदों से जोड़े बिना उसकी प्रामाणिकता ही संदिग्ध हो जाएगी। अतः मनीषियों ने ऐसे प्रयास किए कि वैदिक मन्त्रों को लेकर आध्यामिक तत्त्वों को स्पष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। यथार्थतः मनीषियों के वही प्रयास उपनिषदों के रूप में प्राप्त होते है।

शंकराचार्य ने बारह उपनिषदों का भाष्य किया है, अतः प्रमुख उपनिषद् बारह ही हैं, ये इस प्रकार हैं—

1. ईशावास्योपनिषद्, 2. केनोपनिषद्, 3. कठोपनिषद्, 4. प्रश्नोपनिषद्, 5. मुण्डकोपनिषद्, 6. माण्डूक्योपनिषद्, 7. तैत्तिरीयोपनिषद्, 8. ऐतरेयोपनिषद्, 9. छान्दोग्योपनिषद्, 10. बृहदारण्यकोपनिषद्, 11. कौषीतकी उपनिषद् तथा 12. श्वेताश्वतरोपनिषद्।

1. ईशावास्योपनिषद्—ईशावास्योपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। इस उपनिषद् में केवल अठारह मन्त्र हैं। इतने संक्षिप्त रूप में यह ईश्वर के स्वरूप पर तथा मानव-समुदाय के संतुलित विकास-मार्ग पर अत्यन्त सुन्दर प्रकाश डालता है। इसकी प्रथम पंक्ति 'ईशावास्य' शब्द से प्रारम्भ होती है, इसलिए इसका नाम 'ईशावास्योपनिषद्' रखा गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आत्महन्ताओं के ऊपर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृत्ता।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

प्रस्तुत ग्रन्थ में ज्ञान को साकार रूप देने पर बहुत बल दिया गया है। इसके प्रथम मन्त्र की सराहना तो प्रायः सभी विद्वानों ने की है, जो निम्नलिखित है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यवित्वनम्॥

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने प्रस्तुत ग्रन्थ पर प्रामाणिक भाष्य लिखा था, जो हिन्दी और अंग्रेजी दोनों मे ही उपलब्ध है।

2. केनोपनिषद्—केनोपनिषद् सामवेद की जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ का नवम् अध्याय है। इस ग्रन्थ की पहली पंक्ति में सबसे पहले प्रश्न सूचक शब्द 'केन' का प्रयोग होने से इसे केनोपनिषद् नाम दिया गया है। इस उपनिषद् का प्रारम्भ अनन्त शक्ति विषयक जिज्ञासा से होता है—'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः।'—अर्थात् मन किसकी शक्ति से चलायमान होता है। इसी प्रसंग में आँखों की ज्योति के केन्द्र के रूप में, प्राणों की चेतना के रूप में, बुद्धि की सार ग्राहिणी भक्ति के रूप में, मन को अभिप्रेरित करने वाली शक्ति के रूप में ईश्वर को देखा गया है। वह ईश्वर नहीं है, जिसकी पूजा बाह्य साधनों से की जाती है—

तदेव त्वं ब्रह्म विद्धि, नेदं यद्दिमुपासते॥

प्रस्तुत ग्रन्थ में अहंकार का निवारण करने के लिए यहाँ तक कह दिया गया है कि जो वेद-मर्मज्ञ ईश्वर का ज्ञाता होने का दावा करता है, वह उसे नहीं जानता, परन्तु जो वेद ज्ञाता ईश्वर के मर्म को जानकर उसे जानने का दावा नहीं करता, वह उस अनन्त शक्ति को भली-भाँति जान गया है—

अविज्ञेयं विजानतां विज्ञेयमाविजानताम्॥

अतः केनोपनिषद् 'नेति-नेति' सिद्धान्त का प्रबल प्रतिपादक ग्रन्थ भी है।

3. कठोपनिषद्—यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा का भाग है। इसमें दो अध्याय और छः वल्लियाँ हैं। प्रस्तुत उपनिषद् का आरम्भ उद्दालक ऋषि और उनके पुत्र नचिकेता के उत्तेजना-भरे संवाद से होता है। कहा जाता है कि उद्दालक ऋषि ने गोदान का व्रत लिया था। वे अनेक गाएँ दान कर चुके थे। जब कुछ वृद्ध गायों को भी दान कर दिया गया तो नचिकेता ने क्रुद्ध होकर अपने पिताजी से यह कहा कि आप मुझे किसे दान में देंगे? उद्दालक ने आवेश में यही कहा कि मैं तुझे यमराज को दूँगा। आज्ञाकारी नचिकेता यमराज के यहाँ चला गया और

वहाँ उसने ब्रह्म-विद्या से सम्बन्वित प्रश्न पूछे। कठोपनिण्द् का वृत्त इतना ही है। यहाँ यह विचारणीय है कि नचिकेता ने आचार्य यम से जितने प्रश्न पूछे, उनके पीछे क्या रहस्य है ? यथार्थतः वैदिक यमराज वेद की रूपक शैली के आधार पर दो रूपों में जाना जा सकता है—पहला रूप तो यह है कि पौराणिक यमराज के रूप में जिस मूर्ति का विकास हुआ है, वह भैंसा के ऊपर सवारी करने वाला है, नरक--निकृष्ट स्थान का राजा है। इस धारणा को पुष्ट करने के लिए मरुभूमि विशेष को निकृष्ट स्थान कहना युक्ति संगत है। जहाँ लोग भैंसों की सवारी करते हों, ऐसे स्थान भी नखलिस्तानों के रूपों में मरुभूमियों में उपलब्ध हो जाते हैं। सारतः यमराज अरब देशीय भूमि का राजा था। कुछ विद्वान् उसे दक्षिणी भारत की संयमिनी नगरी का राजा मानते हैं। यथार्थतः यमराज अरब भूमि का ही राजा था तथा विभिन्न देवों की भाँति उसने भी भारतवर्ष में अपना उपनिवेश 'संयमिनी' में स्थापित किया होगा। दूसरा मत है कि संयम-शक्ति का नाम ही यमराज है। अतः नचिकेता की भेंट जिस यमराज से हुई, वह कोई काल्पनिक यम न होकर ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति ही था।

प्रस्तुत उपनिषद् में कुछ वेद-ग्रन्थों का अध्ययन कर लेने पर स्वयं को परम वीर और पण्डित मानने वाले विद्वानों को आड़े हाथों लिया गया है----

अविद्यायां वर्तमाना स्वयं धीरा पण्डितं मन्यमानाः।
जघन्यमानाः परियन्ति मूढ़ा अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः॥

4. प्रश्नोपनिषद्—अथर्ववेद की पिप्लाद संहिता के अप्राप्य ब्राह्मण-ग्रन्थों से प्रश्नोपनिषद् का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। इस उपनिषद् में पिप्पलाद नामक ऋषि द्वारा भरद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिवि के पुत्र सत्यवान्, कोशलवासी अश्वलायन, विदर्भवासी भार्गव, कात्यायन और कवन्धी नामक छः शिष्यों के प्रश्नों के उत्तरों का वृत्त प्राप्त होता है। प्रस्तुत उपनिषद् में यज्ञ को भी ब्रह्म-चिन्तन से समन्वित किया गया है। प्रश्नोत्तर की प्रधानता के कारण ही इसे प्रश्नोपनिषद् कहते हैं। इस उपनिषद् में निरंग ईश्वर को 'प्रभापूर्ण हिरण्यमय' सिद्ध किया गया है। ऐसा लगता है कि पिप्पलाद ऋषि की अनुभूति ने शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ, इस उपनिषद् को मौलिक रूप भी प्रदान किया है।

5. मुण्डको उपनिषद्—यह उपनिषद् तीन मुण्डकों में विभाजित है। प्रत्येक मुण्डक पृथक्-पृथक् दो खण्डो में भी विभाजित है। इस उपनिषद् में सृष्टि की उत्पत्ति तथा ब्रह्म-तत्त्व की जिज्ञासा को प्रधानता दी गई है। इसमें ईश्वर के अनुशासन को अमिट सिद्ध करने के लिए उस 'भय' की संज्ञा दी गई है। ईश्वर के भय से सूर्य प्रकाशित होता है, अग्नि प्रज्वलित होती है, वायु वहन करती है। उपनिषद् की कुछ पंक्तियाँ कठोपनिषद् में भी प्राप्त होती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में मोक्ष के स्वरूप को एक रमणीक उदाहरण के माध्यम से चित्रित किया गया है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपं विहाय।
तथैव नामरूपाद् विमुक्तः स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिलकर अपने नाम-रूप को विलीन कर देती हैं अर्थात् समुद्रवत् हो जाती हैं, उसी प्रकार वासना-मुक्त व्यक्ति ईश्वरत्व को प्राप्त करके ईश्वर-रूप ही हो जाता है।

6. माण्डूक्योपनिषद्—यह उपनिषद् अथर्ववेद से निर्गत है। इसमें केवल बारह मन्त्र ही प्राप्त होते हैं। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने इस उपनिषद् के 'ओंकार' तत्त्व को ईश्वर रूप में मान लेने को अनावश्यक सिद्ध किया है।[1] यथार्थतः इस उपनिषद् में ओंकार को त्रिकालव्यापी सिद्ध करके, उसे ही सब कुछ सिद्ध कर दिया गया है। इसमें आत्मा और परमात्मा को एक ही तत्त्व माना है।

'सोऽयमात्मा ब्रह्म'। इसके साथ ही साथ आत्मा को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा समाधि अवस्था-रूपी चार पैरों वाला सिद्ध किया है। जागृति में आत्मा का स्वरूप वैश्वानर, स्वप्न में तेजस, सुषुप्ति में प्राज्ञ तथा तुरीय या समाधि में कैवल्य या मोक्ष रूप प्राप्त होता है। यद्यपि आत्मा अपने यथार्थ रूप में पूर्णतः विमुक्त है, तथापि संसार-चक्र में उसके विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। अतः आत्मा का चार अवस्थाओं के माध्यम से वर्णन करना पूर्णतः युक्तियुक्त जान पड़ता है। स्वप्नावस्था में आत्मा दस इन्द्रियों, पंच तन्मात्राओं तथा बुद्धि, चित्र, मन एवं अहंकार नामक चार अन्तस्तत्वों के माध्यम से विषयों का उपभोग करती है। अतः यह कहना उपयुक्त ही है कि आत्मा के इन विषय-उपकरणों के माध्यम से जब विषय का भोग होता है, तो इन विषयोपकरणों को समाधि के माध्यम से निष्क्रिय कर देने पर तथा आसक्ति रूपी बीज को जला देने पर विषयोपभोग भी स्वात्मभोग का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार आत्मा का शिवरूप प्रदान करने के लिए तुरीयावस्था का निरूपण करके माण्डूक्य उपनिषद् इतिश्री को प्राप्त होता है।

7. तैत्तिरीयोपनिषद्—प्रस्तुत उपनिषद् का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है। यह उपनिषद् तीन प्रपाठकों शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली में विभक्त है। इस उपनिषद् में ब्रह्म-तत्त्व के विवेचन के साथ-साथ धार्मिक विधानों का भी सुन्दर निरूपण हुआ है। तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में स्वाध्याय-युक्त प्रवचन की महिमा पर कितना सुन्दर प्रकाश डाला गया है—

> ऋतं च स्वाध्यायप्रवचनेच। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च।
> तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्वस्वाध्याय प्रवचने च।
> शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च।
> अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च।
> मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च।
> प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च।
> सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टः।
> स्वाध्यायप्रवचने एनेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्वद्धि तपः।

1 राहुल सांस्कृत्यायन : दर्शन–दिग्दर्शन, माण्डूक्योपनिषद् प्रकरण।

उक्त उपनिषद् में विद्यार्थियों के लक्षणों एवं धारणाओं का सुन्दर विवेचन किया गया है। इस उपनिषद् में समस्त आचार-संहिता का सारांश यही दिया है कि जो कार्य अप्रशंस्य है, वही त्याज्य है तथा जो कार्य प्रशंस्य है, वही ग्राह्य है। यथा—

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

8. ऐतरेयोपनिषद्—ऐतरेय उपनिषद् का सम्बन्ध ऋग्वेद-संहिता के ऐतरेय आरण्यक से है। इस उपनिषद् में तीन अध्याय हैं, जिनमें क्रमशः सृष्टि-रचना, जीवात्मा का स्वरूप तथा ब्रह्म-तत्त्व का विवेचना किया गया है। इस उपनिषद् को लेकर शंकराचार्य ने अद्वैतवाद की पुष्टि करने के लिए सृष्टि-रचना के प्रसंग में सृष्टि-कार्य को ईश्वर की जादूगरी का परिणाम बतलाया है। जीव और ब्रह्म का ऐक्य सिद्ध करने के लिए जगद्गुरु ने अपने इस सिद्धान्त ,ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' का परिपाक कर दिया है। इस उपनिषद् की गूढ़ता दर्शनीय है।

9. छान्दोग्योपनिषद्—इस उपनिषद् का सम्बन्ध सामवेद-संहिता से है। इस उपनिषद् में आठ अध्याय हैं। यह एक बृहदाकार ग्रन्थ है। इसमें राजा जानश्रुति और रैक्व मुनि का अत्यन्त रोचक एवं रहस्यपूर्ण आख्यान भी दिया हुआ है। हिन्दी साहित्य के प्रमुख उपन्यासकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उक्त आख्यान से प्रेरित होकर 'अनामदास का पोथा' उपन्यास लिखा है। इस उपनिषद् में ब्रह्माजी के पास दैत्यराज विरोचन तथा देवराज इन्द्र के पहुँचने के फलस्वरूप ब्रह्मविद्या की विवेचना अत्यन्त मार्मिक बन गई है। उपनिषद् में शाण्डिल्य-विद्या का भी सुन्दर निदर्शन है। रस की गूढ़ता का सुन्दर विवेचन निम्न उदाहरण में द्रष्टव्य है—
एषां सर्वभूतानां पृथिवी रसः। पृथिव्या आपोरसः। अपामोषधयो रसः। ओषधीनां पुरुषो रसः। पुरुषस्य ऋग्रसः। ऋचः सोमरस। साम्न उद्गीथो रसः॥

10. बृहदारण्यकोपनिषद्—यह उपनिषद् समस्त उपनिषदों में विशालकाय है। इसके 'बृहद' शब्द से इसके विशालाकार होने की स्पष्ट सूचना मिलती है। प्रस्तुत उपनिषद् का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेदीय 'शतपथ' ब्राह्मण ग्रन्थ से है। इस ग्रन्थ में आरण्य एवं उपनिषद् तत्त्वों को एकाकार-सा कर दिया गया है। प्रस्तुत उपनिषद् में छः अध्याय हैं। इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद की गम्भीरता दर्शनीय है। ब्रह्मविद्या का इतना सुन्दर और विस्तृत विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। ब्रह्म-तत्त्व का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद, क्षत्रं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद, लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद, देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद, भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद, सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा।"

11. **कौषीतकी उपनिषद्**—कुषीतक नामक ऋषि की शिष्य-परम्परा में कौषीतकी उपनिषद् की रचना हुई। इस उपनिषद् में दो अध्याय हैं। प्रस्तुत उपनिषद् का सम्बन्ध ऋग्वेद-संहिता से है। उपनिषदों में इसे सबसे प्राचीन माना जाता है। इस उपनिषद् में ब्रह्म-तत्त्व का सांगोपांग विवेचन किया है। यह उपनिषद् भी वृहदाकार है।

12. **श्वेताश्वतरोपनिषद्**—इस उपनिषद् का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से है। प्रस्तुत उपनिषद् में छः अध्याय हैं। इस ग्रन्थ में योग-विद्या का ऐसा मार्मिक चित्रण मिलता है कि उसे शैलीगत दृष्टि से सराहे बिना रहा नहीं जा सकता। यदि इस ग्रन्थ को योग-विद्या की पराकाष्ठा कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। जब एक योगी योगानल के माध्यम से ज्योतिर्मय शरीर को प्राप्त कर लेता है तो उसे जरा-मरण तथा व्याधि इत्यादि का किंचिदपि भय नहीं रहता—

"न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्ययोगाग्निमयं शरीरम्"।

इस उपनिषद् की काव्यमयी शैली सराहनीय है।

उपनिषदों का विवेच्य विषय

बारह उपनिषदों का तत्त्व प्रस्तुत करते समय उपनिषदों के विवेच्य विषय का कुछ आभास मिल चुका है। 'उपनिषद्' नाम ही अपने प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने में पूर्णतः समर्थ है। मुख्यतः उपनिषदों में निम्न विषयों का प्रतिपादन हुआ है—

1. ब्रह्म स्वरूप का विवेचन
2. जीवात्मा के रहस्य की व्याख्या
3. प्रकृति या माया का रहस्य
4. संस्कार की आवश्यकता
5. सृष्टि-रचना
6. योगविद्या
7. मोक्ष का स्वरूप

1. **ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन**—ब्रह्म को अखण्ड और अनन्त शक्ति कहकर उसके निर्गुण रूप का विवेचन करना उपनिषदों का सर्वोत्कृष्ट विषय रहा है। उपनिषदों का ब्रह्म एक ऐसी शक्ति है, जो जगत् में व्याप्त होकर भी जगत् से बाहर भी अपना अस्तित्व रखता है। इन्द्रियों से अतीत ईश्वर निष्क्रिय न होकर नितान्त सक्रिय भी है। वह चलकर भी नहीं चलता है। वह दूर भी और पास में भी है। अतः ईश्वर को अन्तर्यामी और बाह्ययामी भी सिद्ध किया है। यथा—

तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ —केनोपनिषद्

ब्रह्म के इस अनिर्वचनीय स्वरूप के आधार पर 'विभावना' अलंकार का विभिन्न भाषागत साहित्यों में प्रयोग किया। गीता का समस्त रहस्य ईश्वर के इसी

स्वरूप पर टिका हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में ऐसी विभावना का बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है—

> बिनु पग चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु कर्म करइ विधि नाना ॥
> आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी वक्ता बड़ जोगी ॥
> तन बिनु परस नयन बिनु देखा। करइ घ्राण बिनु बास अशेषा ॥

अब हमें यहाँ 'ब्रह्म' शब्द के विषय में यह विचार भी कर लेना चाहिए कि यह शब्द संहिता-काल से ही ईश्वर का वाचक है अथवा इसे यह स्वरूप या अर्थ कालान्तर में प्राप्त हुआ। इस सन्दर्भ में स्वर्गीय रामधारीसिंह 'दिनकर' के विचार समीक्ष्य हैं—"मन्त्र का नाम पहिले ब्रह्म था। पीछे उसे ब्रह्मा कहने लगे, जो वेदी के समीप बिठाया जाता था। और भी पीछे चलकर ब्रह्म सृष्टि के अव्यक्त का वाचक हो गया।"[1]

दिनकरजी का उक्त वक्तव्य परम्परागत यथार्थ जान पड़ता है, क्योंकि ब्रह्मविद्या-स्वरूप मन्त्रों को ईश्वर-रूप ही माना गया है। 'मन्त्र' सत्यविद्या है और ज्ञान-स्वरूप ईश्वर भी सत्य तत्त्व है, अतः मन्त्र और ईश्वर एक ही हैं। ऐसे मन्त्रों का उद्गाता अथवा यज्ञ-संचालक ब्रह्मा ईश-भक्त ही कहा जा सकता है, ईश्वर नहीं। परन्तु ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में जिस पुरुष स्वरूप चैतन्य-तत्त्व का वर्णन किया गया है, वह ब्रह्म विशद्-तत्त्व ज्ञान की अभिव्यक्ति के रूप में ब्राह्मण, समाज-रक्षक के रूप में क्षत्रिय, व्यापारिक संचालन के रूप में वैश्य तथा समाज-सेवा के रूप में शूद्र कहलाता है।[2] उस चैतन्य-तत्त्व के अनेक शीश हैं, अनेक पैर हैं, अनेक मुख हैं और सम्पूर्ण संसार उसी में स्थित है।[3] वस्तुतः उन चेतन-तत्त्व का वर्णन 'ब्रह्म' शब्द से भी हुआ है।[4] अतः यह कहना ठीक जान नहीं पड़ता कि 'ब्रह्म' शब्द बहुत पीछे ईश्वर का वाचक बना। अतः 'ब्रह्म' शब्द संहिता-काल से ही ईश्वर का वाचक भी रहा है, वह सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है, वह प्रकाश का अनन्त पुञ्ज है, वह देवों का भी देव है, वह शक्तियों का आदि स्रोत है।

2. जीवात्मा के रहस्य की व्याख्या—माण्डूक्योपनिषद् में जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय नामक चार अवस्थाओं के आधार पर जीवात्मा के समग्र स्वरूप का चित्रण किया गया है। अन्ततः जीवात्मा आनन्द और ज्ञान का ही स्वरूप है। उपनिषद् में जीवात्मा को अंगूठे के परिमाण वाला भी कहा गया है। जीवात्मा को इतना छोटा बताने का अभिप्राय केवल यही है कि जीवात्मा का दर्शन हृदय के रोहिताकाश में ही सम्भव है। उपनिषदों में आत्मा को ब्रह्म का स्वरूप बताया गया है। आसुरी वृत्तियों में अपने आपको प्रवृत्त करना ही आत्म-हनन है। अतः आत्मा का यथार्थ

1 दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 82.
2 ऋग्वेद, 10/90/12
3 वही, 10/90/1
4 "द्यौ शान्ति·····ब्रह्म शान्ति·····।" —यजुर्वेद 36/18

रूप अनुभवगम्य ही है तथा उसे एक चेतना के रूप में ही जानना चाहिए। जीवात्मा के स्वरूप की झाँकी निम्न उदाहरण मे द्रष्टव्य है —

"सोऽयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥"

3. **प्रकृति या माया का रहस्य** –उपनिषदों मे ईश्वर की आज्ञा या भय के फलस्वरूप सूर्य का तप्त होना अग्नि का ज्वलित होना, वायु का वहन तथा जल के प्रवाहित होने का वर्णन किया है। मूल रचना ही प्रकृति है बृहदारण्यकोपनिषद् में इस समस्त मूल रचना को चेतन-तत्त्व स्वरूप ईश्वर में तैरता हुआ सिद्ध किया है। उपनिषदों की प्रकृति असत्य न होकर ईश्वर का ही विराट रूप है।

4. **सरदार की आवश्यकता**– ईशावस्य उपनिषद् में सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीवित रहने की वांछा सदाचार की पराकाष्ठा कही जा सकती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मचारी वर्ग या वटु-वृन्द के लक्षणों को अत्यन्त सुन्दर रूप में चित्रित किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्म-हित को स्पष्ट करने के लिए सभी कार्यों में आत्मीयता को ही अनुस्यूत कर दिया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में रैक्व ऋषि के आचरण के माध्यम से कर्मनिष्ठा की दुहाई दी गई है। अहंकार को विगलित करने के लिए आत्म-प्रकाशन या शेखी बघारने की प्रवृत्ति की निन्दा की गई है। अतिथि सत्कार को महत्त्व देने के लिए 'अतिथिर्देवो भव' तक कह दिया गया है।

5. **सृष्टि-रचना**—सृष्टि-रचना जैसे गूढ़तम विषय को लेकर उपनिषदों में पर्याप्त चर्चा की गई है। बृहदारण्यक उपनिषदों में याज्ञवल्क्य और गार्गेयी के संवाद में आकाश-तत्त्व को ईश्वर में ही अवस्थित बतलाया गया है। ऐतरेय उपनिषद् में सृष्टि-रचना का सविस्तार वर्णन किया गया है। वस्तुतः पृथ्वी जल में, जल अग्नि-तत्त्व में, अग्नि-तत्त्व वायु में, वायु आकाश में संस्थित एवं क्रियाशील है। भावात्मक और जड़-स्वरूप प्रकृति का चेतन-तत्त्व के साथ योग होने से ही सृष्टि की रचना हुई है। यथार्थतः सृष्टि-रचना चेतन-तत्त्व की क्रियाशीलता का परिणाम है।

6. **योगविद्या**—उपनिषदों में ज्ञानमार्ग की प्रधानता है। श्रवण, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन के माध्यम से आत्म-तत्त्व का ज्ञान संभव है। ज्ञानमार्ग की चरम सीमा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है, ही है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में योगमार्ग या ज्ञान मार्ग के माध्यम से जरा, मरण तथा व्याधि-समूह पर विजय पाने का निर्देश किया है। वस्तुतः उद्गीथ विद्या एवं शाडिल्य विद्या जीवात्मा का ब्रह्म के साथ योग कराने के लिए ही खोजी गई हैं। योग विद्या में प्राणायाम को इतना महत्त्व दिया गया है कि उसके बिना कोई भी योगी सतोगुणी वृत्ति को सरलतापूर्वक प्राप्त नहीं कर सकता। चिन्तन के समय एकान्त की अतीव आवश्यकता रहती है। नासिका के वाम रन्ध्र से श्वास लेकर उसे दक्षिण रन्ध्र से निकालने का क्रमपूर्वक अभ्यास करने से नाड़ी-शोधन

होता है। अतः उपनिषदों के ज्ञानमार्ग को योगविद्या के रूप में प्राप्त करके हम यह कह सकते हैं कि वह एक वैज्ञानिक सत्य है।

7. मोक्ष का स्वरूप—कठोपनिषद् में कहा गया है कि शरीर रूपी रथ में आत्मा रूपी रथी आरूढ़ है। इन्द्रियाँ रूपी घोड़े तथा मन रूपी लगाम या वल्गा है। जो व्यक्ति बुद्धि रूपी चतुर सारथी के माध्यम से अपने रथ को संभालकर ब्रह्म रूपी गन्तव्य की ओर चलाता है, उसे शान्ति के समुद्र के समान विष्णुपद या मोक्ष प्राप्त होता है। जिस व्यक्ति की समस्त हृदय ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो चुकी हैं, वह व्यक्ति कामना-शून्य तत्त्व—मोक्ष को प्राप्त होता है। अतः उपनिषदों के मोक्ष का स्वरूप इस प्रकार है—

1. कामना-शून्य स्थिति ही मोक्ष है।
2. मोक्ष शान्ति का अनन्त समुद्र है।
3. मोक्ष जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप ही है।
4. मोक्ष पाने पर पुनरागमन की समाप्ति हो जाती है।
5. मोक्ष वासनातीत तत्त्व है।
6. मोक्ष एक स्थिति है, वह किसी विशिष्ट स्थान पर नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों में ज्ञानमार्ग का सुन्दर निरूपण है। इसीलिए शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ जैसे आचार्यों ने युगानुसार अनेक दार्शनिक विचारधाराओं के प्रवर्तन हेतु उपनिषदों का भाष्य किया। वस्तुतः उपनिषदों में गूढ़तम स्थिति का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है।

उपनिषदों की शिक्षाएँ

उपनिषद् ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। प्रामाणिक एक दर्जन उपनिषदों में ब्रह्म विद्या का दार्शनिक स्तर पर विवेचन किया गया है। उपनिषदों में समाज के परिष्कार को ध्यान में रखकर आत्म-परिष्कार की चर्चा की गई। इसीलिए उपनिषदों की शिक्षाएँ सामाजिक तथा दार्शनिक स्तर की रहीं। यहाँ औपनिषदिक शिक्षाओं का संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है। उपनिषद् की प्रमुख शिक्षाएँ इस प्रकार हैं—

1. स्वाध्याय की महिमा, 2. गुरु का महत्त्व, 3. शिष्य का कर्तव्य, 4. कर्मपरायणता, 5. निरहंकारता, 6. मुमुक्षा, 7. आत्मज्ञान, 8. संसार की असारता, 9. ईश्वरीय ज्ञान तथा 10. पुनर्जन्म।

1. स्वाध्याय की महिमा—सद्ग्रन्थों के नियमित अध्ययन को स्वाध्याय कहा जाता है। यदि सद्ग्रन्थों का प्रेमी प्रमाद को त्यागकर अध्ययन रत रहता है तो उसे संसार के व्यवहार और रहस्य की सहज जानकारी मिल जाती है। स्वाध्याय से व्यक्ति के मानस में निहित भावनाओं की जागृति का अवसर मिलता है। उपनिषद् ग्रन्थों का स्वाध्याय करने से नित्य पावन पथ पर चलने की प्रेरणा मिलती है। स्वाध्याय की महिमा को कठोपनिषद् में आचार्य यम और नचिकेता के प्रसंग में

स्पष्ट किया गया है। उपनिषदों में स्वाध्याय की महिमा का प्रकाशक ग्रन्थ 'तैत्तिरीयोपनिषद्' उल्लेखनीय है। मुण्डकोपनिषद् में भी स्वाध्याय के रहस्य पर प्रकाश डाला गया है। 'छान्दोग्य' तथा 'वृहदारण्यकोपनिषद्' विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से स्वाध्याय की महिमा का ही गान करते हैं। अतः उपनिषदों में यथार्थ ज्ञान के मार्ग पर चलने का एकमात्र आधार स्वाध्याय को ही सिद्ध किया है। स्वाध्याय आत्म-परिष्कार की प्रथम सीढ़ी है।

2. गुरु का महत्त्व—वेदविद् गुरु के महत्त्व के प्रकाशन के लिए कठोपनिषद् में अनेक प्रकार की चर्चाएँ हुई हैं। ज्ञान-पिपासु शिष्य को वेदज्ञ गुरु को खोजना चाहिए क्योंकि उसके अभाव में ज्ञानसूर्य से आलोकित पथ पर चलना असंभव है। जो गुरु यथार्थ ज्ञान को पाकर प्रायः मौन साधे रहता है अथवा गम्भीर बना रहता है, वही यथार्थ गुरु होता है। शिष्य की जिज्ञासा का परितोष करने के लिए शिष्य की सुमधुर वाणी रामवाण औषधि का कार्य करती है। अविद्या से ग्रस्त व्यक्ति अपने आपको धीर-गम्भीर तथा प्रकाण्ड पण्डित समझकर स्वयं को अज्ञान-रूपी कूप में डालते हुए अपने अनुयायियों को भी अज्ञता के कूप में गिरने के लिए विवश किया करते हैं। समस्त औपनिषदिक ज्ञान गुरुजनों की ही देन है। इसीलिए औपनिषदिक ज्ञान भी गुरु है। उपनिषदों में ईश्वर को गुरुओं का भी गुरु कहा गया है। उस ज्ञान-ज्ञेय रहस्यमय तत्त्व को जानकर व्यक्ति गुरुता को प्राप्त कर लेता है। ऐसे गुरुजनों के ज्ञानलोक से संसार अज्ञान-अन्धकार को दूर करता है तथा सामाजिक व्यवस्थाएँ सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ करती हैं। कठोपनिषद् के 'अज्ञानेनैव नीयमानाः यथान्धाः' रहस्य को महात्मा कबीर ने निम्न रूप में शिक्षार्थ प्रस्तुत किया है।

"जाका गुरु है आंधरा, चेला निपट निरंध।
अन्धा अन्धेहि ठेलिया, दोनों कूप परन्त ॥"

3. शिष्य का कर्त्तव्य—'तैत्तिरीयोपनिषद्' में शिष्यों या विद्यार्थियों के दीक्षान्त समारोह जैसा चित्रण किया है। विद्यार्थी को चाहिए कि वह माता-पिता को देव-तुल्य समझे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर अतिथि के सत्कार के सन्दर्भ में 'अतिथिर्देवो भव'.....अर्थात् अतिथि देवता होता है, यही आदेश एवं अनुदेश दिया गया है। विद्यार्थी का यह पावन कृत्य है कि वह यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए सद्गुरु को ढूंढ़े। 'कठोपनिषद्' में नचिकेता ने आचार्य यम को ढूंढ़कर आध्यात्म ज्ञान प्राप्त किया, यह स्पष्टतः बताया गया है। इसी प्रकार 'प्रश्नोपनिषद्' के अनेक आचार्यों तथा शिष्यों के प्रश्नोत्तरों की चर्चा भी यही सिद्ध करती है कि विद्यार्थी को ज्ञान वर्धन के लिए विद्वान् गुरुजनों की खोज करनी चाहिए। विद्यार्थी तर्क और सेवा के द्वारा सदैव ज्ञानार्जन करे, यह उपनिषदों की परम पुनीत शिक्षा है। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है। उपनिषदो में ब्रह्मचर्य और विद्यार्जन का अटूट सम्बन्ध स्थापित किया गया है। विद्यार्थी के लिए एकान्तवास तथा दत्तचित्तता अनिवार्य बताया गया है। उपनिषदों में शिष्य या विद्यार्थी के कर्त्तव्यों

की इतनी मधुरता और पावनता प्रदान की गई है कि विद्यार्थी समाज के कर्णधार के रूप में भी पूर्ण ईमानदारी तथा कर्मठता का परिचय दे, इस भावना और धारणा को उजागर कर दिया गया है।

4. **कर्मपरायणता**—वेदों के कर्मवाद को उपनिषदों में निष्काम कर्म योग का स्वरूप प्रदान किया गया है। उपनिषदों ने समाज को आशावादी बनाने के लिए सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीवित रहने की शिक्षा दी। त्याग की नीति को अपनाकर कर्मरत रहने की शिक्षा औपनिषदिक युग में ही दी गई। कर्मपरायण मार्ग को निश्चित करते समय समस्त सदाचार को सम्यक् मान्यता दे दी गई। योगपूर्ण भोग[1] के विषय में बुलन्द स्वर उठाया गया। किसी के धन को मृत्तिका या लोष्ठवत् समझने का उपदेश दिया गया। नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करने के साथ-साथ उपासना से सम्बद्ध कर्मों को करने की भी प्रेरणाएँ दी गयीं। अशुभ मार्ग पर चलना आत्मा का हनन करना है। अतएव जो व्यक्ति पतित पथ को अपनाते हैं वे अज्ञतापूर्ण अन्धकार के लोकों में निवास करते हैं। अन्ततः यह शरीर भस्मसात् हो जाता है, अतः हमें ईमानदारी से ही कार्य करना चाहिए। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में महर्षि याज्ञवल्क्य के प्रसंग में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि गृहस्थ को सुचारु रूप से संचालित करके ही परमार्थ की साधना हेतु प्रयाण करना चाहिए। अग्निहोत्र सम्पादित करते हुए वातावरण को पवित्र बनाना चाहिए। स्वाध्याय करके पावन पथ अपनाना चाहिए। सत्य एवं मृदुवचन बोलकर वाणी का तप करना चाहिए। जो कार्य प्रशंसनीय है, उन्हीं को करना चाहिए। श्रद्धापूर्वक कर्मठता को अपनाना चाहिए। जिन आदर्शों को अपनाने से हम चरित्रवान् बन सकते हैं, उन्हें अवश्य ही अपनाना चाहिए। कर्मपरायणता आत्म ज्ञान की प्राप्ति में नितान्त सहायक तत्त्व है।

5. **निरहंकारता**—'केनोपनिषद्' में अनहंकारी भावना को स्पष्ट किया गया है। एक ज्ञानी व्यक्ति वह है जो यथार्थ को जानकर भी यही कहता है कि मैंने यथार्थ को नहीं जाना। जो व्यक्ति कुछ ग्रन्थों का अध्ययन करके यथार्थ तत्त्व को जानने का दावा करता है, उसने यथार्थ को नहीं जाना। 'छान्दोग्योपनिषद्' में रैक्व ऋषि के आख्यान के द्वारा निरहंकारता की शिक्षा दी गई है। महर्षि नारद अनेक विद्याओं को जानकर भी आत्मतोष प्राप्त नहीं कर सके, क्योंकि सांसारिक विद्याएँ व्यक्ति को प्रभुता के मद से मदोन्मत्त कर देती हैं। जब नारद सनत्कुमार से मिले तो सनत्कुमार ने आत्मविद्या को अहंकार को दूर करने की संजीवनी बताया। 'ईशावास्योपनिषद्' में ऐसे व्यक्तियों की चर्चा हुई है, जो प्रकृति की उपासना करके अपने आपको मुक्त व्यक्ति या सिद्ध पुरुष मानने लगते हैं। ऐसे व्यक्ति घोर अन्धकार से पूर्ण कूप में युग-युग पर्यन्त निवास किया करते हैं। यदि कोई व्यक्ति श्रेष्ठ ग्रन्थों का अध्ययन करके भी श्रेष्ठ मार्ग को नहीं अपनाता तो वह व्यक्ति उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक पापी है जो अज्ञानग्रस्त होने के कारण

1 ईशावस्योपनिषद, 1.

शुभाचरण नहीं कर पाता। जो व्यक्ति यह मानता है कि मैं ही कार्यकर्त्ता हूँ, वह अहंकार से ग्रस्त होने के कारण पतनोन्मुख होता है। अविद्या के संसार में संसृत होने वाले व्यक्ति स्वयं को धोखा देने के साथ-साथ दूसरे व्यक्तियों को भी अपनी अहंकारी प्रवृत्ति के कारण कुमार्गगामी बनाते हैं। अतएव निरहंकारता परम आवश्यक गुण है। अहंकार के त्याग का एकमात्र आधार आध्यात्म विद्या ही है।

6. मुमुक्षा—उपनिषद् ब्रह्मविद्या के प्रस्तुतकर्त्ता ग्रन्थ होने के कारण पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष को सर्वाधिक महत्त्व देते रहे हैं। नित्य-नैमित्तिक कर्मों को सम्पादित करते रहने पर मोक्ष की प्राप्ति की सबल इच्छा रहनी चाहिए। एक मुमुक्षु व्यक्ति समस्त सांसारिक सिद्धियों या सफलताओं को प्राप्त करता हुआ भी अपने आत्मरूप को प्राप्त करने के लिए सचेत रहता है। मुमुक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वह एकान्त परायण बने। जिस लोक में या स्थान पर बिजलियाँ अपनी चमक नहीं पहुँचा सकती, जहाँ सूर्य की किरणों का प्रवेश नहीं है जहाँ चन्द्र की चाँदनी नहीं प्रसर सकती ···वह मुमुक्षुओं का पारमार्थिक लक्ष्य मोक्ष है। 'वृहदारण्यकोपनिषद्' की मैत्रेयी महर्षि याज्ञवलक्य के द्वारा सम्पत्ति दिए जाने पर भी सन्तुष्ट न हुई। उसने केवल यही कहा कि "मैं जिसे प्राप्त करके अमर नहीं हो सकती उसे लेकर क्या करूँ! यथा—येनाहं नम्रता स्याम् तेन किं कुर्याम्।" मोक्ष की इच्छा के कारण निष्काम कमयोग साकार होता है। निष्काम कर्मयोग के द्वारा व्यक्ति अनन्त ज्ञान के पथ पर अग्रसर होता है। जहाँ मुमुक्षा है, शान्ति वहीं है।

7. आत्मज्ञान—उपनिषदों में आत्मा को ब्रह्म कहा गया है।[1] गूढ़-तत्त्व आत्मा का सबके सामने प्रकाश नहीं होता। आत्मा केवल सूक्ष्म दृष्टि से अथवा ज्ञान-नेत्रों से ही दर्शनीय है। आत्मा का निवास हृदय के रोहिताकाश नामक भाग में कहा है। आत्मज्ञानोन्मुख व्यक्ति अविद्या तथा दोनों के ही रहस्य को जानकर जरा-मरण के चक्र से निवृत्त हो जाता है—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ —ईशावास्योपनिषद्।

श्वेताश्वरोपनिषद् में योगसाधना को आत्मज्ञान का मूल कारण सिद्ध किया गया है। एक साधक एकान्तसेवी होकर भय को त्याग कर स्वस्थ मन से निरन्तर आत्म-चिन्तन करता हुआ मोक्ष की शान्ति को प्राप्त होता है। आत्मज्ञान की ओर बढ़ने वाले व्यक्ति के चित्त में सहज प्रसाद या सुख की अनुभूति होती रहती है। योगोन्मुख व्यक्ति का कण्ठ सुमधुरता को प्राप्त होता चला जाता है; उसके शरीर में एक विशेष प्रकार की स्फूर्ति होती चली जाती है। आत्मज्ञान प्राप्त करने वाला व्यक्ति सच्चा गुरु होता है। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि शरीर रूपी रथ में आत्मा रूपी रथी बैठा हुआ है। बुद्धि रूपी सारथी इन्द्रिय रूपी घोड़ों की मन रूपी रास को पकड़कर शरीर-रथ को संचालित करता है। जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ असंयमित हैं, अथवा जिसकी बुद्धि अस्थिर है, उस व्यक्ति का अधःपतन अवश्यम्भावी

1 माण्डूक्योपनिषद, 2

है। आत्म ज्ञान का मार्ग कृपाण की तीक्ष्ण धार के तुल्य होता है। इस मार्ग पर चलना तरण-तारण व्यक्तियों के सामर्थ्य की ही चीज है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय नामक चार अवस्थाओं के क्रम में व्यक्ति को आत्मज्ञान प्राप्त होता है। आत्मज्ञान पुरुषार्थलभ्य होता है। कोई बलहीन व्यक्ति आत्म ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मज्ञान प्रवचन से भी प्राप्त नहीं होता। व्यक्ति शास्त्र विधि के द्वारा आत्मा की ओर बढ़ता है, आत्मा का प्रकाश उसके सामने स्वतः प्रकट हो जाता है तथा वह व्यक्ति आत्मरूपता को प्राप्त कर लेता है।

8. **संसार की असारता**—उपनिषदों में संसार की शिक्षा अनेक रूपों में दी गई है। जब एक व्यक्ति अन्न को अपने जीवन का सर्वस्व मानता है, तो उसे अपनी आत्मा अन्न के रूप में ही जान पड़ती है—'अन्नमेव प्राणः।' जब व्यक्ति 'उपाहम्' से थोड़ा ऊपर उठता है तो उसे प्राणशक्ति का अनुभव होता है और वह प्राणशक्ति को ही अपनी आत्मा मानने लगता है। जब वही व्यक्ति मन के स्वरूप को समझता है तो उसे मन ही आत्मा के रूप में जान पड़ता है। वही व्यक्ति बुद्धि-तत्त्व का महत्त्व समझ कर बुद्धि या विज्ञान-तत्त्व को अपनी आत्मा मानने लगता है। ऐसा विज्ञानवादी व्यक्ति विशुद्ध आनन्द का अनुभव करके आनन्द-तत्त्व को ही आत्मा मानने लगता है। आनन्द का आत्म-तत्त्व के रूप में अनुभव करने पर समस्त संसार फीका लगने लगता है। व्यक्ति शिव-तत्त्व को जानकर संसार की असारता को भली-भाँति समझ जाता है। संसार की असारता को समझने के लिए एक सुन्दर उदाहरण दिया गया है। एक वृक्ष की दो शाखाओं पर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक वृक्ष के फलों को खाता है तथा दूसरा उसे देखता मात्र है। फलभोक्ता पक्षी सुख-दुःख से लिप्त रहता है तथा फलद्रष्टा सुख-दुःख से असम्पृक्त रहता है। अतः सांसारिक भोगों में लिप्त व्यक्ति आवागमन का शिकार बनता है तथा संसार का द्रष्टा ईश्वरत्व प्राप्त व्यक्ति संसार की असारता को जानकर निर्द्वन्द्व हो जाता है।

9. **ईश्वरीय ज्ञान**—'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म'—अर्थात् सत्य एवं अनन्त ज्ञान-स्वरूप ईश्वर को जानना ही अनन्त ज्ञान को प्राप्त करना है। ईश्वरीय ज्ञान, ज्ञान की पराकाष्ठा है। एक व्यक्ति ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करके ईश्वर रूप ही हो जाता है—'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।' जब एक व्यक्ति की समस्त वासनाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं तब वह अमरता का वरण करता है। जिस प्रकार से नदियाँ समुद्र में मिलकर विश्राम करती हैं, उसी प्रकार जीवात्मा ईश्वर में विलीन होकर अखण्ड आनन्द को प्राप्त करती है। ईश्वरीय ज्ञान आत्मा का ही ज्ञान है। ईश्वरीय ज्ञान होने पर सम्पूर्ण जगत् ईश्वरवत् प्रतीत होने लगता है...."सर्वम् खल्विदं ब्रह्म।" उपनिषदों में सत्य और यथार्थ ज्ञान के रूप में ईश्वरीय ज्ञान को ही स्वीकार किया है। इसी से मुक्ति या मोक्ष सम्भव है।

10. **पुनर्जन्म**—छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि अल्प धार्मिकता या साधना में सुख नहीं है। सुख की असीमता केवल भूमा या अखण्ड साधना-शक्ति में ही

होती है। जब तक जीव कर्मों के बन्धन में बंधकर भटकता है तब तक उसे जन्म जन्मान्तर के रूप में विभिन्न योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। जीव आत्मरूपता को प्राप्त कर लेने पर पुनर्जन्म के चक्र से दूर हट जाता है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में योगानल-सदृश शरीर को पाने वाले योगी को जरा-मरण के बन्धन से अतीव बताया गया।

"न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥"

'विमुक्तोऽमृतमश्नुते'····अर्थात् माया-मुक्त व्यक्ति ही जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होता है। आत्म-तत्त्व को जानने वाले व्यक्ति के समस्त संस्कार संसार में ही विलीन हो जाते हैं····"सर्वे इहैव प्रविलीयन्ते।" अतः उपनिषदों में पुनर्जन्म को वैज्ञानिक रूप देकर उससे मुक्ति पाने के उपायों की भी शिक्षा दी गई है।

उपनिषदों के अनुशीलन से इस निष्कर्ष पर पहुँचना सरल है कि उपनिषद् ग्रन्थ निष्काम कर्मयोग के आधार पर सामाजिक कार्यों की शिक्षा प्रदान करते रहे। उपनिषदों में दार्शनिक स्तर की शिक्षाएँ अत्यन्त व्यापक हैं। हमारे समाज को उद्धरित करने के लिए उपनिषदों की जो भूमिका रही है, उसे वेदवेत्ता ही भलीभाँति समझ सकते हैं। उपनिषदों की शिक्षाओं को ध्यान में रखकर शोपेनहार को यहाँ तक कहना पड़ा कि उपनिषद् संसार के महानतम ज्ञान केन्द्र हैं। उपनिषदों से जीवितावस्था में शान्ति मिलती है तथा वे मृत्यु को भी शान्तिमय बनाने में पूर्णतः समर्थ हैं—"In the world there is no study so elevating as that of Upnishadas. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death."

षड्-वेदांग
(Six Parts of the Vedas)

वेद के छः अंग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। ये सभी वेदांग वेदों की यथार्थ जानकारी के लिए सहायक हैं। हम इनका संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करते हैं—

शिक्षा—वर्णों के उच्चारण की विधि का नाम शिक्षा है। वेदों के स्वर तीन प्रकार के हैं-उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। ऊँचे स्वर में उच्चरित वर्ण उदात्त कहलाता है—उच्चैरुदात्तः; नीचे स्वर में उच्चरित वर्ण अनुदात्त कहलाता है—नीचैरुदात्तः; उदात्त और अनुदात्त के बीच के स्वर में उच्चरित वर्ण स्वरित कहलाता है—'समाहारः स्वरितः'। संक्षेपतः 'शिक्षा' में भाषा-विज्ञान की अधिकांश बातें समाहित रहा करती हैं।

कल्प—'कल्प' शब्द का अर्थ है एक उदार कल्पना या व्यवस्था। इसीलिए कल्पसूत्रों में यज्ञों की विधियाँ, आचार-संहिता आदि का सुन्दर विवेचन किया है। हम कल्पसूत्रों का वर्णन आगे पृथक् रूप से करेंगे।

व्याकरण—शब्द-रचना या शब्द-व्याकलन विधिशास्त्र का नाम व्याकरण है। आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी, प्रातिशाख्य ग्रन्थ व्याकरण के ग्रन्थ हैं। 'अष्टाध्यायी' लौकिक संस्कृत का प्रामाणिक ग्रन्थ है।

निरुक्त—शब्द-बोध कराने के शास्त्र का नाम निरुक्त है। निरुक्त के माध्यम से वैदिक शब्दों की जानकारी होती है। आचार्य यास्क का 'निरुक्त' एक प्रामाणिक निरुक्त-ग्रन्थ है।

छन्द—वृत्त-व्यवस्था का नाम छन्द है। गद्य से पद्य को पृथक् करने के लिए सबल आधार छन्द ही है। वेदों में निम्न छन्दों का प्रयोग हुआ है—गायत्री, जगती, त्रिष्टुप, पंक्ति, बृहती, अनुष्टुप, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अभिकृति, उत्कृति इत्यादि। आचार्य हेमचन्द का छन्दोऽनुशासन ग्रन्थ छन्दशास्त्र के रूप में विख्यात है।

ज्योतिष—ग्रह-ज्ञान या काल-ज्ञान विद्या का नाम ज्योतिष है। यज्ञ-क्रियाओं की सफलतापूर्वक समाप्ति के लिए ज्योतिष उपादेय है। ज्योतिष एक प्रकार से एक महान् गणित है। 'वेदांगज्योतिष' ग्रन्थ में ज्योतिष का महत्त्व निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदांगशास्त्राणां गणितं मूर्धिन संस्थितम् ॥

सूत्र-ग्रन्थ
(Sutras)

सूत्र का स्वरूप एवं सूत्र ग्रन्थों का वर्गीकरण

'सूत्र' शब्द का अर्थ है—धागा। जिस प्रकार धागे में पत्र-प्रवाल, मणि-माणिक्य आदि पिरोकर माला बनाई जाती है, उसी प्रकार छोटे-छोटे वाक्यों में अनेक भावों को परिपूरित करके सूत्रों की रचना होती है। अतः सूत्र के माध्यम से गागर में सागर मुहावरे को चरितार्थ किया जाता है। सूत्र की परिभाषा इस प्रकार है—'अर्थ अमित आखर अति थोरे।'—अर्थात कतिपय अक्षरों में या शब्दों में असीमित अर्थ को प्रतिपादित करना ही 'सूत्र' है। इस आधार पर यह कहना पूर्णतः ठीक होगा कि जो ग्रन्थ सूत्र-शैली में रचित हैं, वही सूत्र-ग्रन्थ हैं। हम वेद के छः अंगों की चर्चा करते समय 'कल्प' का भी परिचय दे आये हैं। वेद के 'कल्प' अंग से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ रचे गये, जिन्हें 'कल्पसूत्र' नाम से अभिहित किया जाता है। परन्तु, वैदिक साहित्य में प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में भी सूत्र-शैली का प्रयोग किया है, अतः वे भी सूत्र-ग्रन्थों के रूप में विवेच्य हो सकते हैं।

कल्पसूत्र—'कल्प' का अर्थ है—आदेश, अनुदेश, न्याय, युक्ति, कर्म इत्यादि। इसी तरह 'सूत्र' का अर्थ है संक्षेपण या संक्षिप्त शैली या सूक्तिपूर्ण शैली। अतः कल्पसूत्र-ग्रन्थों में अनेक धर्म-विधियों, यज्ञानुष्ठानों, कर्म-विधानों तथा अन्य नियमों का वर्णन करने के लिए सूत्र-शैली को आधार बनाया गया है। कर्म-प्रतिपादन की दृष्टि से कल्पसूत्रों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से है—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र।

श्रौत्रसूत्र—श्रुति—अर्थात् वेद में यज्ञ की प्रधानता है। इसीलिए यज्ञों के प्रतिपादक ग्रन्थों को श्रौत्रसूत्र कहा गया है। श्रौत्रसूत्रों मे सम्पूर्ण यज्ञ-विधानों की चर्चा की गई है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी यज्ञ-होम इत्यादि का प्रतिपादन है, परन्तु वे सूत्र शैली में न होकर काव्यात्मक और वर्णनात्मक शैली में रचित हैं। अतः यज्ञ के विधानों को सरलतापूर्वक कण्ठस्थ रखने के लिए श्रौत्रसूत्रों की अनुपम उपादेयता है। प्रमुख श्रौत्रसूत्र इस प्रकार हैं—आश्वलायन-श्रौत्रसूत्र, शांखायन-श्रौत्रसूत्र, मानव-श्रौत्रसूत्र, बोधायन-श्रौत्रसूत्र, आपस्तम्भ-श्रौत्रसूत्र हिरण्यकेशी-श्रौत्रसूत्र कात्यायन-श्रौत्रसूत्र, लाट्यायन-श्रौत्रसूत्र, द्राह्यायण-श्रौत्रसूत्र, जैमिनीय श्रौत्रसूत्र तथा वैतान श्रौत्रसूत्र।

गृह्यसूत्र—गृह्यसूत्रों में गृहस्थाश्रम के समस्त संस्कारों एवं सदाचारों का वर्णन किया गया है। गृहस्थ जीवन को सरस बनाने के लिए गृह्यसूत्रों की रचना की गई है। प्रमुख गृह्यसूत्र निम्नलिखित हैं—आश्वलायन गृह्यसूत्र, शांखायन-गृह्यसूत्र, मानव-गृह्यसूत्र, बोधायन-गृह्यसूत्र, आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, हिरण्यकेशी-गृह्यसूत्र, भारद्वाज-गृह्यसूत्र, पारस्कर-गृह्यसूत्र, द्राह्यायण-गृह्यसूत्र, गोभिल गृह्यसूत्र, खदिर-गृह्यसूत्र एवं कौशिक-गृह्यसूत्र।

धर्मसूत्र—वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्था को लेकर धर्मसूत्रों की रचना की गई। 'धर्म' एक व्यापक शब्द है, जिसमें सभ्यता और संस्कृति को समाहित किया जाता है। समस्त धर्म-व्यवस्थाओं का संग्रह धर्मसूत्रों में द्रष्टव्य है। प्रधान धर्मसूत्र इस प्रकार हैं—वशिष्टधर्मसूत्र, मानव धर्मसूत्र, बोधायन धर्मसूत्र आपस्तम्भ धर्मसूत्र, और गौतमधर्मसूत्र।

वेदों के आधार पर कल्पसूत्रों का वर्गीकरण

वैदिक संहिताओं को लेकर केवल ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्-ग्रन्थों की ही रचना न होकर, कल्पसूत्रों की भी रचना हुई है। चारों वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के आधार पर कल्पसूत्रों का वर्गीकरण निम्न भाँति किया जा सकता है--

ऋग्वेद के कल्पसूत्र—ऋग्वेद से सम्बद्ध दो सूत्र-ग्रन्थ हैं—आश्वलायन तथा शांखायन। आश्वलायन श्रौत्रसूत्र तथा आश्वलायन गृहस्थसूत्र के साथ-साथ शांखायन-श्रौत्रसूत्र एवं शांखायन-गृह्यसूत्र भी ऋग्वेद से जुड़े हुए हैं। उक्त सूत्रों पर अनेक भाष्य भी प्राप्त होते हैं। इन सूत्र-ग्रन्थों को विभिन्न अध्यायों में विभाजित करके एक-एक विषय का क्रमबद्ध विवेचन किया गया है।

यजुर्वेद के कल्पसूत्र—यजुर्वेद के कल्पसूत्रों में आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी बोधायन प्रसिद्ध हैं। इस वेद से सम्बद्ध श्रौत्रसूत्रों में मानव, लोगाक्षि, कठ और काव्य विख्यात हैं। आधुनिक युग में आप स्तम्ब-धर्मसूत्र को बहुत अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। आप स्तम्ब का शुल्वसूत्र भी यजुर्वेद से सम्बद्ध है।

सामवेद के कल्पसूत्र—सामवेद की कौथुमीय शाखा का लाट्यायन श्रौत्रसूत्र प्रसिद्ध हैं। इसी वेद के पंचविंश ब्राह्मण का श्रौत्रसूत्र 'माशक' नाम से जाना जाता

है। उक्त वेद की राणायणीय शाखा से सम्बन्धित द्राह्यायण श्रौत्रसूत्र है। सामवेद के ग्रह्यसूत्रों में गोभिल तथा खदिर प्रसिद्ध अन्य सूत्र-ग्रन्थ इस प्रकार हैं—ताण्डय लक्षण-सूत्र, उपग्रन्यसूत्र, अनुस्तोमसूत्र, क्षुद्रसूत्र इत्यादि।

अथर्वेद के कल्पसूत्र—अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण 'गोपथ' है। इस ब्राह्मण के आधार पर पांच सूत्र-ग्रन्थों का विकास हुआ, जिनके नाम इस प्रकार हैं—कौशिक-सूत्र, वैतान-सूत्र, नक्षत्रकल्प सूत्र, अंगिरस-कल्पसूत्र और शान्तिकल्पसूत्र। इन सूत्र-ग्रन्थों के अतिरिक्त अथर्ववेद से सम्बद्ध 'आथर्वण-कल्पसूत्र' का भी उल्लेख किया गया है।

कल्पसूत्रों की रचना की आवश्यकता—सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मौखिक रूप में जीवित था। लिखिवद्ध ज्ञान के अभाव में मौखिक ज्ञान को सुरक्षित रखना असम्भवप्राय: हो चला था। इसी कारण से वैदिक यज्ञ-विधानों को जीवित रखने के लिए उन्हें सूत्रों में प्रतिपादित कर दिया गया। इन सूत्रों को याद रखना अपेक्षाकृत सरल था। इसी सूत्र-काल में भोजपत्रों तथा ताड़पत्रों के ऊपर लिखने की पद्धति प्रारम्भ हुई। सूत्र-युग का आविर्भाव लगभग 600 से 700 ई. पू. तक स्वीकार किया जाता है।

कल्पसूत्रों का वर्ण्य-विषय

हिन्दू-धर्म की उपादेयता को साकार करने का उद्देश्य लेकर सूत्र-शैली में कल्पसूत्रों की रचना हुई। इन सूत्र-ग्रन्थों का विवेच्य निम्न रूपों में देखा जा सकता है—

1. यज्ञों का वर्गीकरण,
2. गृहस्थ-धर्म का विवेचन,
3. वर्णाश्रम-धर्म का स्पष्टीकरण तथा
4. अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं का प्रतिपादन।

1. यज्ञों का वर्गीकरण—श्रौत्रसूत्रों में चौदह प्रकार के यज्ञों का विधान स्पष्ट किया गया है। इन यज्ञों में सोमरस के पान की भी विस्तार से चर्चा की गई है। सोमरस के अनुष्ठान से सम्बन्धित सोमयज्ञ की भी चर्चा की गई है। 'यज्ञपरिभाषासूत्र' में तीन प्रकार के यज्ञों—सोमसंस्था यज्ञ, हवि:संस्था यज्ञ तथा पाक संस्था यज्ञ का सुन्दर विवेचन हुआ है। उपर्युक्त तीनों प्रकार के यज्ञों को सात-सात भागों में विभाजित किया गया है। यथा—

सोमसंस्था यज्ञ—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र एवं आप्तोर्याम।

हविसंस्था यज्ञ—अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मासस्य एवं पशुबन्ध।

पाकसंस्था यज्ञ—सायंहोत्र, प्रातर्होत्र, स्थालीपाक, नवयज्ञ, वैश्वदेव, पितृयज्ञ तथा अष्टका। इन सब यज्ञों के माध्यम से वायुमण्डल को शुद्ध करने के साथ-साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण की शुद्धि पर भी बल दिया गया है।

2. गृहस्थ-धर्म का विवेचन—'सर्वेषां आश्रमाणां गृहस्थाश्रम विशिष्यते'। अर्थात् सभी आश्रमो में गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुतः इस आश्रम के ऊपर ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास नामक आश्रम भी आश्रित रहते है। प्रत्यक्षतः यह देखा ही जाता है कि समस्त उन्नति-विधान गृहस्थाश्रम को ही लक्ष्य करके किए जाते हैं। हमारे विद्वानों ने गृहस्थाश्रम में ही सभी आश्रमों का दर्शन करने पर बल दिया है। सूत्र-ग्रन्थो में गृहस्थ के लिए कुछ यज्ञों को अनुष्ठित करना आवश्यक कहा है। वे मुख्य यज्ञ इस प्रकार हैं—

गृह यज्ञ—पितृयज्ञ, पार्वणयज्ञ, अष्टकायज्ञ, श्रावणी यज्ञ, अश्वायुजी यज्ञ, आग्रहायणी यज्ञ एवं चैत्रीयज्ञ।

महायज्ञ—देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ एवं नृयज्ञ।

गृहस्थ जीवन को सुखी और संयत् रखने के लिए आरोग्यता की सर्वाधिक आवश्यकता है। इसीलिए 'कौशिक गृह्यसूत्र' में अनेक रोगों तथा दैविक विपत्तियों को दूर करने के लिए अनेक मन्त्र लिखे हैं। पितृ यज्ञ के माध्यम से पूर्वजों का नाम उजागर करने वाली सन्तान या संतति का विकास करना है तथा नृयज्ञ के माध्यम से मानवतावादी संदेश प्रेषित करना है। अतः गृहस्थ-धर्म से सम्बद्ध विभिन्न यज्ञ अपनी अलग ही उपादेयता हैं।

गृहस्थ-धर्म का मूल दाम्पत्य जीवन है। दाम्पत्य जीवन को सफल बनाने के लिए कुछ वैवाहिक विधि-निषेध की चर्चा भी सूत्र ग्रन्थों में की गई है। विवाह आठ प्रकार के है—ब्राह्म, देव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच। प्रथम चारों प्रकार के विवाह प्रशंसनीय तथा अन्तिम चारों प्रकार के विवाह निन्दनीय कहे गए हैं। दाम्पत्य जीवन में सोलह संस्कारों का भी बड़ा महत्त्व है। अतः सूत्र-ग्रन्थों मे गृहस्थ-धर्म की सजीवता को प्रमाणीभूत किया है।

3. वर्णाश्रम-धर्म का स्पष्टीकरण—धर्मसूत्रों में चार प्रकार के वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कार्यो का युक्तियुक्त विवेचन हुआ है। 'गौतमधर्मसूत्र' में द्विजातियाँ—ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को खान-पान की दृष्टि से समान स्तर पर देखा गया है। शूद्रों को अन्य वर्गो की बराबरी का दर्जा न देने के कारण सूत्र-ग्रन्थों ने भी 'शोषक-शोष्य' अध्याय को पूर्ववत् रखा। उपनिषदों ने ब्रह्म-विद्या के आधार पर सबको ब्रह्म-रूप में देखने का प्रयास करके समानता की स्थापना की, परन्तु सूत्र-ग्रन्थों ने उस समानता को दृष्टि से अपगत करके असमानता के अध्याय का पुनः श्रीगणेश कर दिया। इसीलिए वैवाहिक सीमाएँ भी कट्टरता को प्राप्त हो गईं तथा रूढ़िवादिता को पुनः पनपने का अवसर प्राप्त होने लगा। इन्हीं रूढ़ियों के फलस्वरूप ई. पू. छठी शताब्दी में युगपत् बौद्ध तथा जैन धर्मों का उदय हुआ। कुछ धर्मसूत्रों में दुहाई देकर भी दण्ड-व्यवस्था के प्रसंग में ब्राह्मणों को नाममात्र दण्ड तथा अन्य वर्गो को अपेक्षाकृत अधिक दण्ड देने की व्यवस्था की गई। अतः सूत्र-ग्रन्थों में ब्राह्मण धर्म की कट्टरताओं को सुरक्षित रख लिया गया, इसीलिए सूत्र-ग्रन्थों का धर्म भी 'ब्राह्मण-धर्म' नाम से जाना गया।

अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं का प्रतिपादन—हिन्दू-धर्म को सुरक्षित रखने के लिए विदेशी-सम्पर्क को घृणा और जुगुप्सा की दृष्टि से देखा जाने लगा था। इसीलिए सूत्र-ग्रन्थों में समुद्र-यात्रा का भी निषेध कर दिया गया। यदि कोई व्यक्ति विदेशी नागरिकों से वैवाहिक सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा करता तो उसे धर्म-द्रोही माना जाता। विवाह के विषय में वर-कन्या से सम्बन्धित जितनी भी गहराइयाँ हो सकती हैं, उन सबको धर्मसूत्रों में स्थान दिया गया। वस्तुतः धर्मसूत्र जिसे वर्ण-व्यवस्था घोषित कर रहे थे, वह जाति-व्यवस्था बन चुकी थी और न जाने कितनी ही रूढ़ियों—अन्धविश्वासों का विशिष्ट सूत्रपात भी सूत्र-काल में ही हुआ। फिर भी सूत्र-ग्रन्थों की उपादेयता हिन्दू-धर्म के परिप्रेक्ष्य में अपरिहार्य कही जा सकती है।

सूत्र-ग्रन्थों का अन्य ग्रन्थों पर प्रभाव

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट ही हो चुका है कि सूत्र-ग्रन्थों का रूढ़िगत अर्थ कल्पसूत्रों से ही है। परन्तु सूत्र-शैली का प्रभाव व्याकरण-ग्रन्थों पर भी पड़ा। इसीलिए ऋक् प्रातिशाख्य जैसे वैदिक व्याकरण-ग्रन्थ सूत्र-शैली में ही रचे गए। सूत्र-शैली लौकिक संस्कृत में आकर अभ्युत्थान को प्राप्त हुई। इसीलिए सांख्य, योग न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, ब्रह्मसूत्र जैसे दार्शनिक ग्रन्थों की रचना सूत्र-शैली में ही हुई। लौकिक संस्कृत के प्रामाणिक वैयाकरण पाणिनि की *'अष्टाध्यायी'* भी सूत्र-शैली में ही प्रणीत है। व्याकरण के क्षेत्रों में अनेकानेक ग्रन्थों की रचना सूत्र-शैली में ही हुई है। अतः वैदिक साहित्य के सूत्र-ग्रन्थों का प्रभाव लौकिक संस्कृत पर ही न होकर आधुनिक भाषाओं—हिन्दी, बंगला, मराठी आदि पर्यन्त देखा जा सकता है। प्राचीन हिन्दी समालोचना का विकास सूत्र-शैली में ही हुआ। उसका एक प्रतिदर्श द्रष्टव्य है—

सूर-सूर तुलसी शशि, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करत प्रकास॥

3 पौराणिक साहित्य

(Mythological Literature)

'पुराण' शब्द का अर्थ है—पुराना या प्राचीन। वस्तुतः प्राचीन काल में वेद-विस्तार का कार्य अनेक रूपों में हुआ। जिस प्रकार वैदिक साहित्य के अंग-ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्र-ग्रन्थ वेदों के प्रतिपाद्य का ही अनेकशः एवं अनेकधा वर्णन और प्रतिपादन करते रहे; उसी प्रकार वैदिक साहित्य के अनेक विषयों को कथानकीय आधार पर विस्तृत रूप देने का महत्त्वपूर्ण कार्य पुराणों ने किया। पुराणों में प्राचीन कथाओं को आधार बनाकर सनातन मूल्यों को ही स्पष्ट किया गया है, इसलिए 'पुराण' पुराने होकर भी नए हैं—'पुरा भवति' (यास्कीय निरुक्त, 3/19)। अर्थात् पुराण पुराना होकर भी नया है। पद्म पुराण में 'पुराण' शब्द का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—'पुरा परम्परां वृष्टि पुराणं तेन तत् स्मृतम्'। पद्म 5/2/53 अर्थात् प्राचीनकालीन परम्पराओं का वर्णन करने वाले ग्रन्थ को 'पुराण' नाम से पुकारा जाता है। वायु पुराण में 'पुराण' का रहस्य स्पष्ट करते हुए लिखा है—'यस्मात् पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम्।' अर्थात् जो प्राचीन घटनाओं को अपने आप में जीवित रखता है, वह पुराण है। अतः 'पुराण' शब्द की व्याख्या के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराण परम्पराओं के पोषक हैं, वे सनातन मूल्यों के प्रतिपादक हैं; वे इतिवृत्तों से परिपूर्ण हैं; वे वेद के विस्तारक हैं, वे प्राचीन ग्रन्थ हैं।

पुराणों का वर्गीकरण

पुराणों में 'पुराणो' की संख्या अठारह मानी गई है। अष्टादश पुराणों के नाम इस प्रकार हैं—

ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ तथा ब्रह्माण्ड।

ब्रह्म पुराण—ब्रह्म पुराण में 245 अध्याय हैं तथा 13783 श्लोक हैं। यह पुराण भारतवर्ष को देवभूमि या तीर्थभूमि के रूप में उजागर करता है।

मध्य भारत के दण्डकारण्य की चर्चा इस पुराण का विस्तृत विषय रहा है। इस पुराण में गोदावरी नदी का विस्तार से वर्णन किया है। इस पुराण में उड़ीसा--उत्कल देश (स्थान) का विशद् वर्णन है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म पुराण की रचना में उड़ीसा या उत्कल भूमि का आकर्षण शीर्षस्थ स्थान रखता है। प्रस्तुत पुराण में तीर्थों का महात्म्य विस्तार वर्णित हुआ है। इसमें, जगन्नाथ--श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम या संकर्षण तथा उनकी बहिन सुभद्रा की भी चर्चा हुई है। इस पुराण में अनेक पुराणों के श्लोकों को ज्यों के त्यों रूप में सम्मिलित किया गया है। इसीलिए कुछ विद्वान् इस पुराण के अधिकांश भागों को प्रक्षिप्त मानते हैं। प्रक्षिप्तिकरण के आधार पर इस पुराण का रचना-काल 13वीं शताब्दी तक माना जा सकता है।

पद्मपुराण—पद्म पुराण में छः अध्याय हैं--आदि, भूमि, ब्रह्म, पाताल, सृष्टि और उत्तर खण्ड। इस पुराण में श्लोकों की अधिकतम संख्या 25 हजार मानी जाती है। पद्म पुराण में 12वीं शताब्दी के प्रथम चरण में होने वाले कुलोत्तुंग नामक राजा की कथा का भी उल्लेख है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि यह पुराण कुछ अंशों के हिसाब से बहुत ही अर्वाचीन है। कुछ विद्वान इस पुराण के ऊपर राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव देखकर इसे 16वीं शताब्दी तक की रचना स्वीकार करते हैं।

विष्णु पुराण—इस प्रकार के वक्ता महर्षि पराशर हैं। प्रस्तुत पुराण में लगभग छः हजार श्लोक उपलब्ध होते हैं। विष्णु पुराण में विष्णु के साथ-साथ विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को खेल ही खेल में उठा लिया। ऐसा वर्णन पौराणिक अतिशयोक्तिपूर्ण शैली की घोषणा कर देता है। जब श्रीकृष्ण ने द्वारका की महिलाओं को अर्जुन के संरक्षण में इन्द्रप्रस्थ भेजना चाहा तो मध्यदेशीय भीलों ने अर्जुन को पराजित कर दिया। उस समय की अर्जुन की मनःस्थिति का युक्तियुक्त मनोवैज्ञानिक चित्रण देखते ही बनता है। इस पुराण में विभिन्न राजवंशों-सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश का सुन्दर विवेचन किया है। विष्णु पुराण का रचना-काल प्रथम शती के लगभग स्वीकार किया जाता है।

वायु पुराण—वायु पुराण में 112 अध्याय हैं तथा इसकी श्लोक संख्या 10 हजार के लगभग है। इस पुराण का सम्बन्ध धार्मिक कृत्यों से अधिक जुड़ा हुआ है। यह पुराण इतिहास तथा धर्मशास्त्र दोनों से ही सम्पन्न है। वायु पुराण में भी अवतारवाद की भावना का सहज निदर्शन है। लौकिक संस्कृत साहित्य के महान् गद्यकार आचार्य बाण भट्ट ने भी वायु पुराण की चर्चा की है। अतः वायु पुराण के कुछ अंशों का रचना-काल चाहे कितना ही अर्वाचीन हो, परन्तु इसका मूल भाग कम से कम छठी शताब्दी के मध्य से पूर्व रचित होना चाहिए।

1 आचार्य बलदेव उपाध्याय : पुराण विमर्श, भूमिका भाग

भागवत् पुराण—श्रीमद्भागवत् नाम से एक महापुराण की चर्चा प्राय सर्वत्र होती है। वह महापुराण भागवत पुराण ही है। इस पुराण में 12 स्कन्ध हैं। इस पुराण के 18 हजार श्लोक उपलब्ध हैं। प्रस्तुत पुराण के बारहवें स्कन्ध को देखने से पता चलता है कि इसका अन्तिम भाग अधिक प्राचीन नहीं है। इसमें देवकी के पुत्र स्कन्द गुप्त की भी चर्चा हुई है। अतः इसका अन्तिम स्कन्ध पांचवीं शताब्दी में रचित हुआ है। कुछ अन्य ग्रन्थों का अनुशीलन करने के उपरान्त विदेशी विद्वान् फाणे साहब ने भागवत पुराण को नवीं शताब्दी की रचना माना है। इस पुराण के दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण की लीलाओं की सविस्तार रचना की गई है। कहा जाता है कि जब श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा के लिए प्रवासित हो गए तो उन्होंने कंस का संहार करके कंस के पिता उग्रसेन को मथुरा राज्य के राज-सिंहासन पर आसीन कराया। कंस के श्वसुर मगध नरेश जरासन्ध ने एक विशाल सेना लेकर अपने जामातृहन्ता श्रीकृष्ण का वध करने का निश्चय किया। कई बार श्रीकृष्ण और बलराम ने जरासन्ध को पराजित किया। तदनन्तर गोकुल में रहने वाले नन्द-यशोदा तथा गोप-गोपी-वृन्द को समझाने के लिए उद्धवजी को भेजा गया। ज्ञानमार्गी उद्धव ने गोपियों को समझाने की भरसक कोशिश की। परन्तु गोपियाँ श्रीकृष्ण के ज्ञान-मार्गी सन्देश को अधिक महत्त्व न दे सकीं। भागवतकार की कल्पना ने उद्धव और गोपियों के वार्ताकाल में एक भ्रमर को भी ला खडा किया। अब उसी 'भ्रमर' के आधार पर यह माना जाता है कि हिन्दी कृष्ण-भक्ति शाखा के सूरदास जैसे महा-कवियों के काव्य में भ्रमर-दूत की रचना का स्रोत भागवत का भ्रमर-प्रसंग ही है। इस पुराण में राजवंशों के वर्णन के साथ-साथ राजा परीक्षित की कथा का भी मार्मिक चित्रण हुआ है।

नारद पुराण—नारद पुराण में 38 अध्याय हैं तथा 3600 श्लोक हैं। इस पुराण में विष्णु-भक्त नारद के माध्यम से वैष्णवों के समस्त सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। प्रस्तुत पुराण में बौद्ध-धर्म की कटु आलोचना की गई है। यदि कोई द्विज व्यक्ति बौद्ध-विहार में प्रवेश करता है तो उसे पाप-समुद्र में डूबना पड़ता है। ऐसे व्यक्ति की शुद्धि सैकड़ों प्रायश्चितों से भी सम्भव नहीं है—

> बौद्धालयं विशेद यस्तु महापद्यपि वै द्विजः।
> न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा प्रायश्चितशतैरपि ॥

नारद पुराण में जिन मत-मतान्तरों का विवेचन मिलता है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि नारद पुराण के प्राचीन संवादों के आधार पर तत्कालीन ब्राह्मण-धर्म के समर्थक विद्वानों ने इसमें इतना प्रक्षेप किया है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं जान पड़ती। नारद पुराण का रचना-काल 600 ई. से पुराना नहीं है।

मार्कण्डेय पुराण—मृकण्ड के पुत्र मार्कण्डेय की रोचक कथा का वर्णन इस पुराण का आधार है। मार्कण्डेय ऋषि ने भगवान विष्णु की लीला की महत्ता का अनुभव तब किया जब उनके देखते-देखते प्रलयकालीन दृश्य उनके सामने उपस्थित हो गया। इस पुराण में देवी की महत्ता का भी सुन्दर रूप में प्रतिपादन हुआ है।

दत्तात्रेय नामक ऋषि के माध्यम से आश्रम व्यवस्था, राज व्यवस्था, श्राद्ध तथा नरक जैसे विषयों को लेकर चर्चाएँ कराई गई हैं। इस पुराण का रचना-काल छठी शताब्दी से प्राचीन है। प्रस्तुत पुराण में 9 हजार श्लोकों की सम्भावना की गई है।

अग्नि पुराण—इस पुराण में 15 हजार श्लोकों की संख्या का अनुमान किया जाता है। अग्नि पुराण में वैष्णवी पूजा-चर्चा का सुन्दर विधान दिखलाई पड़ता है। इस पुराण का सम्बन्ध कुछ तन्त्रों से भी है, जो कभी वंग देश में प्रचलित रहे थे। इस पुराण में गोचिकित्सा, आयुर्वेद, वास्तु-विद्या, धनुर्विद्या तथा रत्नपरीक्षा जैसी विधाओं का भी सुन्दर वर्णन है। इस पुराण का रचना-काल नवीं शताब्दी से पूर्व का है।

भविष्य पुराण—इस पुराण में चार पर्व हैं--ब्रह्म, मध्यम, प्रतिसर्ग तथा उत्तर। भविष्य पुराण में श्लोकों की संख्या 14 हजार तक की गई है। प्रस्तुत पुराण का स्वरूप अप्रामाणिक अधिक जान पड़ता है। समय-समय पर अनेक व्यासों ने इस पुराण का खूब विस्तार किया है। इसलिए इसके रचना-काल के सम्बन्ध में कोई निर्णय लेना कठिन जान पड़ता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण—ब्रह्मवैवर्त में 18 हजार श्लोक हैं। प्रस्तुत पुराण में भगवान के लोक को 'गोलोक' नाम दिया है। इस लोक की प्राप्ति परस्पर ब्रह्म की कृपा से ही सम्भव है। इस पुराण में देवी के अनेक रूपों में--मंगल चण्डी तथा मनसा देवी को विशिष्ट स्थान मिला है। ब्रह्मवैवर्त में 'गंगावतरण' की कथा का सुन्दर वर्णन किया गया है। हिन्दी के महान् कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने इस पुराण से प्रभावित होकर 'गंगावरण' नामक खण्ड काव्य लिखा है। सूर्यवंशी राजा सगर के वीरों की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा भी इस पुराण में द्रष्टव्य है। इस पुराण का रचना-काल नवीं शताब्दी से पूर्व का स्वीकार किया गया है।

लिंग पुराण—'लिंग' अनेकार्थवाची शब्द है। इसके प्रमुख अर्थ इस प्रकार हैं--लक्षण, चिह्न, वेशभूषा, लपट या शिखा इत्यादि। जब कभी अग्नि प्रज्वलित की जाती है तो उसमें से जो चिनगारियाँ या लपटें ऊपर उठती हैं, उन्हें ज्योतिर्लिंग ही कहा जाता है। निर्गुण ईश्वर को उपनिषदों में हिरण्मय स्वरूप प्रदान किया था। उसी भगवान को ध्यान का आधार बनाने के लिए चिह्न के रूप में कल्पित किया गया। ईश्वर को शिव स्वरूप या कल्याणकारी ही कहा गया है। इसीलिए भारत-वर्ष में प्रकाश स्वरूप अथवा शिव या कल्याणकारी ईश्वर की लिंग-पूजा प्रचलित हुई। लिंग पुराण में भगवान शंकर की शक्ति का अत्यन्त सुन्दर विधान है। इस पुराण में 11 हजार श्लोक हैं। इसका रचना-काल अष्टम, नवम शती माना जाता है।

वाराह पुराण—वाराह पुराण में 217 अध्याय हैं तथा 9654 श्लोक हैं। अनन्त शक्ति ने एक वाराह या सूकर के रूप में अवतीर्ण होकर हिरण्यकश्यप के अनुज महा प्रतापी हिरण्याक्ष का संहार किया था। इस कथा के साथ-साथ इस पुराण में नचिकेता की कथा को भी विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। वाराह

पुराण में कानपुर के निकट कालप्रिय या कालवी के मन्दिर की चर्चा के साथ-साथ यमुना के दक्षिण पार्श्वीय तथा मूलस्थान (मुल्तान) के मन्दिर का निर्देश सूर्य-मन्दिर के रूप में किया गया है। इस पुराण में अवतारवाद की प्रबल भावना को लेकर वैष्णव-सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। इस पुराण का रचना-समय नवम-दशम शती माना गया है।

स्कन्द पुराण—स्कन्द पुराण को आकार की दृष्टि से सर्वाधिक वृहदाकार पुराण माना जाता है। इस पुराण में श्लोकों की संख्या 81 हजार तक स्वीकारी गई है। 'स्कन्द' शंकर के पुत्र का नाम है। राजा हिमालय की पुत्री पार्वती का विवाह शंकर से हुआ था। पार्वती के गर्भ से उत्पन्न पुत्र स्कन्द ने देवसेना का सेनापति होने पर तारकासुर नामक राक्षस का वध किया था। इस पुराण में स्कन्द की प्रिय दासी महामाया का भी उल्लेख हुआ है। स्कन्दपुराण के अवन्तीखण्ड में तीर्थों की महिमा का सविस्तार विवेचन है। इसी खण्ड में रेवाखण्ड नामक भाग में आधुनिक हिन्दू-समाज में प्रचलित सत्यनारायण की कथा का वर्णन है। इस ग्रन्थ में अनेक विपयों का विस्तृत वर्णन किया गया है। शिव की भक्ति का सुन्दर परिचय भी इस पुराण की महान् उपलब्वि है। इस ग्रन्थ का रचना-काल नवम शताब्दी तक स्वीकार किया जाता है।

वामन पुराण—'वामन' शब्द का अर्थ है—बौना। कहा जाता है कि ईश्वर ने एक बौने तपस्वी के रूप में पाताल के राजा वलि से तीन डग भूमि की याचना की थी। राजा वलि के गुरु नीति-प्रवर शुक्राचार्य ने वामन के छल को समझ कर राजा वलि को दान देने से रोकना चाहा था, परन्तु दानवीर बलि उस दान के प्रसंग में अपने राज्य की भी बलि चढ़ा बैठा, यह वामन पुराण का मूल विपय है। वामन पुराण में 95 अध्याय हैं तथा 10 हजार श्लोक हैं। यद्यपि यह पुराण वैष्णवी चेतना का पुराण है, परन्तु सम्प्रति इसे शैव दर्शन और शिव-कथानक से संयुक्त रूप में प्राप्त किया जाता है। शिव का वटु रूप में तपस्विनी पार्वती के सम्मुख उपस्थित होने का रोचक प्रसंग भी इस पुराण में वर्णित है। महाकवि कालिदास के 'कुमार-संभव' महाकाव्य से इस पुराण के अनेक श्लोक वहुत कुछ साम्य रखते हैं। इस पुराण का रचना-काल छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी पर्यन्त स्वीकारा जाता है।

कूर्म पुराण—कूर्मपुराण में 99 अध्याय हैं तथा 17 हजार श्लोक हैं। पहले यह पुराण पाञ्चरात्र मात (वैष्णव) का प्रतिपादक था, परन्तु कालान्तर में इसे पाशुपत (शैव) मत से परिपूर्ण कर दिया गया। कूर्म 'कच्छप' ईश्वर के दशावतारों में दूसरे स्थान पर परिगणित किया गया है। इस पुराण में महेश्वर की शक्ति का विवेचन किया गया है। महेश्वर की शक्ति चार प्रकार की कही गई है—शान्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और निवृत्ति। इसी शक्ति चतुष्टय को चतुर्व्यूह के नाम से भी जाना जाता है। कूर्म पुराण में वैष्णवी तत्त्वों का भी समावेश है। इस पुराण का रचना-काल छठीं-सातवीं शती है।

मत्स्य-पुराण—मत्स्य पुराण में 14 हजार श्लोक हैं। इस पुराण में ईश्वर के मत्स्यावतार की चर्चा की प्रधानता है। मत्स्य का अर्थ है—मछली। इस पुराण में प्रलयकालीन दृश्यों को सजीव कर दिया गया है। इस पुराण का रचना-क्षेत्र नर्मदा नदी का पार्श्ववर्ती प्रदेश माना जाता है। वामन पुराण में तीर्थों की महिमा का भी गान किया गया है। नर्मदा नदी को प्रलय में भी प्रकट प्रदर्शित किया गया है, जो पुराणकार की नर्मदा के प्रति विशिष्ट आस्था का परिचायक है। इस पुराण का रचना-काल 200 ई. से 400 ई. के बीच होना चाहिए।

गरुड़ पुराण—गरुड़ पुराण में 264 अध्याय हैं तथा 19 हजार श्लोक हैं। यह पुराण विभिन्न विद्याओं का विश्वकोष है। प्रस्तुत पुराण में अन्त्येष्टि संस्कार से लेकर मृतक की अरिष्टि तक के विधानों पर सांगोपांग प्रकाश डाला गया है। इस पुराण में मरणानुभूति को यथार्थता के समीप लाकर खड़ा कर दिया है। जब व्यक्ति के प्राणों का निष्क्रमण होता है तो उसे शत वृश्चिकों द्वारा युगपत् काटने जैसी असह्य पीड़ा का अनुभव होता है। गरुड़ पुराण के उत्तर खण्ड को 'प्रेतकल्प' नाम भी दिया गया है। इसका रचना-काल आठवीं-नवीं शताब्दी है।

ब्रह्माण्ड पुराण—यह अठारहवाँ पुराण है। इस पुराण में चार विभाग हैं तथा बारह हजार श्लोक हैं। प्रस्तुत पुराण में जमदग्नि के पुत्र परशुराम का प्रचण्ड प्रताप प्रदर्शित किया गया है। इसके साथ ही साथ सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के राजाओं की वंशावलियों का भी अत्यन्त सुन्दर वर्णन है। राजा सगर के वंशज भगीरथ की कथा का भी इसमें समावेश है। ब्रह्माण्ड पुराण में शब्दों की व्युत्पत्ति के साथ-साथ काव्य सौष्ठव पर भी बहुत बल दिया गया है। इस पुराण का रचना-काल छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी के मध्य तक माना जाता है।

पुराणों के लक्षण

पुराण के मुख्यतः पांच लक्षण हैं—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंश्यानुचरित—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चेतिर पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

भागवत पुराण में 'पुराण' के दश लक्षणों का निर्देश है—

सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥—भागवत, 12/7/9

1. सर्ग, 2. विसर्ग, 3. वृत्ति, 4. रक्षा, 5. अन्तराणि, 6. वंश, 7. वंशानुचरित, 8. संस्था, 9. हेतु तथा 10. अपाश्रयः।

यहाँ पौराणिक लक्षणों का क्रमबद्ध विवेचन किया जा रहा है।

1. **सर्ग**—'सर्ग' का अर्थ है—सृष्टि। सृष्टि की रचना का रहस्य पुराणों में अनेक प्रकार से वर्णित है। सृष्टि मुख्यतः जड़-चेतन के विचित्र संयोग का परिणाम है। विभिन्न पुराणों में किसी विशिष्ट देवता को सृष्टि का स्रोत कह दिया गया है। कहीं यह सृष्टि महेश्वर की क्रिया से बनी है तो कहीं इसके निर्माता—ब्रह्मा,

विष्णु जैसे देवता या ईश्वर हैं। पुराणों में मुख्यतः निम्नलिखित तत्त्वों को सृष्टि रचना में आवश्यक माना है—1. जीवात्मा, 2. बुद्धि, 3 मन, 4. चित्त, 5. अहंकार, 6. शब्द, 7. स्पर्श, 8. रूप, 9. रस, 10. गन्ध, 11. पृथ्वी, 12. जल, 13. अग्नि, 14. वायु, 15. आकाश।

उपर्युक्त तत्त्वों माध्यम से समस्त ग्रहों, नक्षत्रों, वनस्पतियों, जीवधारियों तथा अन्य पदार्थों की रचना होती है। मानव अपनी पाँच कर्मेन्द्रियों—हाथ, पैर, वाणी, वायु एवं उपस्थ तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों—आँख, कान, नाक, रसना तथा त्वचा के माध्यम से मन के संयोग को प्राप्त करके विभिन्न विषयों में प्रदत्त होता है। पुराणों में सृष्टि के अनेक रूप कहे गये हैं, जो संक्षिप्त रूप में बताये जा रहे हैं—

महत् तत्त्व या बुद्धि तत्त्व का नाम ही ब्रह्मसर्ग है। इसे प्राकृत सर्ग के अन्तर्गत प्रथम स्थान दिया गया है। प्राकृत सर्ग के अन्तर्गत पंचमहाभूतों को भी स्थान दिया गया है। पंच तन्मात्राओं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल, तथा पृथ्वी नामक पंचमहाभूत परिपूर्ण है। इसी निर्माण-प्रक्रिया को 'भूतसर्ग' नाम दिया गया है। अहंकार की सात्विक रूप में विकृति होने से इन्द्रियों का जन्म होता है। पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों तथा एक संकल्प-विकल्पात्मक उभयेन्द्रिय मन को वैकारिक सर्ग के नाम से जाना जाता है।

प्राकृत सर्ग के पश्चात् वैकृत सर्ग को स्थान मिला है। ब्रह्माजी के ध्यान के फलस्वरूप पंचपर्वा अविद्या के रूप में पाँच तत्त्व उत्पन्न हुए। पाँच तत्त्वों को तम, मोह, महामोह तामिस्र तथा अन्धतामिस्र के रूप में जाना जाता है। इन तत्त्वों से वनस्पति, पर्वत, वीरुध तथा लतादि की रचना हुई। इस सर्ग को 'मुख्यसर्ग' नाम से पुकारा गया है। वस्तुतः मुख्य सर्ग का सम्बन्ध स्थावरों से है। इस सर्ग की रचना में ब्रह्माजी के ध्यान को महत्त्व दिया गया है। मुख्य सर्ग के पश्चात् तिर्यक्-सर्ग' को स्थान दिया गया है। तिरछी गति से उड़ने वाले एवं चलने वाले जीव-जन्तुओं को तिर्यक् सर्ग के रूप में जाना जाता है। पशु-पक्षियों की रचना के उपरान्त ब्रह्माजी ने सतोगुण से युक्त 'देवसर्ग' की रचना की। 'देवता' विकसित व्यक्ति का ही नाम है। देव, ज्ञान और भोग दोनों की प्रधानता से युक्त बताये गये हैं। देवसर्ग के उपरान्त 'मानुष सर्ग' को स्थान दिया गया है। सत्व, रज तथा तम नामक त्रिगुण से पूर्ण कर्मशील सृष्टि को 'मानुष सर्ग' नाम देना युक्तियुक्त है।परन्तु देव के पश्चात् मानव को रखना विकासवाद की दृष्टि से अनुचित है। चार प्रकार के जीवों—जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज में विशेष कृपा-रूप गुणों का विकास 'अनुग्रह सर्ग' नाम से जाना जाता है। ईश्वर ने मनुष्यों में सिद्धि, देवों तुष्टि, स्थावरों में विपर्यास तथा तिर्यकों में शक्ति को प्रतिष्ठित करके विशेष अनुग्रह किया है।

प्राकृत और वैकृत सर्गो के मिश्रित रूप को 'कौमार सर्ग' कहा गया है। ब्रह्मा ने अपने पवित्र ध्यान से चार कुमारों की रचना की। चार कुमारों के नाम

इस प्रकार हैं—सनत्, सनंतन, सनत्कुमार तथा सनातन। इन चारों ही कुमारों को अमर कहा गया है।

2. प्रतिसर्ग—प्रतिसर्ग का अर्थ है—प्रलय। 'जायते ध्रुवम् मृत्युः' नामक सिद्धान्त के आधार पर जन्म लेने वालों की मृत्यु अवश्य होती है। इसी सिद्धान्त को लेकर चार प्रकार के प्रलय बताये गए हैं--नैमित्तिक प्रलय, प्राकृत प्रलय, आत्यन्तिक प्रलय तथा नित्य प्रलय।

पौराणिक काल-गणना के अनुसार ब्रह्मा के अनुसार ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनुष्यों का उदय होता है। जब एक कल्प का समय पूरा हो जाता है तो उतने ही समय के लिए रात्रिकाल भी होता है। उस प्रचण्ड रात्रिकाल में प्रायः ध्रुव रूप में समस्त भूमण्डल जलमग्न हो जाता है। इसी का नाम नैमित्तिक प्रलय है।

ब्रह्माजी की आयु सौ ब्रह्म वर्षो की होती है। उनकी आयु व्यतीत होने पर पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में तथा वायु आकाश में विलीन हो जाती है। आकाश अहंकार में, अहंकार महत् तत्त्व में तथा महत् तत्त्व प्रकृतिस्थ हो जाता है। अतः समस्त स्थूल पदार्थ के रूप में विलीन हो जाते हैं। जब सभी तत्त्वों से पूर्ण प्रकृति ही अपने मूल रूप में उपस्थित रह जाती है तो उसी को प्राकृत प्रलय कहा जाता है।

पूर्ण दुःख-निवृत्ति का नाम आत्यन्तिक प्रलय है। अतः मोक्ष को ही आत्यन्तिक प्रलय कहा जाता है। इस प्रलय के लिए कोई समय निर्धारित नहीं है। जब व्यक्ति अपनी ज्ञान रूपी तलवार से मोह रूपी गाँठ को काट देता है तो उसकी समस्त वासनाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। उस समय व्यक्ति अपने यथार्थ ईश्वरीय रूप को प्राप्त कर लेता है। अभी तक सभी जीवधारियों की आत्यन्तिक प्रलय संभव नहीं हुई है। क्या यह आत्यन्तिक प्रलय कभी हो सकेगी ?

जीवधारियों का निर्माण-क्षय नामक क्रम नित्य चलता रहता है। अतः नित्य क्षय के क्रम का नाम नित्य प्रलय है यथा--'जन्मवृद्धिक्षयैः नित्यं संसारयति चक्रवत्।'

3. वंश—पुराण का तीसरा लक्षण वंश है। पुराणों में तीन आर्य वंशों का विशद वर्णन हैं—सूर्यवंश, चन्द्रवंश तथा सौद्युम्न वंश। इनमें भी प्रथम दो वंशों की प्रधानता रही है।

विराट् भारत में सूर्य नामक राजा हुए हैं, जिनका उल्लेख नामतः गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रथम श्लोक में हुआ है। सूर्य के पुत्र मनु ने 'अयोध्या' नामक नगर में अपनी राजधानी स्थापित की थी। इस मनु के ज्येष्ठ पुत्र का नाम इक्ष्वाकु था। मनु ने अपने पिता ने नाम पर अपने वंश का नाम सूर्यवंश रखा। इक्ष्वाकु की वंश परम्परा में निम्नलिखित राजा विख्यात हैं—पृथु, युवनाश्व, मान्धाता, अम्बरीष, अनरण्य, त्रिशंकु, हरिश्चन्द्र, रोहिताश्व, सगर, दिलीप प्रथम, भगीरथ, सुदान, दिलीप खट्वांग, रघु, अज, दशरथ, राम, कुश, अग्निवर्ण, बृहद्बल। सूर्यवंश

का प्रथम राजा मनु तथा अन्तिम राजा वृहद्वल था। राजा वृहद्वल महाभारत के युद्ध में अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु के हाथ से मारा गया था।

विराट् भारत के राजा चन्द्र देववंश के राजा सूर्य के मित्र थे। चन्द्र के पुत्र का नाम बुध था। मनु ने अपनी पुत्री इला का विवाह चन्द्रपुत्र बुध से किया था। बुध का ज्येष्ठ पुत्र पुरुरवा था। पुरुरवा ने इलाहाबाद के दूसरी ओर गंगा नदी के तट पर बसे प्रतिष्ठानपुर (झूसी) को अपने राज्य की राजधानी बनाया था। बुध और पुरुरवा ने अपने पूर्वज चन्द्र के नाम पर अपने वंश का नाम चन्द्रवंश रखा। चन्द्रवंश में नहुष, ययाति, दुष्यन्त, भरत, कुरु, पुरु, श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, अभिमन्यु, परीक्षित, जनमेजय जैसे प्रतापी राजपुरुष हुए हैं। चन्द्रवंश की प्रमुख शाखाएँ इस प्रकार हैं—यदुवश, पुरुवंश, तुर्वसु शाखा, हुह्यु शाखा, अनुशाखा, अन्धक शाखा, वृष्णि शाखा, कुरु शाखा हैह्य शाखा, चन्द्रवंश में श्रीकृष्ण अवतार के रूप में प्रसिद्ध हैं।

पूर्वी भारत में—असम, मेघालय, अरुणाचल, वर्मा आदि की ओर सौद्युम्न वंश की राजशाखाएँ कार्य करती रहीं। कहा जाता है कि सौद्युम्न वंश का सम्बन्ध भी मनु से ही रहा है। इस वंश का कोई विशेष वर्णन पुराणों में नहीं मिलता है।

उपर्युक्त राजवंशों के अतिरिक्त पुराणों में कश्यप की विभिन्न पत्नियों के नाम पर भी विभिन्न राजवंशों की शाखाएँ भी प्रवर्तित हुई। कश्यप की मुख्यतः अदिति, दिति, हनु, कद्रु, वनिता आदि रानियाँ थीं। इन रानियों के नाम पर देववंश, दैत्यवंश, दानववंश, सर्प या शेप वंश तथा गुरुड वंश प्रवर्तित हुए। ये सभी वंश सूर्य वंश, चन्द्र वंश तथा सौद्युम्न वंश से प्राचीन हैं। वस्तुतः पुराणों के दोनों राजवंश—सूर्य वंश तथा चन्द्रवंश देववंश की ही शाखाएँ हैं। उपर्युक्त विभिन्न वंशों की शाखाएँ आज सम्पूर्ण विश्व मे विद्यमान हैं। देववंश से जो जाति निकली, उसे आर्य कहा गया है। आजकल आर्यों के आगमन के विषय में जितने भी मत हैं, उनमें बहुत कुछ सत्य विद्यमान है, क्योंकि देववंश के लोग विश्व के अनेक भू-भागों में बसे हुए थे तथा उन्होंने वहाँ से भारत में बसी विभिन्न जातियाँ को आतंकित करके अपना प्रभुत्व या आर्यत्व स्थापित करके अपने को 'आर्य' नाम से प्रसिद्ध किया था। वस्तुतः ये आर्य मुख्यतः तत्कालीन विराट् भारतवर्ष के ही निवासी थे, इसलिए 'आर्य भारतवर्ष के ही निवासी थे' यह मत भी न्यायसंगत जान पड़ता है। इन विभिन्न वंशों की राजशाखाओं का सविस्तार वर्णन पुराणों में द्रष्टव्य है। वंशानुक्रम के विस्तार से यह पता चलता है कि विभिन्न वंशों के राजाओं ने अपना इतिहास प्रशस्ति के रूप में लिखवाया है।

4. मन्वन्तर—'मन्वन्तर' का अर्थ है—एक मनु का समय। पौराणिक काल-गणना का क्रम निम्न प्रकार है—

युगों की काल-गणना—	सत्ययुग	17 लाख 28 हजार वर्ष
	त्रेता युग	12 लाख 96 हजार वर्ष
	द्वापर युग	8 लाख 64 हजार वर्ष
	कलियुग	4 लाख 32 हजार वर्ष
	एक चतुर्युगी =	43 लाख 20 हजार वर्ष

71 चतुर्युगी = 1 मन्वन्तर
एक हजार चतुर्युगी = एक ब्रह्म दिन—अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष
एक हजार चतुर्युगी = एक ब्रह्म रात्रि—वही
ब्रह्माजी के एक दिन में 14 मनु होते हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

1. स्वायम्भुव मनु, 2. स्वरोचिष मनु, 3. उत्तम मनु, 4. तामस मनु, 5. रैवत मनु, 6. चाक्षुप मनु, 7. वैवस्वत मनु, 8. सावर्णि मनु, 9. दक्षसावर्णि मनु, 10. ब्रह्म सावर्णि मनु, 11. धर्म सावर्णि मनु, 12. रुद्रसावर्णि मनु, 13. देवसावर्णि मनु तथा 14. इन्द्र सावर्णि मनु।

मन्वन्तर के अधिकारियों के नाम इस प्रकार हैं—मनु, सप्तर्षि, देव, देवराज इन्द्र तथा मनु पुत्र। भागवत पुराण में ईश्वर के अंशावतार को भी मन्वन्तर का अधिकारी घोषित किया गया है। इन सभी अधिकारियों का कार्य सृष्टि-विस्तार, सृष्टि-संरक्षण तथा वेद-विस्तार से सम्बद्ध है।

5. वंशानुचरित—सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के प्रमुख प्रतापी तथा दानवीर राजाओं के चरित्रों का वर्णन 'वंशानुचरितम्' लक्षण के आधार पर किया गया है। पुराणों में सूर्यवंशी राजा सगर के शतक्रतु बनने के प्रयास का कुतूहलकारी वर्णन हुआ है। देववंश के राजा इन्द्र ने सगर को शतक्रतु बनने से रोका। सगर के वंशज भगीरथ ने गंगा नदी को उत्तरी भारत में अवतीर्ण कराया। इसीलिए 'गंगा' का एक पर्याय भागीरथी भी है। सूर्यवंश के राजा त्रिशंकु तथा हरिश्चन्द्र की कथा भी दो भिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करती है। राजा रघु के प्रताप के कारण इक्ष्वाकुवंश को रघुवंश नाम से भी अभिहित किया गया है। इसी वंश में दशरथनन्दन श्री रामचन्द्र ने आर्य और देव शक्तियों का संगठन करके राक्षस संस्कृति और शासन के महान् अधिष्ठाता रावण का वध किया था। पुराणकारों ने राम के प्रति इतनी कृतज्ञता ज्ञापित की कि राम को सर्वत्र रमण करने वाली भक्ति 'राम' या ईश्वर का ही साक्षात् अवतार कह डाला। राम के चरित्र में अनुशासन, सत्यसंधता, भ्रातृत्व, कर्म परायणता स्नेह, सहानुभूति, परोपकार, वीरता, धीरता, गम्भीरता, स्वाभाविकता जैसे अनेक गुण परिपूर्ण दिखलाई पड़ते हैं।

चन्द्रवंश के राजा पुरुरवा को इन्द्र रक्षक तथा महाशृंगारी रूप प्रदान किया गया है। महाराजा दुष्यन्त ने कण्व की पालिता पुत्री शकुन्तला से गांधर्व विवाह किया था। महाराजा दुष्यन्त को पुराणों की अपेक्षा कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' ने अधिक प्रसिद्ध किया है। राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत का सम्बन्ध भारतवर्ष के नामकरण से भी जोड़ा जाता है। परन्तु विष्णु पुराण में दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष का नामकरण न बतलाकर राजा उत्तानपाद के वंशज भरत के नाम पर भारत का नामकरण निर्धारित किया है। चन्द्रवंश का राजा नहुष देववंश के राजा इन्द्र को हराकर स्वयं शतक्रतु बन बैठा था। नहुष अपने विजय-दर्प को न सह सका। उसने शची (इन्द्राणी) को अपनी पत्नी बनाना चाहा।

वह अपनी शिविका में अगस्त्य जैसे ऋषियों को कहार के रूप में जोतने पर भी उतारू हो गया। बुद्धिजीवियों के अपमान के कारण नहुष को इन्द्रासन से हटना पड़ा। नहुष के पुत्र ययाति ने दिग्विजय करके दैत्यराज वृषपर्वा के कुलगुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया। देवयानी का पुत्र यदु यदुवंश का प्रवर्तक सिद्ध हुआ। ययाति की प्रेमिका वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा के गर्भ से पुरु का जन्म हुआ। ययाति के पश्चात् उसके पुत्रों की शाखाओं का बड़ा विस्तार हुआ। निष्कर्षत: ययाति वीर होने के साथ-साथ घोर शृंगारी व्यक्ति भी था। चन्द्रवंश में ब्राह्मणों का द्रोही कार्तवीर्य अर्जुन या सहस्रबाहु नामक राजा भी हुआ। कार्तवीर्य का विनाश करने का श्रेय गुजराती ब्राह्मण परशुराम को प्राप्त हुआ। परशुराम और कन्नौज नरेश विश्वामित्र के बीच सम्बन्ध होने के कारण परशुराम विश्वामित्र की सेना के बल पर कार्तवीर्य को पराजित कर सके। कार्तवीर्य हैहय शाखा का सर्वाधिक प्रतापी राजा था। कार्तवीर्य ने एक बार रावण को भी कैद कर लिया था। चन्द्रवंश की वृष्णिशाखा में श्रीकृष्ण जन्मे। पुराणों में श्रीकृष्ण को ईशावतार कहा गया है। श्रीकृष्ण की राजनीति, वीरता, रसिकता, दार्शनिकता जैसी विशेषताओं के आधार पर उन्हें सर्वाधिक प्रभावपूर्ण विभूति भी कहा गया है। महान् राजनीतिज्ञ श्रीकृष्ण की आँखों के आगे ही महाभारत तथा यादव-संहार जैसे घोर काण्ड हुए। कृष्ण ने देव-पूजा का विरोध किया था। शूद्रों को भी वेद पढ़ने का अधिकारी माना था।

राजवंशों के चरित्र के अतिरिक्त कुछ ऋषि वंशों के चरित्र पर भी पुराण प्रकाश डालते हैं। भृगुवंश में जमदग्नि तथा परशुराम का चरित्र आकर्षक है। परशुराम की वीरता से प्रभावित होकर पुराणकारों ने उन्हें ईशावतार तक कह डाला है। परशुराम ने केवल हैहय शाखा का विध्वंस किया था, सम्पूर्ण क्षत्रवंश का नहीं। पुराणों में महर्षि अगस्त्य तथा राजर्षि विश्वामित्र की सच्चारित्रिकता का भी मनोहारी वर्णन है। महर्षि अगस्त्य की वीरता से प्रभावित होकर विदर्भराज ने अपनी पुत्री लोपामुद्रा का अगस्त्य से विवाह किया था। पुराणों में गौतम, अंगिरा, पुलस्त्य, विश्रवा, अत्रि, दत्तात्रेय, दुर्वासा, द्रोणाचार्य जैसे ऋषियों के चरित्रों पर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है। देववंश का इन्द्र, दैत्यवंश के हिरण्यकश्यप, हिरण्याक्ष, प्रह्लाद, विरोचन, बलि, बाणासुर जैसे दैत्येन्द्रों के शौर्य की भी भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। अत: पुराणों में वंश्यानुचरित का बृहद् विश्लेषण है।

6. विसर्ग—अनेक प्रकार की जीव-सृष्टि का नाम विसर्ग है। चेतनामय अन्त:करण का नाम जीव है। यह जीव स्थावरों में—पेड़-पौधों में अविकसित स्थिति में होता है। वही जीव पसीना और गर्मी से उत्पन्न होने वाले कीटों और जन्तुओं में स्थावरों की अपेक्षा विकसित होता है। वही चेतना अण्डों से उत्पन्न होने वाले मछली, मेंढ़क, पक्षी आदि जीवधारियों में कुछ और भी अधिक विकसित होती है। मूल चेतना जरायुजों—जानवरों तथा मनुष्यों में क्रमश: अधिक विकसित होती जाती है। इन चारों प्रकार के जीवों को क्रमश: उद्भिज, स्वेदज, अण्डज तथा जरायुज

कहा गया है। यह विविध मुखी सर्ग ईश्वर के द्वारा निर्मित है। जीवों के जन्म-जन्मान्तर के संस्कार ही उनके जन्म के कारण कहे गए हैं। संस्कारों की भिन्नता के कारण सृष्टि भी विविध मुखी है। इसीलिए पुराणों मे मानव शरीर को देवदुर्लभ शरीर बताकर जीवात्मा के वास्तविक अर्थात् मुक्त रूप को प्राप्त करने के लिए उसे ही मूलाधार घोषित किया गया है।

7. वृत्ति--जीवों के निर्वाह के योग्य जितनी भी उपभोग्य सामग्री है, उसका पुराणों में वृत्ति के रूप में उल्लेख किया है। पुराणों में खाद्य-अखाद्य का विस्तार से विवेचन किया गया है। विधि-निषेध की यही परम्परा आज भी हिन्दू-समाज में द्रष्टव्य है। यद्यपि यह सम्पूर्ण जगत् जीवों का उपभोग्य है, परन्तु मानव-समाज को मर्यादित रखने के लिए यह आवश्यक है कि विधि-निषेध स्वरूप शास्त्रीय सिद्धान्त लागू किए जाएँ। वन्यों की वृत्ति विधि-निषेध की चिन्ता नहीं करती, क्योंकि जंगली जीव-जन्तुओं में 'मत्स्य-न्याय' सिद्धान्त ही दर्शनीय होता है। मानवों में भी पाशविकता की कभी कमी नहीं रही। इसीलिए आत्मगौरव की ग्रन्थि का शिकार समस्त मनुष्य-समाज रहा है। चावल, गेहूँ, आदि खाद्यान्न शास्त्र-सिद्ध हैं तथा मांस-मछली का सेवन शास्त्र-वर्जित है।

8 रक्षा—अपने अस्तित्व-रक्षण की सभी को चिन्ता होती है। मानव की महत्त्वाकांक्षा उसे कठोरता और वर्बरता की ओर भी अग्रसर करती है। पौराणिक राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ तथा दिग्विजय जैसे तत्त्व यही घोषित करते हैं कि मानव आत्मगौरव की भावना के आधार पर ही विकास की ओर बढ़ा है। जब मानव ने अपने प्रतिद्वन्द्वी को कुचलना चाहा तभी 'रक्षा' का प्रश्न उठा। इसीलिए अनेक संगठन, अनेक जातियाँ, अनेक दल विश्व-समाज के मंच पर आ खड़े हुए। भागवत पुराण में कहा गया है कि ईश्वर ने विभिन्न जीवधारियों के रूप में अपने आपको प्रकट करके इस सृष्टि की रक्षा की—

रक्षाऽच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे।
तिर्यक् मर्त्यपि-देवेषु यैस्त्रयीद्विप:॥ —भागवत 12/7/14

वेद-विरोधी शक्तियों का विनाश करने के लिए ईश्वर को अवतरित होना पड़ता है। इस अवतार-तत्त्व का विस्तृत विवेचन पुराणों में दर्शनीय है। पुराणों में मुख्यतः दशावतार की चर्चा निम्न रूप में हुई है—

मत्स्य: कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामन:।
राम रामश्च कृष्णाश्च बुद्ध; कल्किश्च ते दश॥
—पद्म पुराण, उत्तर 257/40

अवतारों का क्रम इस प्रकार है—1. मत्स्य, 2. कूर्म, 3. वराह, 4. नृसिंह, 5. वामन, 6. परशुराम, 7. श्रीराम, 8. श्रीकृष्ण, 9. बुद्ध तथा 10. कल्की।

प्रस्तुत अवतार-क्रम को देखने पर यह भी पता चलता है कि पुराण एक युग में नहीं लिखे गए तथा जो भी विशिष्ट महापुरुष हुआ, उसे ही अवतार कहकर सम्मानित किया गया। गौतम बुद्ध ईश्वर तथा ईशावतार को स्वीकार तक न करते

थे, परन्तु उस कर्मकाण्ड विरोधी महापुरुष को पुराणकारों ने ईश्वर का अवतार कहकर सम्मानित किया। यह अवतार संख्या चौबीस तक भी गई है।

वस्तुतः ईश्वर का अवतार सप्रयोजन होता है। पुराणों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जब धर्म का ह्रास होता है, अधर्म की वृद्धि होती है, तब श्रीभगवान् दुष्टों का नाश करने के लिए, सन्तों की रक्षा के लिए, वेद-मर्यादाओं की संस्थापना के लिए स्वयं को किसी जीवधारी के रूप में प्रकट करते हैं। पुराणों के अवतारवाद पर भक्तिवादी दर्शन की गहरी छाया प्रतिबिम्बित है। यदि अवतार-तत्त्व का निषेध किया जाए तो भक्ति-दर्शन को गहरा धक्का लगेगा। अवतारवाद की विचित्र कल्पना के कारण आडम्बरों का भी विकास हुआ है। व्यक्ति प्रत्येक अनूठे तत्त्व का दुरुपयोग करता है। इसलिए अवतारवाद की आड़ में मूर्ति-पूजा, दान व खानपान को लेकर कितने ही आडम्बर प्रचलित हुए। इन आडम्बरों का इतना प्रकोप बढ़ा कि हिन्दू-धर्म एक तरह से आडम्बरों का केन्द्र बन गया। इसीलिए वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की चर्चा करते समय महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में पुराणकारों को लाल बुझक्कड़ तक कह डाला है। समाज-शास्त्रियों ने अवतारवाद का सम्बन्ध विकासवादी सिद्धान्त से भी जोड़ा है। मछली या मत्स्य क्षेत्र जल तक सीमित है। कूर्म जल और थल पर चल सकता है। वराह या शूकर पृथ्वी पर दौड़ सकता है तथा पाशविक शक्ति का प्रतीक है। नृसिंह अर्द्ध शेर तथा अर्द्ध मानव है। वामन एक अविकसित मानव का रूप है। परशुराम क्रोध का अवतार है। श्री रामचन्द्र मर्यादित मानव के प्रतीक हैं। श्रीकृष्ण दर्शन और राजनीति के साक्षात् अवतार हैं। बुद्ध समस्त वासनाओं से ऊपर उठकर मानव को निर्वाण की शिक्षा देते हैं। कल्की मुरादाबाद की सम्भल तहसील में अवतरित होकर कलियुग के पापों का शमन करेगा। वह बिना युद्ध के संसार पर विजय पाकर सतयुग की शुरूआत करेगा।

मत्स्य और कूर्म अवतारों ने जल मग्न सृष्टि का उद्धार किया—अर्थात् मत्स्य और कूर्म जैसे जलचरों से ही आगे विकसित होने वाले जीवधारी उत्पन्न हुए। वराह ने—अर्थात् शूकर वंशी राजा ने अपनी सेना के माध्यम से हिरण्याक्ष का वध किया। नृसिंह—अर्थात् नरशार्दूल विष्णु ने हिरण्यकश्यप का वध किया तथा वेद-मार्ग की संस्थापना की। वामन ने तीन डगों–अर्थात् तीन आक्रमणों के द्वारा दैत्येन्द्र बलि को परास्त करके वैदिक संस्कृति और शासन की रक्षा की। परशुराम ने वेद-विरोधी कार्तवीर्य अर्जुन को ससैन्य समाप्त कर दिया। श्री रामचन्द्र ने रक्ष-संस्कृति के विस्तारक रावण का वध करके आर्य संस्कृति की रक्षा की। श्रीकृष्ण ने आतंकवादी कंस तथा उसके पक्षधरों का उन्मूलन करके तानाशाही को ही चकनाचूर कर दिया। बुद्ध ने मानव के अन्तरंग में बसी आसुरी शक्तियों का विरोध किया तथा उनसे जूझने का मध्यम मार्ग भी प्रतिपादित किया। कल्की समस्त आदर्शों को साकार करने वाला सिद्ध होगा।

जिन ऋषियों ने वेद-मार्ग को प्रशस्त करने के लिए प्रयास किए, वे सभी अवतार हैं। 'अवतार' का अर्थ है—नीचे उतरना। जब ईश्वरीय शक्ति किसी

जीवधारी में उतरती या प्रकट होती है तो उसी व्यक्ति को अवतार कह दिया जाता है। परन्तु, पुराणों का अवतार ऐसे मनोवैज्ञानिक अवतारवाद का आदर करके भी ईश्वर द्वारा की जाने वाली लीलाओं को ही अधिक महत्त्व प्रदान करता जान पड़ता है। ईश्वर की लीलाओं से सगुण ईश्वर का स्वरूप स्पष्ट होता है। जो निर्गुण ईश्वर गुणातीत, शब्दातीत, चित्रातीत एवं संस्कारातीत है, वही अवतारवादी प्रयोजन की पूर्ति के लिए साकार होता है। ऐसे सगुण ईश्वर को नवधा भक्ति के माध्यम से पाया जा सकता है। नवधा भक्ति इस प्रकार है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

ईश्वर की कथा को श्रद्धापूर्वक सुनना श्रवण भक्ति है, ईश्वर का गुणगान कीर्तन भक्ति है, ईश्वर को पुनः-पुनः याद करना स्मरण भक्ति है, ईश्वर की मूर्ति की पग-सेवा पाद सेवन भक्ति है, ईश्वर की प्रतिमा पर पुष्पादि चढ़ाना अर्चन भक्ति है, ईश्वर की महिमा के सूचक स्तोत्रों का गान एवं मनन वन्दना भक्ति है, 'ईश्वर मेरे स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ'—यही भावना दास्य भक्ति है, ईश्वर को अपना मित्र मानकर उसमें परम प्रेम रखना सख्य भक्ति है तथा निरहंकार भाव से सब कुछ ईश्वर को ही समर्पित करना आत्म-निवेदन भक्ति है। ईश्वर अपने भक्त की रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहता है। ईश्वर अपने कर्ममार्गी भक्त की निष्कामता के आधार पर रक्षा करता है, भक्तिमार्गी भक्त को सामीप्य मोक्ष प्रदान करके रक्षा करता है, ज्ञानमार्गी सारूप्यता को प्राप्त करके रक्षा का पात्र बनता है। अतः ईश्वर का अवतार अनेक माध्यमों से समाज का रक्षक कहा जा सकता है।

9. हेतु—जीवों के जन्म का कारण अविद्या है। अविद्या के कारण जीव का नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं चेतन रूप धूमिल हो जाता है। इसी अविद्या को जन्म का हेतु कहा गया है। संसार के सभी जीवों का संसरण अविद्या के ही कारण होता है। अविद्या-ग्रस्त जीव का जन्म-मरण होता है, यथार्थ जीव का नहीं। समस्त सृष्टि-प्रलय का यही रहस्य ज्ञातव्य है। जीव जब बच्चे के रूप में अबोध और अशक्त होता है, तो वह अपने आपको बच्चा मानता है और जब वह यौवन, प्रौढ़ तथा वृद्धावस्था जैसे शरीर-यात्रा क्रमों से निकलता है तो वह अपने आपको तद्वत् देखने लगता है। वास्तव में जीव क्या है? अथवा 'कोऽहं' जैसी समस्या उसके सामने सदैव बनी रहती है। अतः अविद्या के कारण संस्कार-रचना का क्रम नहीं टूट पाता है तथा जीव विभिन्न योनियों में संसरण के लिए विवश हो जाता है। विष्णु पुराण में ठीक ही कहा है—

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥ —विष्णुपुराण

अतः दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाकर पुराणों में अविद्या के स्वरूप को बहुत अधिक स्पष्ट किया गया है। वस्तुतः अविद्या माया का ही नाम है। माया त्रिगुणमयी है। त्रिगुण के समुद्र में सभी जीव निमज्जित रहते हैं। इसीलिए अविद्या को कर्म-जननी कहकर भागवत पुराण में कहा गया है—

हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेर विद्याकर्मकारकः
तं चानुशायिनं प्राहुर व्याकृतमुतापरे ॥ —भागवत, 12/7/18

अतः सृष्टि के प्रारम्भ में अविद्या के कारण ही कर्मों का प्रसार हुआ। इसलिए अविद्या ही जीव के संसरण का हेतु है। जीव प्रकृति में शयन करता है, इसलिए जीव को 'अव्याकृत' अर्थात् प्रकृतिरूप भी कहा गया है। हमें यहाँ यह याद रखना चाहिए कि किसी भी सृष्टि को प्रथम सृष्टि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीव की प्रकृतिबद्धता सृष्टि को अनादि मानने पर ही सिद्ध हो सकती है। अतः जीव प्रकृति और ईश्वर अनादि होने के कारण समस्त विश्व और ब्रह्माण्ड रूपी नाटक के सर्वस्व हैं।

10. अपाश्रय—अपाश्रय अधिष्ठान या आधारभूत स्थिति का नाम है। जब जीवात्मा जाग्रतावस्था में होती है तो उसे विश्व की यथार्थ अनुभूति होती है, जब जीव सोता है तो उसे यथार्थ विश्व की मानसी अनुभूति होती है, जब जीव सुषुप्ति में होता है तो वह कुछ क्षणों के लिए पूरी तरह से अपने आप में खो जाता है, ऐसी स्थिति को प्राज्ञ—पूर्ण अज्ञता कहते हैं। जीव इन तीनों स्थितियों में अलग-अलग प्रकार का अनुभव प्राप्त करता है। यह सब अनुभव मायामय है। वास्तव में जीव क्या है? इस प्रश्न का समाधान ये तीनों ही अवस्थाएँ नहीं कर पातीं। पुराण विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर यही स्पष्ट करते हैं कि जीव अनेक रूपों के अनुभव में ईश्वर के अनेक रूपों का अनुभव करता है। परन्तु ईश्वर का वास्तविक रूप क्षणिकता के आधार पर उसे 'सुषुप्ति' में अनुभूत होता है। यदि जीव तुरीयावस्था को प्राप्त करले तो वह अपने यथार्थ रूप को प्राप्त हो जाता है। उस समय वह अपने यथार्थ अधिष्ठान को प्राप्त कर लेता है। इसी तत्त्व को भागवतकार ने इस प्रकार कहा है—

विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तिभयं स्वयम्।
योगेन वा तदात्मानं वेदेहाया निवर्तते ॥ —भागवत

अतः पुराणों में दश लक्षणों को आधार बनाकर अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया गया है। भागवत पुराण का 'अन्तराणि' लक्षण मन्वन्तर का वाचक है, 'संस्था' प्रतिसर्ग का सूचक है। अन्य लक्षणों का यथाक्रम वर्णन कर दिया गया है। फिर भी यह कहना कथमपि उचित जान नहीं पड़ता कि पुराणों में अन्य विषयों का विवेचन ही नहीं हुआ है।

पुराणों का महत्त्व

अष्टादश पुराणों में वेदों के कथानकीय रहस्यों को पर्याप्त विस्तार दिया गया है। यद्यपि पुराणों का प्रचलन उत्तर वैदिक काल में ही हो चुका था, परन्तु पुराणों का प्रभाव ईसापूर्व छठी शताब्दी के पश्चात् ही समाज में देखने को मिला। पुराणों में भक्तिमार्गी दर्शक के प्राधान्य के कारण अनेक प्रकार की रूढ़ियों का भी प्रचलन हो गया था। फिर भी पुराणों का महत्व अनेक कारणों से अनेक रूपों में दर्शनीय है। पुराणों के महत्व के प्रमुख कारण इस प्रकार है—

1. वेदों का विस्तार, 2. अवतारवाद, 3. विभिन्न विद्याओं का वर्णन, 4. भौगोलिक जानकारी, 5. भक्ति-भावना का विस्तार, 6. ऐतिहासिकता का आधार, 7. दार्शनिकता का स्रोत, 8. काव्य-स्रोत तथा 9. धर्मशास्त्रीय महत्व।

1. **वेदों का विस्तार**—वैदिक संहिताओं में सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के राजाओं के अतिरिक्त अनेक कथानकों का संकेत है। पुराणों में उन्हीं सांकेतिक कथानकों को विस्तार दिया गया है। चन्द्रवंश के राजा पुरुरवा तथा उर्वशी के संवाद की एक झलक ऋग्वेद में मिलती है। उसी संवाद को पुराणों में एक विस्तृत कथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेदों का इन्द्र देवता एक राजा के रूप में पुराणों में प्रसिद्ध रहा है। वेदों के यज्ञवाद को पुराणों में पर्याप्त विस्तार दिया गया है। राजसूय, अश्वमेध जैसे अनेक यज्ञों की चर्चा पुराणों में सविस्तार की गई है। राजा सगर के यज्ञ के सन्दर्भ में ब्रह्मवैवर्त पुराण में विस्तार से लिखा गया है। वेदों के यज्ञों का राजनीतिक रहस्य केन्द्रीय शक्ति का निर्माण ही था—ऐसा पुराणों से ही जाना जा सकता है। देववंश के राजा इन्द्र ने सगर को 'इन्द्र' बनने से रोका। राजाओं में इन्द्र बनने की अभिलाषा केन्द्रीय सत्ता को निर्मित करने के रूप में विलसित रही। चन्द्रवंशी राजा नहुष ने इन्द्र को पराजित करके इन्द्रत्व प्राप्त किया परन्तु पूर्ववर्ती इन्द्र ने विद्वत्वर्ग को अपने पक्ष में लेकर नहुष को सन्मार्ग से हटाकर इन्द्रशासन से भी हटा दिया। वैदिक धर्म को प्रतिष्ठित करने में पुराणों का जो योगदान रहा है, वह भी किसी से छिपा नहीं है। वेदों का यज्ञवाद ही नहीं, ज्ञानमार्ग भी पुराणों का सांगोपांग रूप में चित्रित हुआ है। वैदिक देवताओं को ईश्वर के रूप में पूजने की स्वस्थ परम्परा पुराणों से ही विकसित हुई है। वेदों में जो काव्य-शैली कार्य कर रही थी, उसी का विस्तार पुराणों में चरम सीमा तक पहुँच गया है। वेदों में दिव्य शक्तियों के मानवीकरण करने की प्रथा थी, इसीलिए इन्द्र को एक नित्य युवक का रूप प्रदान किया। परन्तु पुराणों में दिव्य शक्तियों के लक्षणों के आधार पर उनका मानवीकरण कर दिया गया तथा उनको ईश्वर रूप में भी प्रतिष्ठित कर दिया गया। अतः पुराणों में वेदों का विविधमुखी विस्तार है।

2. **अवतार वाद**—भारतीय संस्कृति में अवतारवाद का श्रीगणेश पुराणों ने ही किया। दिव्य शक्ति का एक जीवधारी के रूप में अवतरित होना ही अवतार-वाद का आधार है। पुराणों में ईश्वर के दशावतार की चर्चा हुई है। अवतारों का क्रम इस प्रकार है—1. मत्स्यावतार, 2. कूर्मावतार, 3. वराहावतार 4. नृसिंहावतार, 5. वामनावतार, 6. परशुराम, 7. श्रीरामचन्द्र, 8. श्रीकृष्ण, 9. गौतम बुद्ध तथा 10. कल्कि।

पौराणिक अवतारवाद में मनोविज्ञान को भी ध्यान में रखा गया है। ज्यों-ज्यों धर्म का ह्रास होता है, अधर्म का अभ्युत्थान होता है, संतजन पीड़ित होते हैं, दुष्टजन उत्पात मचाते हैं, त्यों-त्यों विशिष्ट आधार को पाकर दिव्य शक्ति को प्रकट होना पड़ता है। पुराणों की अतिशयोक्तिपूर्ण शैली ईश्वर को प्रायः मानव

के रूप में प्रकट देखती रही है, परन्तु यह कहना अधिक युक्तिसंगत है कि विकट परिस्थितियाँ ही मानव को ईश्वरीय गुणों को धारण करने की प्रेरणा देती हैं। पुराणों के अवतारवाद का प्रभाव गीता, भक्तिदर्शन तथा विभिन्न भाषाओं के साहित्य के ऊपर परिलक्षित होता है। पौराणिक अवतारवाद में आदर्शता की प्रधानता स्पष्ट है। श्रीराम ने सीता की प्राप्ति के निमित्त आर्य संस्कृति के उद्धार को अपनी लीला का प्रयोजन माना। श्रीकृष्ण तानाशाही का सशक्त विरोध करके लोकतान्त्रिक नीतियों को महत्व देते रहे। गौतम बुद्ध ने आडम्बरों के विरोध में बौद्ध धर्म तथा दर्शन का प्रचार किया।

3. **विभिन्न विद्याओं का वर्णन**--पुराणों में ऐसे अनेक संकेत हैं जिनसे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक काल में अपने देश में अनेक विद्याओं का प्रयत्न था। पुराणों में मुख्यत: चौदह विद्याओं के नाम इस प्रकार हैं—

अनुलेपन विद्या, स्वेच्छारूपधारिणी विद्या, सर्वभूतरुत विद्या, पद्मिनी विद्या, अस्राग्राम विद्या, रक्षोघ्न विद्या, जालन्धरी विद्या, वाक् सिद्धि विद्या, परावाला विद्या, पुरुष प्रेमोहिनी विद्या, उल्लापन, विद्या देवहूतिविद्या, युवकरण विद्या तथा वज्रवाहनिका विद्या।

पौराणिक अनुपलेपन विद्या के आधार पर कोई व्यक्ति अपने पैरों पर लेप करके हजारों मील की यात्रा कर सकता था। स्वेच्छारूपधारिणी विद्या के विषय में महिषासुर को जानकारी थी, जो अनेक रूप धारण करके युद्ध कर लेता था। पद्मपुराण में राजा धर्ममूर्ति को स्वेच्छारूपधारिणी विद्या का ज्ञाता कहा है। मत्स्य पुराण में सभी जीवधारियों की बोलने की ध्वनि को 'सर्वभूतरुत विद्या' के अन्तर्गत रखा है। राजा ब्रह्मदत्त को इस विद्या की जानकारी थी। मार्कण्डेय पुराण मे कलावती और स्वरोचिष के प्रसंग में पद्मिनी विद्या के प्रभाव से छिपे रत्न-भण्डारों को जानने का वर्णन है। अतः आधुनिक भूगर्भशास्त्र के सम्बन्ध में पौराणिक युग में जानकारी थी। ऐसी जानकारी से भूगर्भशास्त्रियों को पर्याप्त प्रेरणा मिली है। 'अस्त्रग्रामविद्या' के प्रसंग में अनेक चमत्कारों को प्रदर्शित करने वाले शस्त्रों की चर्चा हुई है। अर्जुन ने शंकर से पाशुपात अस्त्रों को प्राप्त किया था। राम तथा अर्जुन के पास अक्षय तूणीर थे। वारुण्यास्त्र तथा आग्नेयास्त्र की जानकारी आधुनिक युग की शस्त्र विद्या के लिए एक विशेष प्रेरणा है। दुष्टों का दलन करने वाली तथा स्वयं की रक्षा करने वाली विद्या को 'रक्षोघ्न विद्या, नाम दिया गया। मार्कंडेय पुराण के 70वें 'अध्याय में रक्षोघ्न विद्या' का उल्लेख किया गया है। इस विद्या को 16वीं शताब्दी के हिन्दी कवि तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' में उल्लेख रूप में प्रस्तुत किया है—

"अब सो मन्त्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनि द्रोही।।"

जल में अन्तर्धान होने की विद्या को जालन्धरी विद्या का रूप दिया गया। महाभारत में दुर्योधन के युद्ध-प्रसंग में पौराणिक जालन्धरी विद्या का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। पौराणिक युग में वाक्सिद्धि विद्या का भी विकास

रहा था, जिससे शाप एवं आर्शीवाद देने की शक्ति उत्पन्न हो जाती थी। 'परा वाला विद्या' के प्रभाव से कोई व्यक्ति शृंगारिक वातावरण में रहकर भी नितान्त निष्काम रह सकता था। इस पुराण-विद्या ने संसार को लीला या खेल के रूप में समझने का पाठ पढ़ाया। पौराणिक 'पुरुष प्रमोहिनी विद्या' के प्रभाव से कोई सुन्दरी बड़े-बड़े ऋषियों को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुई है। पौराणिक काव्यों में रम्भा नामक अप्सरा द्वारा महर्षि विश्वामित्र को विमोहित करने का वर्णन मिलता है। कुबड़े लोगों को सीधा एवं नीरोग बनाने में पौराणिक उल्लापन विद्या का विशेष योगदान है। पौराणिक श्रीकृष्ण ने कुब्जा को इसी विद्या के माध्यम से स्वस्थ किया था। इसी का प्रभाव सूर के काव्य पर भी परिलक्षित होता है। श्रीमद्भागवत पुराण मे एक प्रसंग यह है कि कुन्ती ने महर्षि दुर्वासा से 'देवहूति' विद्या सीखी थी, जिसके प्रभाव से वह सूर्य नामक देवता को अपने निकट बुला सकी। वृद्धों को युवक बना देने वाली विद्या को 'युवकरण विद्या' के नाम से जाना गया। शरीर को वज्रवत् कठोर बनाने वाली विद्या को 'वज्रवाहिनिका विद्या' कहा गया। आधुनिक युग में इस विद्या का सम्बन्ध व्यायाम से जोड़ा जाता है। पुराणों में वर्जित चौदह विद्याओं के अतिरिक्त 'रत्नपरीक्षा', 'वास्तुविद्या', 'अश्वशास्त्र' आदि का वर्णन है। इन सभी विद्याओं ने आधुनिक वैज्ञानिक क्षेत्र को एक नई दिशा में आगे बढ़ने के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। पुराणों की विद्याएँ आधुनिक समाज को अनेक चमत्कारों की ओर बढ़ने की प्रेरणाएँ देती हैं।

4. **भौगोलिक जानकारी**—पौराणिक युगीन भूगोल हमें प्राचीन संस्कृति का अध्ययन करने में सहायता प्रदान करता है। कुछ पौराणिक पर्वत एवं समुद्र आधुनिक युग में लिखे गए इतिहास के इन विवादास्पद प्रश्न का समाधान खोजने में सहायता करते हैं कि आर्यों का मूल देश कौन-सा था? पुराणों में क्षीरसागर का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। क्षीरसागर को विष्णु का निवास-स्थान बताया गया है। क्षीरसागर किसी मीठे पानी के समुद्र को कहा जाता होगा। प्राचीन युग में 'काश्यप सागर' एक विशाल समुद्र के रूप में रहा होगा। आजकल उसे कैस्पियन सागर कहते हैं। भौगोलिक हलचलों के कारण पुरातन काश्यप सागर का एक अंश बालकश झील के रूप में अवशिष्ट रह गया। आज बालकश झील विश्व मे सर्वाधिक मीठे पानी की झील है। अतः ईरानी भाषा में 'शीरवान्' शब्द क्षीरसागर के नाम की परम्परा को सूचित करता हुआ हमें 'बालकश झील' शब्द की ओर जाने के लिए विवश कर देता है। 'शीरवान्' दुग्धपूर्ण समुद्र का ही संकेतक शब्द है। अतः देवों में श्रेष्ठ विष्णु का राज्य क्षीरसागर या कैस्पियन सागर के इर्द-गिर्द रहा होगा। अतः देवों के वंशज आर्य वृहत्तर भारत के ही निवासी रहे होंगे।

पौराणिक सुमेरु पर्वत मंगोलिया का 'अल्टाई' पर्वत ही है, क्योंकि मंगोलियन भाषा में 'अल्टाई' शब्द का अर्थ होता है—स्वर्ण-निर्मित पर्वत। भारतीय साहित्य में सुमेरु को देवताओं का निवास कहा है। सुमेरु को हिमालय के उत्तर में ही स्थित बतलाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि देव मध्य एशिया के निवासी थे

तथा उनकी सन्तान आर्यों के रूप में भारत में आकर निवास करने लगी थी। देव संस्कृति वेदों में सुरक्षित है तथा मानव संस्कृति भी। अतः वैदिक साहित्य का सम्बन्ध निश्चयतः बृहत्तर भारत से रहा है। पुराणों में जम्बूद्वीप पहले बृहत्तर भारत को कहा गया, जिसमें चीन और साइबेरिया का भाग भी सम्मिलित था। पुराणों का दूसरा द्वीप प्लक्षद्वीप है, जिसे आजकल आस्ट्रेलिया के नाम से जाना जा सकता है। पुराणों का शाल्मलि द्वीप नाग संस्कृति और मणियों के भण्डार के आधार पर उत्तरी अमेरिका महाद्वीप ही है। पुराण-वर्णित कुशद्वीप को नील नदी से सिंचित दिखलाया गया, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुशद्वीप आधुनिक अफ्रीका महाद्वीप ही है। पुराणों का क्रौंचद्वीप आधुनिक अनुसन्धानों के फलस्वरूप मय संस्कृति के आधार पर दक्षिणी अमेरिका ही सिद्ध होता है। प्राचीन शाकद्वीप आधुनिक दक्षिणी पश्चिमी एशिया ही है। अतः पौराणिक भूगोल प्राचीन संस्कृति के विस्तार को जानने में बड़ा सहायक है।

5. भक्ति-भावना का प्रसार—पुराणों में नवधा भक्ति का सांगोपांग वर्णन हुआ है। भागवत पुराण में नौ भक्तियों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

पुराणों के भक्तियोग ने दशम शताब्दी में प्रारम्भ होने वाले भक्ति आन्दोलन को विशेष रूप में प्रभावित किया। हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन कवियों को पुराणों की भक्ति-भावना ने विशेष रूप में प्रभावित किया है। पुराणों की उपासना पद्धति ने हिन्दू समाज को वैदिक धर्म के पथ पर चलने के लिए एक नए रूप में ही प्रेरित किया। विष्णु पुराण में प्रह्लाद, ध्रुव जैसे भक्तों की चर्चा हुई है। ऐसे भक्तों के भक्तिपूर्ण भाव जन-समाज को एक आदर्श सिखाने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुए हैं। पुराणों में ऐसे भक्तों की भी चर्चा है, जो भक्ति के समुद्र में डूबकर मोक्ष को भी भुलाते रहे। पौराणिक भक्ति-भावना ने जनसमाज को जीवन के प्रति एक आनन्दवादी दृष्टिकोण अपनाना सिखाया। भागवत पुराण में मार्कण्डेय ऋषि को शंकर की भक्ति में इतना ओत-प्रोत दिखाया है कि वे शंकर का स्तवन करते समय ईश्वर के वैचित्र्य को प्रतिपादित कर बैठते हैं—

नमः शिवाय शान्ताय सत्वाय प्रमृडाय च।
रजरेन्खेडघोराय नमस्तुभ्यं तमोजुषे॥

6. ऐतिहासिकता का आधार—उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक रूप में इतिहास लिखने की परम्परा प्रारम्भ हुई। ऐतिहासिक युग में राजाओं के दरबारी कवियों ने प्रशस्ति-काव्य लिखकर ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे। पौराणिक युग में राजवंशों का इतिहास लिखने की परम्परा रही है। पुराणों के प्रमुख पाँच लक्षणों में से 'वंशानुचरित' नामक लक्षण के आधार पर इतिहास ही लिखा जाता था। सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के राजाओं का इतिहास जानने के लिए हमें पुराणों को ही वर्णन का आधार बनाना पड़ता है। गौतम बुद्ध से लेकर पाँचवीं शताब्दी में होने वाले गुप्तवंशी

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य तक की ऐतिहासिक जानकारी भागवत पुराण के आधार पर सम्भव है। अनेक ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए पुराणों को ही आधार मानकर आगे बढ़ा जाता है। प्राचीन राज्यों की जानकारी के एकमात्र आधार भी पुराण ही हैं।

7. दार्शनिकता का स्रोत—पुराणों में कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का विशद् वर्णन हुआ है। पुराणों के अवतारवाद ने 'गीता' के अवतारवाद को भी प्रभावित किया है। पुराणों में ईश्वर का स्वरूप सगुण तथा निर्गुण दोनों ही रूपों में प्रस्तुत किया गया है। पुराणों की सम्मता है कि ईश्वर की कृपा से ही जीव भगवदाकारता को प्राप्त हो सकता है। इस सिद्धान्त को 15वीं शताब्दी में आचार्य वल्लभ ने अपनाया तथा अद्वैतवाद को भक्तिवादी रूप देने के लिए 'शुद्धाद्वैतवाद' की स्थापना की। वल्लभाचार्य ने भागवत् पुराण का भाष्य करके उसे दार्शनिक ग्रंथ बना दिया। पौराणिक यज्ञवाद ने वैदिक यज्ञवाद को पूर्ववाद रूप में प्रचलित रखने में योगदान दिया। पुराणों में ही वैष्णव तथा शैव जैसे भक्त-सम्प्रदायों का विकास हुआ। साम्यवादी दृष्टिकोण भी पुराणों की ही देन है। पुराणों में नास्तिकता और आस्तिकता का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। भोगवाद को यथार्थ रूप देने में तथा उसे विरक्ति रूप देने में भी पौराणिक कथाओं का विशेष योगदान है।

8. काव्य का स्रोत—पुराणों में अनेक कथाओं का विस्तृत वर्णन है। सूर्यवंश के राजाओं का इतिवृत्त भागवत् पुराण में मिलता है। उसी इतिवृत्त को आधार बनाकर चौथी शताब्दी में महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' महाकाव्य की रचना की। शिव पुराण तथा स्कन्द पुराण की घटनाओं को लेकर कालिदास का 'कुमारसम्भव' नामक महाकाव्य लिखा गया। संस्कृत के अनेक नाटकों की रचना पौराणिक कथानकों को लेकर ही हुई। पुराणों का प्रभाव संस्कृत साहित्य के ऊपर ही नहीं, अपितु हिन्दी साहित्य के ऊपर भी व्यापक रूप में पड़ा है। भागवत् पुराण के दशम स्कन्ध के आधार पर भक्तिकालीन कवि सूरदास ने श्रीकृष्ण की लीलाओं का अद्भुत रूप प्रस्तुत किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस की भूमिका में 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं' कहकर अपने काव्य के ऊपर पुराणों के प्रभाव को स्वीकार किया। तुलसी ने पुराणों को आप्त वाक्य के रूप में भी ग्रहण किया है—'कहहिं वेद इतिहास पुराना'। आधुनिक संस्कृत साहित्य पर पुराणों का व्यापक प्रभाव स्पष्ट है। आधुनिक युग के महान् नाटककार भट्टनारायण शास्त्री ने छियानवें पौराणिक नाटकों की रचना की। 'त्रिपुर विजयम्', 'मैथिलीयम्', 'अमृतमन्थनम्' आदि नाटक पौराणिक प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। हिन्दी के आधुनिक कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' पर पौराणिक प्रभाव स्पष्ट है। पुराणों की शैली ने भी साहित्य विधाओं की शैली को प्रभावित किया है। अतः पुराणों का साहित्य के ऊपर विविधमुखी प्रभाव है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

9. धर्मशास्त्रीय महत्व—पुराणों में वर्ण-व्यवस्था तथा वर्णाश्रम-धर्म का वैज्ञानिक विधान प्रतिपादित करने का एक सुन्दर प्रयास दिखलाई पड़ता है। पुराणों में इष्टापूर्ण कर्मों की करणीयता पर विचार करके हमारे जन-समाज को एक स्वस्थ कर्म-पथ प्रदान किया गया है। पुराण तीर्थों की महिमा प्रतिपादित करने में पीछे नहीं रहे। पुराणों ने राजधर्म का वर्णन भी विस्तार से किया है। परन्तु, जब पुराणों ने ब्राह्मणों की जातिगत तथा देशगत विशेषताओं को लेकर उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा का श्रीगणेश किया तो अनेक आडम्बरों का प्रचलन प्रारम्भ हो गया। गया नामक तीर्थ के ब्राह्मणों के विषय में निम्न दर्शनीय उदाहरण है--

न विचार्यं कुलं शीलं विष्ण च तप एव च।
पूजितैस्तु राजेन्द्र ! मुक्ति प्राप्नोति मानवः ॥ —वायु पुराण, 82/26

अर्थात् गया तीर्थ के ब्राह्मण के कुल, उसके शील, विद्या तथा तपस्या के विषय में विचार न करके जो व्यक्ति उसका आदर करता है, वह मुक्ति को प्राप्त होता है। यहाँ यह विचारणीय है कि यदि गया तीर्थ के ब्राह्मण की जाति-विद्या तत्त्व अपरीक्षणीय हैं तो कुछ लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के पीछे लड़ूरे विद्वानों की भी पूजा होने लगेगी। अतः पुराण ब्राह्मण-धर्म का विश्लेषण करते समय अतिवादी दृष्टिकोण और झुके हुए भी दिखलाई पड़ते हैं। इसी तरह से मानवों को भयभीत करके उन्हें धर्मप्रियता का पाठ पढ़ाना तो उचित है, परन्तु ऐसी धर्मप्रियता के पीछे अनेक आडम्बरों से समाज को आक्रान्त करना तो बुरा है। फिर भी पुराणों के अनेक उदाहरण स्मृति-ग्रंथों में ज्यों-के-त्यों पाए जाते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों ने धर्मशास्त्र को अत्यधिक प्रभावित किया है। राजाओं और ऋषियों के चरित्र को लेकर जो चारित्रिक धर्म प्रस्तुत किया गया, उसका अधिकांश सदैव अनुसरणीय रहेगा। वर्ण-व्यवस्था तथा वर्णाश्रम धर्म को समाज में अत्यधिक प्रचलित करने का श्रेय पुराणों को ही है। अनेक विद्वानों ने पुराणों को धर्मशास्त्र ही कहा है।

अब हम इस निष्कर्ष पर सहजतया पहुँच सकते हैं कि पुराणों में वस्तुओं तथा तत्त्वों के नामकरण में भी काव्यात्मक शैली का परिचय दिया गया है। इसीलिए सृष्टि को विस्तार देने वाली शक्ति को ब्रह्म, सृष्टि को गति या विकास देने वाली शक्ति को विष्णु तथा सृष्टि संहार करने वाली शक्ति को रुद्र कहा गया है। वस्तुतः ये तीनों ही नाम चैतन्य शक्ति की तीन स्थितियों के हैं। परन्तु समय-समय पर होने वाले ऋषियों और राजाओं को प्रकृति के साथ जोड़कर अतिशयोक्तिपूर्ण शैली का स्वरूप सुसज्जित कर दिया गया है। पुराणों में प्रायः सभी तथ्य अतिशयोक्ति से पूर्ण हैं। पौराणिक काल-गणना अनेक प्रसंगों में अत्युक्तिपूर्ण जान पड़ती है। तपोरत व्यक्तियों के तपस्या-काल निर्धारण करते समय अत्यन्तातिशयोक्ति से काम लिया गया है। युवती पार्वती को शंकर की प्राप्ति हेतु कई हजार वर्ष तक तपस्या करनी पड़ी। वृद्ध मनु तथा शतरूपा ने हजारों वर्ष तप किया। ऐसे सभी प्रसंगों को अतिशयोक्तिपूर्ण ही मानना पड़ेगा। फिर भी पुराणों में धार्मिक तथा दार्शनिक अनुचिन्तन का स्वरूप पर्याप्त उज्ज्वल है। समय-समय पर होने वाले

व्यासों ने अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए पुराणों की उज्ज्वलता को अत्यधिक धूमिल करने के दुस्सहासपूर्ण प्रयास किए हैं। प्रशस्तिगान करने वाले चरणों और भाटों की भाँति पौराणिक वेदव्यासों ने भी पुराणों का ऐतिहासिक रूप बिगाड़ने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखी। एक विचित्र बात और भी है कि पुराणों का अवतारवाद तो विकासवादी सिद्धान्त का पोषक जान पड़ता है परन्तु पौराणिक युगक्रम अपनी उल्टी गंगा ही बहाता है। सतयुग को सर्वाधिक उन्नतिशील युग कहा गया है। त्रेता को सतयुग की अपेक्षा कम प्रगतिशील तथा द्वापर को त्रेता की अपेक्षा कम विकसित बताया गया है। वर्तमान युग (कलयुग) को तो समस्त पापों का केन्द्र ही कह दिया गया है। इतना कहने पर भी कलियुग को रामनाम के प्रताप से सुसज्जित करने की दिव्य कल्पना की गई है। कलियुग में ईश्वर का नाम लेने से ही मुक्ति होती है। ऐसे पण्डिताऊपन के कारण ही हमारा देश प्रगतिशीलता की दौड़ में पीछे रह गया है। फिर भी पुराणों का मूल तत्त्व धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की दृष्टि से अत्यन्त प्रसंशनीय है। विभिन्न भाषाओं के साहित्य को विकसित करने में पुराणों का अभूतपूर्व योगदान स्वीकार किया गया है। प्राचीन युग को सर्वाधिक उन्नति का केन्द्र बताने से पुराणों ने अतीत को जो महत्त्व प्रदान किया है. उसका राष्ट्रीयतावादी महत्त्व अवश्य है। परन्तु पुराणकारों की इस कल्पना का आदर कथमपि नहीं किया जा सकता कि समस्त प्रगति अतीत काल में ही हो चुकी है तथा आधुनिक युग पापों का केन्द्र है। आज के विज्ञान को आज की विविधिमुखी सभ्यता को महत्त्व देने के लिए हमें महाकवि कालिदास के इस कथन की ओर दृष्टिपात करना ही चाहिए—

'पुराणमेव न साधुसर्वं न नवमित्यवद्यम्।'

पौराणिक महाकाव्य
(Mythological Epics)

हम पूर्व पृष्ठो में पुराणो के विषय में सविस्तार प्रकाश डाल चुके हैं। जिस प्रकार पुराण लौकिक संस्कृत के प्राचीन रूप में प्रणीत हुए, उसी प्रकार लौकिक संस्कृत को आधार बनाकर वाल्मीकि ने 'रामायण' तथा कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने 'महाभारत' की रचना की। पाँचवीं शताब्दी ई. पू. में आचार्य पाणिनि ने जिस संस्कृत भाषा को 'अष्टाध्यायी' के रूप में व्याकरणबद्ध किया, उससे किंचित् भिन्न भाषायी रूप में 'रामायण' एवं 'महाभारत' नामक प्राचीन महाकाव्यों की रचना हुई। अतः भाषा की दृष्टि से ही नहीं, अपितु अनेक पौराणिक प्रतिमानों के आधार पर भी उक्त ग्रन्थों को पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है।

रामायण

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस के बालकाण्ड में रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि का आदर करते हुए लिखा है—

बन्दहु मुनि पद कंज, रामायण जेहि निरमयऊ।
सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषण सहित॥

संस्कृत साहित्य के नाटक 'उत्तररामचरित' में महर्षि वाल्मीकि को आदि कवि के रूप में याद किया गया है। वाल्मीकि रामायण के प्रारम्भ में वाल्मीकि को नारद तथा भरद्वाज जैसे ऋषियों से प्रभावित दिखलाया है। परन्तु यह निश्चित है कि लौकिक संस्कृत में पहले कवि के रूप में वाल्मीकि ही प्रसिद्ध हैं। डॉ. रामधारीसिंह दिनकर ने वाल्मीकि को लौकिक संस्कृति का प्रथम कवि कहने का एक साम्य ढूँढ निकाला है। वस्तुत: जिस प्रकार तेरहवीं शताब्दी में हिन्दी के कवि अमीर खुसरो ने खड़ी बोली में कुछ रचनाएँ कीं, परन्तु वह युग हिन्दी का प्रारम्भिक युग ही था; उसी प्रकार वैदिक संस्कृत के युग में वाल्मीकि ने लौकिक सस्कृत में महाकाव्य 'रामायण' की रचना की।[1] कहा जाता है कि एक बार वाल्मीकि तमसा नदी के तट पर घूम रहे थे। उनके सामने ही एक दुर्घटना घटित हुई। एक बहेलिये ने अपने तीर के वार से क्रौंच या टटहरी पक्षी के जोड़े में से एक का वध कर दिया। जोड़े में से बचा एक पक्षी विरह-कातर दृष्टि से देखता रहा—प्रलापता रहा। वाल्मीकि की सहृदयता करुणा-ज्वार के रूप में परिणत हो गई। अचानक ही उनके कण्ठ से यह अनुप्टुप छन्द फूट पड़ा—

मां निपाद ! प्रतिष्ठात्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

वाल्मीकि से पूर्व रामायण से सम्बद्ध कुछ आख्यान प्रचलित रहे थे। पहले राम-कथा कण्ठों तक ही सीमित रही थी। पीछे से वाल्मीकि ने राम-कथा को एक महाकाव्य का रूप प्रदान किया परन्तु वाल्मीकि रामायण में वाल्मीकि राम के समकालीन कहे गए हैं। पौराणिक शैली के आधार पर तो उन्होंने 'रामायण' की रचना राम के उद्भव से पूर्व ही कर दी थी। परन्तु ऐसा कथन केवल आदि कवि को महत्त्व प्रदान करने के लिए ही है। आधुनिक 'रामायण' को देखते हुए यह कहना न्यायसंगत है कि रामायण पहले अति संक्षिप्त रूप में रही होगी। वाल्मीकि आदि कवि थे, परन्तु उन्होंने रामायण को जो रूप प्रदान किया, वह आज अप्राप्य है। समय-समय पर 'रामायण' कवियों के हाथों में पड़ती रही तथा उसमें इतना प्रक्षेप किया गया कि उसका वास्तविक रूप ही तिरोहित हो गया। आधुनिक वाल्मीकि रामायण में गौतम बुद्ध को एक नास्तिक के रूप में याद किया गया है—'यथाहि चोरः स हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्रविद्धि।' (2/109/34)। फिर भी रामायण का मूल रूप वैदिक युग में ही रचा गया होगा। सम्प्रति रामायण का रचना-काल 600 ई. पू. माना जा सकता है।[2]

रामायण का महाकाव्यत्व—रामायण एक पौराणिक महाकाव्य है। किसी महाकाव्य को महाकाव्यत्व की कसौटी पर कसने के लिए कुछ प्रमुख अग्रलिखित लक्षणों की आवश्यकता होती है—

1 दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 67.
2 कामिल बुल्के : रामकथा, पृ. 101.

1. सर्गवद्धता, 2. उदात्त नायक, 3. प्रसिद्ध कथानक, 4. शृंगार, वीर तथा शान्त रसों में से कोई एक प्रधान रस तथा अन्य रसों का भी यथायोग्य समावेश, 5. प्रकृति-वर्णन की विविधता, 6. भाषा-शैली की उदात्तता तथा 7. रचना का विशिष्ट उद्देश्य।

प्राय: सभी काव्यशास्त्राचार्यों ने उपर्युक्त लक्षणों को किंचित् हेर-फेर के साथ स्वीकार किया है। यदि उपर्युक्त सात लक्षणों में कुछ संशोधन करना आवश्यक माना जाए तो पहले और तीसरे लक्षणों को एक लक्षण में ही समाहित करना भी सम्भव हो सकता है---अर्थात् सर्गवद्ध प्रसिद्ध कथानक का संयोजन।

1. रामायण की सर्गवद्धता—रामायण में सात काण्ड हैं--वालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड। इन सभी काण्डों में अनेक सर्ग हैं। वाल्मीकि ने एक घटना को एक सर्ग में वांधकर रामायण की प्रमुख कथा में कोई व्याघात नहीं पहुँचने दिया है। वाल्मीकीय रामायण की सर्गवद्धता से हिन्दी के 'पृथ्वीराजरासो' तथा 'रामचन्द्रिका' नामक महाकाव्य प्रभावित जान पड़ते हैं। साहित्यदर्पणकार ने आठ से अधिक सर्गो की आवश्यकता पर वल दिया है परन्तु सर्गो के आठ से अधिक होने पर ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। जिस प्रकार हिन्दी का रामचरितमानस सात काण्डों—'सप्त प्रवन्ध सुभग सोपाना' होने पर भी एक सफल महाकाव्य है; उसी प्रकार वाल्मीकि रामायण भी सर्गवद्धता की दृष्टि से एक सफल महाकाव्य है। आचार्य विश्वनाथ की यह उक्ति—'सर्गवद्धो महाकाव्यम्' वाल्मीकि रामायण के ऊपर पूरी तरह से चरितार्थ होती है।

2. उदात्त नायक—रामायण के नायक श्रीरामचन्द्र नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से धीरोदात्तनायक हैं। धीरोदात्तनायक के लक्षण इस प्रकार हैं—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तः दृढव्रतः॥ —दशरूपक

प्रस्तुत लक्षण के आधार पर धीरोदात्त नायक के गुण इस प्रकार हैं—

1. परम प्रतापशील, 2. अत्यन्त गम्भीर, 3. क्षमाशील, 4. निरहंकारी, 5. समचित्त, 6. स्वाभिमानी तथा 7. सत्यसंघ।

वाल्मीकि रामायण के प्रारम्भ में राम को सद्गुणों के केन्द्र के रूप में खोजा गया है। राम चन्द्रवत् प्रियदर्शन हैं; समुद्रवत् गम्भीर हैं, कालाग्नितुल्य विकराल हैं; विष्णु-तुल्य पराक्रमी हैं; पृथ्वी के समान क्षमाशील हैं। अधिक क्या कहें, राम सर्वगुण-सम्पन्न उदात्त नायक हैं।

उदात्त नायक राम के साथ लक्ष्मण जैसे वीर और त्यागी भाई का भी आदर्श चरित्र है। भरत वितृष्णा की साक्षात् मूर्ति हैं। सीता प्रथम श्रेणी की पतिव्रता महिला हैं, जो रावण के अपार वैभवपूर्ण राज्य को घृणा से देखकर राक्षस संस्कृति का अनुगमन न करके अग्नि-परीक्षा में खरी उतरती हैं। हनुमान एक परम

प्रतापी एवं निष्काम वीर हैं। रामायण का प्रतिनायक रावण वैभव और प्रचण्डता की मूर्ति के रूप में दिखलाई पड़ता है; यथा—

अपश्यत् लंकाधिपतिं हनुमान अतितेजसम्।
आवेष्टितं मेरुशिखरे सतोयमिवतोयदम्॥

अतः वाल्मीकि रामायण में आदर्श पात्रों का निरूपण है।

3. प्रसिद्ध कथानक—'रामायन सत कोटि अपारा' उक्ति यह सिद्ध करती है कि रामकथा एक प्रसिद्ध पौराणिक कथा है। राम की कथा अनेक कवियों के हाथों में जाने से उज्ज्वलता की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई है। राम-जन्म से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की वृहद् कथा रामायण की मूल कथा है। इस मूलकथा रूपी धारा में अनेक छोटी-छोटी कथाएँ लघुधाराओं की भाँति आकर मिलती हैं। रामायण का उत्तरकाण्ड अवान्तर कथाओं से परिपूर्ण है। रावण की दिग्विजय की कथा सविस्तार वर्णन एक अवान्तर कथा ही है। संक्षेपतः यही पर्याप्त होगा कि रामायण की कथा वैदिककाल से ही प्रचलित थी तथा उसे महाकाव्य का रूप देने का श्रेय वाल्मीकि को प्राप्त हुआ।

4. रसों का समावेश—कभी रामायण में वीररस की प्रधानता रही होगी। परन्तु आधुनिक वाल्मीकि रामायण में वीर रस का प्राधान्य स्पष्ट नहीं है। रामायण में शृंगार और शान्त रसों का समावेश तो है, परन्तु उनकी प्रधानता दिखलाई नहीं पड़ी। यदि गहराई से देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण में करुण रस की प्रधानता है। राम के चरित्र का मूलोदय करुणाजनित प्रसंग से ही होता है। सीता की प्राप्ति तक राम युद्ध करते हुए भी करुणा के ही अवतार बने रहते हैं। वाल्मीकि के राम रावण पर विजय पाकर भी करुणा की मूर्ति बने रहते हैं। राम का परिवार करुणा का घर जान पड़ता है। अतः रामायण की मूल चेतना करुण रस से पगी हुई है। भवभूति का यह कथन—'एको रसः करुणेवः··· ।' वाल्मीकि रामायण के ऊपर चरितार्थ होता है। फिर भी वाल्मीकि रामायण में शृंगार, हास्य रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त, वात्सल्य तथा भक्ति रसों को अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है।

5. प्रकृति वर्णन की विविधता—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने महाकाव्य को एक वनस्थली की उपमा दी है। 'रामायण' में वनस्थली के अनेक भव्य रूप दर्शनीय हैं। नैमिषारण्य तथा दण्डकारण्य की प्राकृतिक सुषमा का मनोहारी वर्णन देखते ही बनता है। सीता का अपहरण होने पर दण्डकारण्य की कमल, केला, अनार जैसी वनस्पतियों को देखकर राम के हृदय की वियोगकालीन रति उद्दीप्त हो जाती है। राम प्राकृतिक तत्त्वों के दर्शन और चिन्तन मात्र से विरह-विह्वल हो उठते हैं। प्रकृति का ऐसा उद्दाम उद्दीपन-स्वरूप प्रकृति-वर्णन अन्यत्र दुर्लभ ही है। वाल्मीकि के हृदय में प्रकृति के प्रति अनूठी रागात्मकता का परिचय वर्षा-ऋतु के वर्णन में भी मिलता है। प्रकृति की भीषणता को व्यक्त करने में भी कवि को अभूतपूर्व सफलता मिली है। उस वनवासी कवि के हृदय में प्रकृति के कण-कण को अवलोकने

की सहृदयता विद्यमान् है। वाल्मीकि ने योद्धाओं के स्वरूप के चित्रण में भी सूर्य, चन्द्र, ज्वलन्त अग्नि जैसे तेजस्वी एवं सुन्दर तत्त्वों को संयोजित किया है। अतः वाल्मीकि ने प्रकृति को आलम्बन, उद्दीपन, आलंकारिक तथा संवेदनात्मक रूप में प्रस्तुत करके प्रकृति-वर्णन के कौशल को प्रकट कर दिया है।

6. भाषा-शैली की उदात्तता—वाल्मीकि की रामायण में लौकिक संस्कृत का पाणिनि-पूर्व रूप दिखलाई पड़ता है। फिर भी वाल्मीकि की भाषा में लाक्षणिकता तथा पात्रानुकूलता की कोई कमी दिखलाई नहीं पड़ती। वाल्मीकि की संस्कृत सरलता, स्पष्टता, रोचकता जैसे गुणों से विभूषित जान पड़ती है। वाल्मीकि ने मुख्यतः अनुष्टुप छन्द का ही प्रयोग किया है। फिर भी सर्गान्त में कुछ अन्य छन्दों की छटा भी देखने योग्य है। वाल्मीकि के अनुष्टुप छन्द में एक विशेष प्रवाह अथवा लय है। पाठक इस छन्द की गेयता से भी प्रभावित हुए विना नहीं रहता। आदि कवि के काव्य में तत्कालीन भाषा की दृष्टि से उदात्तता का अभाव नहीं खटकता है।

7. रचना का विशिष्ट उद्देश्य—'प्रयोजनादृते मन्दोऽपि न प्रवर्तते।'—अर्थात् उद्देश्य के विना तो मूर्ख भी कार्य प्रारम्भ नहीं करता तो विद्वानों की तो वात ही क्या है। वाल्मीकि की रचना का उद्देश्य कार्यों का यशोगान न होकर सम्पूर्ण विश्व के सामने विभिन्न आदर्शों को प्रस्तुत करना है। राम के चरित्र की उज्ज्वलता के प्रतिपादन के साथ-साथ कवि ने अनेकानेक चरित्रों की आदर्शता को चित्रित किया है। हनुमान को अन्यतम वीर सिद्ध करते समय युद्धकाण्ड के उस प्रसंग को कितना मार्मिक वना दिया है, जिसमें विभीषण वृद्ध जामवन्त के पास पहुँचकर उनसे समस्त सेना की मूर्च्छित स्थिति का वर्णन करता है। जामवन्त हनुमान की सकुशलता के विषय में पूछकर एक कुतूहल उत्पन्न कर देते हैं। उस कौतुहल से विभीषण वहुत प्रभावित एवं चकित होता है और वह यह भी पूछ लेता है कि माननीय जामवन्त ने राम और लक्ष्मण की कुशलता न पूछकर सर्वप्रथम हनुमान की कुशलता ही क्यों पूछी? जामवन्त यही उत्तर दे पाते हैं कि यदि हनुमानजी के प्राण संकट में हैं तो समस्त जीवित राम दल मृतक प्रायः हो चुका है और यदि हनुमान सकुशल हैं तो समस्त राम दल के मूर्च्छित और आहत होने पर भी कोई विशेष हानि नहीं हुई है। वस्तुतः वाल्मीकि जैसे कवियों की ऐसी धारणाएँ वीरों की कर्मठता तथा नेतृत्व की सफलता को सूचित करके किसी राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जाने में पूर्वतः सहायक सिद्ध होती है। वाल्मीकि ने राम के पक्षधरों के माध्यम से आर्य संस्कृति का जीवन्त चित्र चित्रित कर दिया है। रावण के ऊपर राम की विजय राक्षस संस्कृति के ऊपर आर्य संस्कृति की विजय है राम का अद्भुत शारीरिक गठन आर्य वीरों की वलिष्ठता का ही द्योतक है। वाल्मीकि रामायण में नास्तिकता के ऊपर आस्तिकता की विजय प्रदर्शित करके वैदिक धर्म की उपादेयता को भी स्पष्ट कर दिया गया है। अतः वाल्मीकि रामायण का प्रणयन महान् आदर्शों को लेकर हुआ है।

वाल्मीकीय रामायण में विचित्र शापों-आशीर्वादों तथा अनेक घटनाओं की विचित्रताओं को देखते हुए उसे पौराणिक महाकाव्य कहना ही उचित है। 'रामायण' राम से सम्बद्ध का ही चरित काव्य है। किसी चरित काव्य में जितनी भी विशेषताएँ होती हैं, वे सभी वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होती हैं। चरित काव्य की मुख्यतः निम्न विशेषताएँ हैं[1]—1. प्रबन्ध काव्य और धर्म कथा का समन्वय, 2. पौराणिक कथा-स्रोत, 3. कथानकीय रूढ़ियाँ—पूर्वजन्म की कथा, आकाशवाणी, शाप, रूप-परिवर्तन इत्यादि, 4. अलौकिक तत्वों का समावेश, 5. रोमांचक और साहसिक घटनाओं का अतिरेक, 6. जीवन-दर्शन एवं प्रकृति-वर्णन की गहराइयाँ, 7. प्रश्नोत्तरात्मक, 8. प्रबन्ध-रूढ़ियाँ—मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा तथा दुष्ट-निन्दा आदि, 9. छन्द-योजना।

महाभारत

'महाभारत' शब्द का अर्थ है—महायुद्ध। कौरवों तथा पाण्डवों के राज्य-विभाजन के प्रश्न को लेकर उत्तरी भारत की शक्तियाँ परस्पर टकरा गईं। उन शक्तियों के टकराव के घोर परिणाम दो रूपों में सामने आए—प्रथम तो भारत की शक्ति का ह्रास के रूप में और दूसरे रूप में भारत पर विदेशी आक्रमणों का श्रीगणेश। महाभारत में प्रथम परिणाम पर ही विशेष बल दिया गया है।

महाभारत : एक परिचय—महाभारत अठारह पर्वों में विभक्त एक बृहद् ग्रन्थ है। कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने महाभारत की रचना की। परन्तु, आज जो महाभारत उपलब्ध होता है, वह अनेक व्यासों की रचना है। 'व्यास' एक उपाधिसूचक नाम[2] है। कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने जिस काव्य की रचना की, उसका नाम 'जय' काव्य था। महाभारत के आदि पर्व में इसकी स्पष्ट सूचना है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

वर्णित 'जय' काव्य में आठ हजार आठ सौ श्लोक थे। इन श्लोकों के विषय में यह कहा गया है कि 'जय' ग्रन्थ के श्लोकों के मर्मज्ञ वेद व्यास के अतिरिक्त शुकदेव और संजय भी रहे हैं—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयोवेत्ति वा न वा॥

कालान्तर में 'जय' ग्रन्थ का विस्तार करके उसे 'भारत' नाम दिया। तदनन्तर 'भारत' में अनेक उपाख्यानों एवं आख्यानों को जोड़कर उसे 'महाभारत' रूप प्रदान किया गया—

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावत् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥

1 डॉ. उदयभानुसिंह : तुलसी काव्य-मीमांसा, पृ. 428.
2 वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 229.

महाभारत के लेखन के विषय में एक किंवदन्ती यह है कि एक बार व्यासजी ने अपने हृदय में महाभारत से सम्बद्ध घटनाओं का चिन्तन करते-करते भावातिरेकता का अनुभव किया। उनके हृदय से काव्य-धारा फूटना चाहती थी, परन्तु सुयोग्य लेखक के अभाव में वे उसे लिपिबद्ध नहीं कर पा रहे थे। दैवयोग से उनकी भेंट गणेशजी से हुई। व्यासजी ने अपनी आपत्ति गणेशजी के सम्मुख रखी। गणेशजी महाभारत लिखने के लिए तो तैयार हो गए, परन्तु उन्होंने एक शर्त यह लगा दी कि यदि व्यासजी धाराप्रवाह नहीं बोल पाएँगे तो वे ग्रन्थ को लिपिबद्ध नहीं करेंगे। चतुर वेदव्यास ने भी गणेशजी से कहा कि आप भी अर्थ जाने बिना श्लोकों को नहीं लिखेंगे। अनुबन्ध हो जाने पर 'जय' ग्रन्थ की रचना हुई। प्रस्तुत किंवदन्ती के माध्यम से महाभारत की महिमा की ओर ही इंगित किया गया है।

महाभारत का रचना-काल (500 ई. पू.)

महाभारत के रचना-काल के विषय में विद्वानों में अनेक मतभेद हैं। महाभारत की तिथि का निर्धारण करते समय अन्तःसाक्ष्य को तर्क की कसौटी पर कसकर आगे बढ़ा जा सकता है। श्री राय चौधरी जैसे इतिहासविदों ने महाभारत की रचना-तिथि निर्धारित करते समय विभिन्न प्रमाणों का सहारा लिया है। फिर भी हमें महाभारत का रचना-काल निर्धारित करते समय इस तथ्य को दृष्टि में रखना होगा कि 'महाभारत' किसी एक कवि की देन न होकर अनेक व्यासों की देन है। अतः उसका रचना-काल पूर्व सीमा तथा अपर सीमा की अपेक्षा पर ही आधारित होगा। यहाँ हम कुछ विद्वानों के निष्कर्षों को आधारभूत मानकर महाभारत की तिथि का निर्धारण करने का वैज्ञानिक प्रयास कर रहे हैं।

श्री राय चौधरी ने वैदिक साहित्य में वर्णित गुरु-परम्परा को आधार मानकर महाभारत का रचना-काल निर्धारित किया है। श्री राय चौधरी ने महाभारत की रचना-तिथि ई.पू. मध्यम नवीं शती निर्धारित की है। श्री चौधरी के मत का सार इस प्रकार है[1]—

1. गौतम बुद्ध के समकालीन व्यक्तियों में आश्वलायन और शांखायन गृह्य-सूत्रों के रचयिता थे। इस कारण उनका समय 500 ई.पू. सिद्ध हुआ।

2. गृह्यसूत्र के रचयिता शांखायन और शांखायन आरण्यक के रचयिता गुणाख्य शांखायन सम्भवतः एक ही व्यक्ति हैं। यह गुणाख्य शांखायन कहोल कौषीतकि का शिष्य था। इस कारण इसका समय भी लगभग 500 ई.पू. सिद्ध हुआ।

3. यदि ये दोनों ग्रन्थकार एक ही व्यक्ति नहीं भी थे तो कम-से-कम गुणाख्य तो अवश्य छठी शती ई.पू. से पहले के नहीं हो सकते, क्योंकि उन्होंने अपने आरण्यक में लौहित्य और पौष्कर आदि का उल्लेख किया है, जो बुद्ध के समकालीन थे।

4. शांखायन आरण्यक से पता चलता है कि गुणाख्य का गुरु कहोल कौषीतकि स्वयं उद्दालक आरुणि का शिष्य था। यह उद्दालक राजा जनमेजय के पुरोहित तुरकावषेय से आठ-नौ पीढ़ी पीछे हुआ—ऐसा शतपथ ब्राह्मण की वंश

1 Political History of India, IV Edition, p. 27-29.

तालिका से मालूम होता है। इस प्रकार परीक्षित बुद्ध के समय से केवल नौ पीढ़ी ठहरता है। अतः महाभारत युद्ध का समय नवीं शती ई.पू. मध्य होना चाहिए।

श्री राय चौधरी ने शांखायन तथा आश्वलायन शब्दों को गुरु-परम्परा के आधार पर प्रस्तुत करके महाभारत के युद्ध के समय को निर्धारित करने का प्रयास किया है। बुद्ध से नौ पीढ़ी पूर्व का समय निर्धारित करते समय 300 वर्ष का अनुमानित समय ले लिया गया है। श्री चौधरी के मत में ऐतिहासिकता का पुट अवश्य है, परन्तु समस्या यही है कि 'शांखायन' नाम व्यक्तिवाचक न होकर उपाधिवाचक है। ऋग्वेद की शाखाओं में भी शांखायन शाखा का उल्लेख है। अतः महाभारतकालीन ऋषियों की परम्परा का वर्णन करते समय तथा उनसे वैदिक ऋषियों की परम्परा का तालमेल करते समय यही समस्या आती है कि ये ऋषि एक न होकर अनेक हुए हैं। अतः ऐतिहासिक आधार पर महाभारत के युद्ध का समय निर्धारित करना असम्भवप्राय है। महाभारत का काल निर्धारित करने के लिए भाषा-विज्ञान का सहारा लिया जा सकता है। भाषा-विज्ञान के आधार पर कुछ तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

1. आश्वलायन-गृह्य सूत्र में 'भारत' तथा 'महाभारत' का नाम पृथकतः लिया गया है। सूत्र युग में ब्राह्मणवाद का बोलबाला हो चुका था। इसी ब्राह्मणवाद का विरोध करने के लिए ईसा पूर्व छठी शताब्दी में बुद्ध तथा महावीर ने बौद्ध एवं जैन धर्मों का प्रवर्तन किया। यद्यपि सूत्र-युग बहुत पीछे तक प्रवर्तित रहा, परन्तु उसका उद्गम एवं किंचित् विकास ईसा पूर्व छठी शताब्दी में ही हो चुका था। सूत्र शैली के निर्माण एवं विकास में कुछ शताब्दियों का लगना साधारण चीज है। अतः महाभारत का रचना-काल कम-से-कम 700 ई.पू. मानना चाहिए।

2. ब्राह्मण ग्रन्थों में कुरु वंश की परम्परा का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा जनमेजय तक का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों का रचना-काल ईसा पूर्व 1500 तक माना जाता है। यदि ब्राह्मण ग्रन्थों में कालान्तर में भी प्रक्षिप्तीकरण चलता रहा तो भी वैदिक साहित्य की अपर सीमा के निर्धारण में 1000 ई.पू. तक ही हट सकते हैं। अतः महाभारत का युद्ध 1000 ई. पू. से भी पहले हो चुका था। 'जय' काव्य के प्रणेता महर्षि कृष्णद्वैपायन पाण्डवों के ही समकालीन थे। क्योंकि उनके पुत्र शुकदेव ने अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को उपदेश दिया था। अतः कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत की रचना का बीज 1000 ई.पू. से भी पहले बो दिया था।

3. ईसा पूर्व छठी शताब्दी में महाभारत का अनुवाद जावा, बालि आदि द्वीपों की भाषाओं में हो चुका था। उक्त द्वीपों की कवि भाषा में महाभारत का अनुवाद एक भाषा वैज्ञानिक महत्त्व रखता है। महाभारत के कई पर्व आज भी उक्त द्वीपों में सुरक्षित हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि कोई ग्रन्थ पहले लोक विश्रुत होता है तथा कालान्तर में उसे अन्य भाषाओं में अनूदित किया जाता है। प्राचीनकाल में प्रचार-प्रसार के साधनों की बड़ी कमी थी। अतः किसी ग्रन्थ के विश्व विश्रुत होने

में शताब्दियों का लग जाना साधारण बात है। अतः महाभारत का रचना-काल स्वयमेव 700 ई.पू. निश्चित किया जा सकता है।

4. व्याकरण के सम्राट् आचार्य पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में महाभारत ग्रन्थ का उल्लेख किया है। उन्होंने 'महाभारत' शब्द का अर्थ महायुद्ध बतलाया है। केवल इतना ही नहीं, अपितु युधिष्ठिर, भीम तथा विदुर आदि को चरितनायकों के रूप में याद किया है। आचार्य पाणिनि का स्थितिकाल पाँचवीं शती ई.पू. सुनिश्चित है। अतः महाभारत की रचना पाणिनि से पूर्व ही हो चुकी थी।

5. संस्कृत के प्रथम नाटककार भास के 'दूतवाक्य', 'उरुभंग', 'मध्यम व्यायोग' आदि नाटक महाभारत की कथा पर आधारित हैं। जब महाभारत को लोकप्रियता प्राप्त हो गई होगी, तभी कवियों ने उसे साहित्य का विषय बनाना उचित समझा होगा। भास का समय ई.पू. चौथी शताब्दी तक माना जाता है। अतः महाभारत की रचना उनसे कई सौ वर्ष पूर्व हो चुकी होगी।

महाभारत के रचना-काल को निर्धारित करने में ज्योतिषाचार्यों ने भी विलक्षण कार्य किया है। चौथी-पाँचवीं शताब्दी के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर ने महाभारत युद्ध का समय 3101 वर्ष ई.पू. माना है। उनकी यह मान्यता है कि महाभारत का महासंहार किसी विशिष्ट ग्रह-दशा का परिणाम है। वे ऐसी ग्रह-दशा का समय चुनते-छाँटते हुए स्वयं से लगभग 3600 वर्ष दूर पहुँच गए हैं परन्तु उनकी मान्यता को बीसवीं शताब्दी के दो विश्व युद्धों—1914 का तथा 1939 का ने निर्मूल सिद्ध कर दिया है। क्योंकि उक्त दोनों विश्व युद्धों के समय कोई विशेष ग्रह-दशा नहीं थी। महाभारत के युद्ध से भी बढ़कर उक्त दोनों महायुद्धों में मारकाट हुई। फिर यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीनकाल में आधुनिक युग की अपेक्षा जनसंख्या बहुत कम थी। अकबरकालीन भारत की जनसंख्या केवल सोलह करोड़ मानी गई है। अतः महाभारतकालीन भारत की जनसंख्या और भी कम रही होगी। इसलिए प्रत्यक्षतावादी सिद्धान्त के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत में सैनिकों के हताहत होने की जिस संख्या का वर्णन हुआ है, वह नितान्त अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त वराहमिहिर की मान्यता पौराणिक प्रमाणों से भी मेल नहीं खाती। पुराणों में राजा नन्द तथा परीक्षित के स्थितिकाल में एक सहस्र वर्ष का अन्तर माना गया है। राजा नन्द ई.पू. चौथी शताब्दी की उपज हैं। अतः परीक्षित का जन्म 1400 ई.पू. में ही हो चुका होगा।

लोकमान्य तिलक ने महाभारत का काल निर्धारित करने के लिए पौराणिक काल-गणना को महत्त्व दिया है। पौराणिक काल-गणना के अनुसार महाभारत का युद्ध 5000 वर्ष ई.पू. में हो चुका था। अतः 'महाभारत' के प्रारम्भिक रूप को उसी युग में रचित मानना चाहिए। तिलकजी ने 'गीता रहस्य' में गीता का काल 500 ई.पू. स्वीकार किया है। 'गीता' महाभारत का अंश है। अतः महाभारत का रचना-काल भी 500 ई.पू. ही स्वीकार किया जा सकता है।

दर्शन शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित डॉ. राधाकृष्णन् ने गीता के वर्ण्य-विषय की बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों से तुलना की है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में चार प्रकार के अन्न का उल्लेख है—'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।' इसी प्रकार से बौद्ध ग्रन्थों में 'चत्तारो अहारा' का वर्णन है। बौद्ध दर्शन का प्रभाव महाभारत पर दूसरे रूप में भी पड़ा है। महाभारत के वनपर्व में 'एडूक'[1] शब्द का प्रयोग हुआ है। जब बुद्ध की वस्तुओं को गाड़ दिया जाता था तथा वहीं स्मारक का रूप दे दिया जाता था तो उसे एडूक के रूप में जाना जाता था। अतः महाभारत का कलेवर बुद्ध के उदय के पश्चात् भी विवर्धित किया गया। अतः बौद्ध-दर्शन का प्रभाव गीता एवं महाभारत दोनों पर ही होने के कारण महाभारत का रचना-काल ई.पू पाँचवीं शती तक माना जा सकता है।

महाभारत के रचना-काल की उत्तरवर्ती सीमा निर्धारित करने के लिए कुछ प्रमाण दृष्टव्य हैं—

1. गुप्तकालीन एक शिलालेख में 'महाभारत' को शतसाहस्री संहिता के नाम से पुकारा गया है। अतः महाभारत का परिवर्द्धन 442 ई. से पर्याप्त पहले ही हो चुका था।

2. कुमारिल, वाणभट्ट, शंकराचार्य आदि दार्शनिकों और साहित्यकारों ने गीता का आदरपूर्वक नाम लिया है। अतः महाभारत की पूर्ण रचना सातवीं शताब्दी से बहुत पहले ही हो चुकी थी, वह सर्वथा स्पष्ट है।

3. कम्बोडिया के एक शिलालेख में महाभारत का निर्देश है। अतः 600 ई. के विदेशी शिलालेख के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत अपने विशाल कलेवर के रूप में 600 ई. में विदेशों में भी विख्यात हो चुका था।

4. महाभारत के कृष्ण दावानल को निगलने वाले हैं; दुर्योधन की सभा में विशद् रूप प्रदर्शित करने वाले हैं। ये सब विचित्र कल्पनाएँ पुराणों के विकसित रूप की देन हैं। अतः महाभारत की रचना का उत्तर-काल निश्चयतः पाँचवीं शताब्दी तक माना जा सकता है। डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने भी इसी समय का समर्थन किया है।

5. प्रसिद्ध इतिहासकार विन्टरनित्स महोदय ने महाभारत के आख्यानों और उपाख्यानों को वैदिक साहित्य से सम्बद्ध किया है तथा महाभारत की सूक्तियों को जैन एवं बौद्ध साहित्य से। अतः वे महाभारत के निर्माण की अन्त्येष्टि 400 ई पू. ही मान बैठे हैं। उक्त इतिहासकार महाभारत की अवतारवादी भावना पर विशेष ध्यान नहीं दे पाए। यदि वे श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व की ओर विशेष दृष्टिपात करते तो यह निश्चित हो जाता कि महाभारत की कल्पनाएँ एवं उसका धर्मशास्त्र पाँचवीं शताब्दी तक की ही देन है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत की रचना एक युग में नहीं हुई है। जगद्गुरु शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र भाष्य में यह स्पष्ट कर दिया

1 महाभारत : वनपर्व, 190/68.

है कि वेदाचार्य अपान्तरतमा ऋषि ही कलियुग एवं द्वापर युग के सन्धिकाल में कृष्ण-द्वैपायन के रूप में प्रकट हुए।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यास एक नहीं अनेक हुए हैं। प्राचीन काल में कोई व्यास रहे होंगे और वे बड़े प्रतिभाशाली रहे होंगे। अतः जो व्यक्ति वेद-विस्तारक सिद्ध हुआ उसी को व्यास उपाधि से विभूषित कर दिया गया। कृष्णद्वैपायन को विष्णु की आज्ञा से वेदों का वर्गीकरण करना पड़ा। अतः उसने वेदों को चार संहिताओं के रूप में विभाजित कर दिया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद पहले विभिन्न मनीषियों की शिष्य परम्परा में विकसित हो रहे थे। परन्तु कृष्णद्वैपायन वेद-व्यास ने वेदों के सम्यक् विभाजन का कार्य किया। वेदों के एक नई दिशा में विस्तारक होने के कारण इन्हीं को वेदव्यास कहा गया। महाभारत के अनुसार महर्षि पाराशर तथा सत्यवती के पुत्र वेदव्यास ने ही महाभारत की रचना की। महाभारत का यह प्रसंग भी बड़ा रोचक है कि चित्रवीर्य तथा विचित्रवीर्य के पश्चात् वेदव्यास ने वियोग के आधार पर राजरानियों से धृतराष्ट्र तथा पाण्डु को उत्पन्न किया। इन्हीं के पुत्र राजनीति-प्रवर विदुर थे। कहने का अभिप्राय यही हुआ कि वेदव्यास महाभारत के युद्ध के समय निश्चयतः अतिशय वृद्ध थे। इन्हीं वेदव्यास ने 'जय' काव्य की रचना की। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में शान्तनु तथा देवापि के नाम विद्यमान् हैं, वेदों के विभाजक वेदव्यास ने अपने आश्रयदाता शन्तनु को वेदों में स्थान दे दिया, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य प्रतीत होता है। जब ऋग्वेद में महाभारत काल से पूर्व के राजा एवं ऋषियों के नाम आ गए हैं तो ब्राह्मण तथा आरण्यकों में कुरुवंश का जनमेजय तक का इतिहास आ जाना कोई असाधारण चीज नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रारम्भिक रचना-काल 2500 वर्ष ई.पू. अवश्य है। अतः महाभारत का प्रारम्भिक रूप 'जय' काव्य भी 2500 ई.पू. अवश्य रच दिया गया होगा। यहाँ प्रश्न केवल यही उठता है कि वैदिक संस्कृत के ज्ञाता वेदव्यास ने 'जय' काव्य की रचना लौकिक संस्कृत में ही क्यों की ? इस प्रश्न का उत्तर केवल यही हो सकता है कि वेदव्यास पाण्डवों की विजय से सम्बद्ध 'जय' काव्य को आम जनता की भाषा लौकिक संस्कृत में रचकर वाल्मीकि की रामायण की भाँति अपने काव्य को विश्व-विश्रुत बनाने का स्वप्न देख चुके थे। फिर वैदिक संस्कृत के अनेक शब्द-रूप जनता के लिए प्रायः दुर्बोध्य ही रहते होंगे, अतः जनता की भाषा से सटी हुई लौकिक संस्कृत में 'जय' काव्य का प्रणयन समझ में आ सकता है। जब एक ग्रंथ कीर्ति को प्राप्त होता है तो उसी को आधार बनाकर अन्य युग-सन्देश भी प्रस्तुत कर दिए जाते हैं। अतः शुकदेव, वैशम्पायन, सूत तथा शौनक आदि के योग से 'जय' काव्य 'भारत' तथा 'महाभारत' रूपों में विकसित हुआ। 500 वर्ष. ई. पू. में धर्मशास्त्र के प्रमुख आधार 'महाभारत' को बौद्ध तथा जैन धर्म की प्रतिस्पर्द्धा में और भी अधिक विकसित किया गया। हिन्दुओं की समन्वयवादी प्रवृत्ति जब गौतम बुद्ध को ईशावतार घोषित कर चुकी थी तथा पुराणों एवं स्मृतियों का बराबर प्रणयन चल रहा था तब भी उपयुक्त अवसर समझकर व्यासों ने महाभारत के कलेवर में पर्याप्त वृद्धि की। गुप्तकाल तक आते-आते सभी

1. तथाहि अपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिः विष्णुनियोगात् कलिद्वापरयोः संधौ कृष्णद्वैपायनः संबभूव। —वेदान्तसूत्रभाष्य, 3/3/32

प्रकार की साहित्यिक कल्पनाओं के उत्कर्ष से पूर्ण 'महाभारत' ग्रंथ देश-विदेश में विश्रुत हो गया। अतः महाभारत की पूर्व-सीमा सूत्र-ग्रंथों तथा पाणिनि के उल्लेखों के आधार पर 500 ई.पू. है। 'जय' काल की रचनावधि 2500 वर्ष ई.पू. है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर महाभारत की उत्तर सीमा पंचम शताब्दी है।

महाभारत का वर्ण्य-विषय

महाभारत में अनेक विषयों का वर्णन है। कहीं इसमें अर्थशास्त्र बनाम राजनीतिशास्त्र का वर्णन है तो कहीं इसमें धर्मशास्त्र का विवेचन है। महाभारत में अनेक शास्त्रों के समन्वय का उल्लेख हुआ है—

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनमतिर्बुद्धिना॥

महाभारत धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक पुरुषार्थ-चतुष्ट्य का केन्द्र कहा गया है। जो तत्त्व महाभारत में हैं, वे ही विश्व में हैं और जो तत्त्व महाभारत में नहीं हैं, वे तत्त्व दुनिया में कहीं भी नहीं हैं—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

महाभारत के सन्दर्भ में उपर्युक्त प्रशस्ति उसके वर्ण्य-विस्तार की सूचना देती है। यथार्थतः महाभारत में निम्नलिखित विषयों का वर्णन हुआ है—

1. राजनीतिक विवेचन, 2. धार्मिक विवेचन, 3. यौद्धिक कथाएँ,
4. दार्शनिकता तथा 5. पौराणिक आख्यानों का वर्णन।

1. राजनीतिक विवेचन—महाभारत-अर्थात् महायुद्ध का आधार राजनीतिक प्रपंच ही कहा जा सकता है। महाभारत का अनुशासन पर्व राजनीतिक विचार-धाराओं को स्पष्ट करता है। राजनीतिविद् विदुर धृतराष्ट्र को अनेक प्रकार से समझाने की चेष्टा करते हैं। विदुर कटु सत्य को कहे बिना भी नहीं रहते। 'धृतराष्ट्र' नाम ही अच्छा नहीं है। जिस व्यक्ति ने राष्ट्र को पकड़ रखा हो, अर्थात् जो ताना-शाही पर उतारू हो, वही धृतराष्ट्र है। इसलिए विदुर धृतराष्ट्र के पक्षपात की आलोचना करते हैं। धृतराष्ट्र दुर्योधन के वशीभूत दिखलाई पड़ते हैं। आचार्य विदुर उस व्यक्ति को जीवित रूप में ही मृतक-तुल्य बतलाते हैं, जिसकी प्रशंसा चारण अथवा कायर अथवा स्त्रियाँ किया करती हैं—

यं प्रशसन्ति कितवः यं प्रशसन्ति चारणाः।
यं प्रशसन्ति स्त्रियः स न जीवति मानवः॥

विदुर पाण्डव-पक्ष की अपेक्षाकृत अधिक प्रशंसा करते जान पड़ते हैं। वे पाण्डवों को नीति के मार्ग पर अग्रसर बतलाते हैं। अनुशासन पर्व में एक आदर्श राज्य का मनोहारी वर्णन किया गया है। अपने अधिकार की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना न्यायोचित् सिद्ध किया गया है। एक राजा के लिए काम, क्रोध तथा लोभ जैसे विकार-शत्रुओं से सदा सतर्क रहने को कहा गया है। विदुर ने राजनीति के गर्भ में प्रवेश करके यहाँ तक भी कह दिया है कि यदि अपने अधिकारों की प्राप्ति के

लिए युद्ध करता हुआ योद्धा वीरगति को प्राप्त हो जाता है तो उसे योगयुक्त योगी की आनन्दमयी सद्‌गति प्राप्त होती है—

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् ! सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राङश्च योगयुक्तशरणेचाभिमुखो हतः ।।

निष्कर्षतः महाभारत में सदसत् राजनीति की विस्तार से चर्चा की गई है ।

2. धार्मिक विवेचन—महाभारत को धर्मशास्त्र भी कहा गया है । महाभारत में धर्म का मनोवैज्ञानिक स्वरूप चित्रित किया गया है । 'धर्म' धारणीय है, अतः वही सर्वस्व है । अच्छी बातों को श्रवणाधार भी ग्रहण करना चाहिए । जो चीजें हमें कष्टकारक प्रतीत होती हैं, उन्हें व्यवहार में दूसरे व्यक्तियों के साथ भी लागू नहीं करना चाहिए—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वाचाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।

अपने धर्म की रक्षा के लिए कोई भी व्यक्ति न्यायालय की शरण में जा सकते हैं । इस विषय में एक रोचक प्रसंग यह है कि जब पाण्डव अपने वनवास के तेरहवें वर्ष की अवधि में राजस्थान के विराट् नगर में राजा विराट् के यहाँ रह रहे हैं वे तो विराट् की सेना के सेनापति कीचक की कुदृष्टि द्रौपदी पर पड़ी । उसने द्रौपदी को परेशान करना शुरू कर दिया । द्रौपदी न्याय के लिए राजा विराट् की सभा में गई । उसने अपना पक्ष प्रस्तुत किया, परन्तु राजा ने कीचक को दण्ड देने का वचन तक न दिया । इस पर द्रौपदी कुपित हो गई । उसके उस समय के वचन धर्मशास्त्रीय चेतना को प्रकट करते हैं–

न राजा राजावत् किञ्चित् समाचरति कीचके ।
दस्यूनामिव धर्मस्ते नहि संसदि शोभते ।।–विराट पर्व 16/31

अर्थात् हे राजन् ! आप कीचक के प्रति राजदण्ड का प्रयोग नहीं कर पा रहे हैं । स्त्रियों की लज्जा लूटना नर-पिशाचों का धर्म है । परन्तु, राजसभा में तो डाकुओं को प्रताड़ित एवं अभिदण्डित करने की शक्ति होती है, अतः वह यहाँ क्यों नहीं ? इसी प्रकार से आश्रम-व्यवस्था के ऊपर भी धर्मसंगत प्रकाश डालकर धार्मिकता को महत्त्व प्रदान किया गया है । महाभारत में धर्म के कोने-कोने को परखने की चेष्टा की गई है ।

3. यौद्धिक कथाएँ—महाभारत के विराट् पर्व में ही युद्ध की विशाल भूमिका बन जाती है । कौरवों के पक्ष को सुदृढ़ करने के लिए शकुनि, भूरिश्रवा, भगदत्त, शल्य जैसे महान् राजा अपनी सेनाएँ लेकर कुरुक्षेत्र के मैदान में आकर शिविर लगा देते हैं । पाण्डवों के पक्ष में धृष्टद्युम्न, सात्यकि, घटोत्कच तथा विराट् अपनी सेनाएँ लेकर प्रस्तुत होते हैं । कौरवों के पक्ष में ग्यारह अक्षौहिणी सेना तथा पाण्डवों के पक्ष में सात अक्षौहिणी सेना एकत्र होती है । दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी विजय का दावा करते हैं । महाभारत का युद्ध भीष्म पर्व से शुरू होता है । कौरवों की सेना के सेनापति भीष्म के नाम पर इस पर्व का नाम भीष्म रख दिया गया है । भीष्म 10 दिन

तक अघोर पराक्रम प्रदर्शित करते हुए समरांगण में शर-शैय्या पर सो जाते हैं। भीष्म के नेतृत्व में कौरवों की सेना विजय की ओर अग्रसर रहती है। भीष्म के घायल हो जाने पर कौरवी सेना का सेनापतित्व आचार्य द्रोण करते हैं। द्रोणाचार्य के रहते हुए अभिमन्यु जैसा महारथी वीरगति को प्राप्त होता है तथा कौरव पक्ष से जयद्रथ नामक महारथी को भी प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। द्रुष्टपद-पुत्र धृष्टद्युम्न पुत्र के षड्यन्त्र-सिद्ध वियोग में शस्त्र-त्याग किए हुए आचार्य द्रोण का वध करता है। द्रोण के पश्चात् सेनापतित्व का भार महारथी कर्ण सम्भालता है जो भील नरेश घटोत्कच का वध करता है तथा अन्ततः अर्जुन के बाण-प्रहारों से हताहत होता है। कर्ण के वध के पश्चात् शल्य सेनापति बनता है तथा कौरवी सेना के महाक्षय के साथ विनाश को प्राप्त होता है। इन सेनापतियों के नेतृत्व में लड़े जाने वाले युद्ध क्रमशः द्रोण पर्व, कर्ण पर्व तथा शल्य पर्व में प्रदर्शित किए गए हैं। गदा पर्व में दुर्योधन की मृत्यु दिखलाई है। महाभारत के युद्ध का कारण कौरवों और पाण्डवों का विद्वेष मात्र न होकर, अन्य राजाओं का पारस्परिक वैमनस्य भी है तभी तो दुर्योधन भारी समर्थन पाकर श्रीकृष्ण से यही कहता है कि मैं लड़ाई के बिना सूई की नोक के बराबर भी भूमि नहीं दूंगा—

सूच्याग्रभागमपि न दास्यामि विना युद्धं केशवः।

दार्शनिकता—महाभारत में मोक्ष-तत्त्व का सविस्तार वर्णन है। मुक्ति या मोक्ष के तीन मार्ग प्रसिद्ध हैं—कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग। इन तीनों ही मार्गों का विशद् विवेचन भीष्मपर्व के प्रसिद्ध भाग 'गीता' नामक ग्रन्थ में किया गया है। गीता के प्रथम अध्याय से लेकर छठे अध्याय पर्यन्त कर्मयोग का विवेचन किया गया है। गीता के सातवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक भक्तियोग का वर्णन किया गया है। गीता के तेरहवें अध्याय से अठारहवें अध्याय तक ज्ञानयोग का वर्णन है। इन अध्यायों में विभिन्न मार्गों का सम्मिश्रण भी है। गीता का कर्ममार्ग निष्काम भावना से, अर्थात् कर्म भावना से कर्म करना सिखलाता है।

यथा— कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा ते कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ —गीता 2/47

अर्थात् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन! व्यक्ति को कर्म करने का ही अधिकार है, फल प्राप्ति का नहीं। व्यक्ति को फल की इच्छा नहीं करनी चाहिए और न ही कर्म करने में अरुचि होनी चाहिए।

गीता का भक्तियोग ईश्वर में—अर्थात् सम्पूर्ण विश्व में परम प्रेम करना सिखाता है। भक्तियोग में निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति को प्रतिपादित किया है। भगवान् श्रीकृष्ण भक्ति को ईश्वरत्व-प्रदायिका सिद्ध करते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डवः॥ —गीता, 11/55

गीता में संसार की असारता और जीवात्मा तथा ईश्वर की नित्यता का प्रतिपादन करके श्रवण, मनन, चिन्तन तथा निदिध्यासन को महत्त्व देकर ईश्वरत्व

प्राप्ति का मार्ग स्पष्ट किया गया है। यदि एक साधक वैराग्य को आत्मसात् करके ज्ञानयोग की प्रक्रिया से ईश्वरत्व की ओर बढ़ता है तो वह ईश्वर में परम प्रेम रखता हुआ मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। संसार-वृक्ष को वैराग्य की तलवार से दृढ़तापूर्वक काटने पर ही ज्ञानयोग का सिद्धि-पथ प्राप्त होता है। जब साधक संसारातीत शक्ति और शान्ति को प्राप्त कर लेता है तो उसे पुनरागमन के चक्र में भटकना नहीं पड़ता। यथा

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ —गीता, 15/6

महाभारत का शान्तिपर्व भी दार्शनिक गहराइयों से भरा हुआ है। सामान्यतः महाभारत के अनेक प्रसंगों में दार्शनिकता की स्पष्ट छाया है।

पौराणिक आख्यानों का वर्णन—महाभारत अनेक आख्यानों एवं उपाख्यानों का केन्द्र है। आचार्य बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में महाभारत के अनेक आख्यानों की ओर संकेत किया गया है। महाभारत के आख्यानों को लेकर अनेक नाटक एवं काव्यों की रचनाएँ हुई हैं। महाभारत में पशु-पक्षियों के आख्यान भी वर्णित हैं। वस्तुतः शौनक एवं सौति जैसे ऋषियों ने महाभारत को उपाख्यानों का केन्द्र बना दिया है। महाभारत में मुख्यतः एकलव्य की कथा, किरात वेशधारी शंकर की कथा, द्रोण की कथा, परशुराम की कथा, अग्नि और सूर्य का मनुष्यवत् आचरण तथा अनेकानेक लौकिक एवं अलौकिक प्रसंगों को संग्रहीत किया गया है।

महाभारत को महाकाव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि महाभारत की कथा महाकाव्य के योग्य कथानक को लेकर आगे नहीं बढ़ती। महाभारत के भीष्म पर्व, अनुशासन पर्व, शान्तिपर्व जैसे अध्यायों में तो कथानक अपना अस्तित्व ही खो बैठता है। इन पर्वों में कथानक की प्रधानता न होकर दर्शन, राजनीति तथा नीतिशास्त्र की स्पष्ट प्रधानता है। महाभारत के अनेक उपाख्यानों का उसकी मूल कथा से तालमेल ही नहीं बैठ पाता है। यदि उन उपाख्यानों का महाभारत के युद्ध से सम्बन्ध भी स्थापित किया जाए तो महाभारत के अठारह पर्वों में से अधिकांश की बृहदाकारता उसे महाकाव्य का रूप न देकर विभिन्न शास्त्रों का स्वरूप प्रदान कर बैठती है। महाभारत को महाकाव्य सिद्ध करने में दूसरी आपत्ति यह है कि इसके नायक का निर्धारण असम्भवप्राय है। महाभारत के युद्ध में सर्वाधिक कीर्ति के केन्द्र निःशस्त्र श्रीकृष्ण ही जान पड़ते हैं। परन्तु महाभारत श्रीकृष्ण के चरित्र का पूर्ण प्रकाशक नहीं है। यदि महाभारत की कथा का नायक युधिष्ठिर को माना जाय तो यह कहने में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए कि महाभारत बनाम महायुद्ध का नेता नायकत्व या नेतृत्व के गुणों से परिपूर्ण नहीं है। महायुद्ध का नायक कोई समरप्रिय व्यक्ति ही हो सकता है, कोई शान्तिप्रिय या भीरु व्यक्ति नहीं। युधिष्ठिर के नेतृत्व से दुर्योधन का नेतृत्व अधिक प्रभावशाली है। परन्तु, दुर्योधन महाभारत का नायक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व कम है तथा पराश्रित व्यक्तित्व अधिक है। अर्जुन और भीम पाण्डव-पक्ष के अग्रगण्य योद्धा हैं, परन्तु वे स्वयं नायक

न होकर कर्त्तव्य-भावना से युद्ध करने वाले योद्धा मात्र हैं। अतः महाभारत ग्रन्थ का कोई स्पष्ट नायक नहीं है। इस विशाल ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अनेक नायक उभरे हैं, परन्तु समग्र ग्रन्थ का कोई नायक निर्धारित नहीं किया जा सकता।

महाभारत के अनेक प्रसंगों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस ग्रंथ में शान्त रस की प्रधानता है। एक महायुद्ध की विभीषिका लेखक या कवि को शान्त रस की ओर अग्रसर कर सकती है, और करती है। रक्त-रंजित राज्य को पाकर महाराज युधिष्ठिर शान्ति प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण और भीष्म की शरण में जाते हैं। महाभारत के प्रणेताओं ने शान्तरस का सम्बन्ध युधिष्ठिर, अर्जुन, भीष्म तथा श्रीकृष्ण जैसे पात्रों से जोड़ा है। वस्तुतः महाभारत एक पुराण-ग्रंथ है, एक ऐतिहासिक सामग्री का कोश है, धर्मशास्त्र है, दर्शनशास्त्र है, कामशास्त्र है, अर्थशास्त्र है। मूलतः महाभारत संसार-संघर्ष में काम आने वाले अनेक भावों, विचारों तथा वृतान्तों का महाशास्त्र है।

आधुनिक साहित्य

(Modern Literature)

आधुनिकता एक व्यापक शब्द है। आधुनिकता का अर्थ है–वर्तमान युग की विचारणा। शिक्षा का नवीनीकरण, केन्द्रीय शक्ति का प्रादुर्भाव, वैज्ञानिकता का अतिरेक, मनोवैज्ञानिकता का बोलबाला, रूढ़ि-विरोध जैसे आधुनिक तत्त्वों के कारण आधुनिक दृष्टिकोण से संयुक्त युग आधुनिक युग कहलाता है। आधुनिकता से आधुनिक जन-समाज प्रभावित हुआ है। वर्तमान दृष्टिकोण ने प्राचीन कीर्तिमानों को भी व्याघात पहुँचाया है, अतएव प्राचीन और अर्वाचीन के टकराव से संक्रान्ति-काल भी उद्भूत हुआ है। संस्कृत एक प्राचीन भाषा के रूप में प्रसिद्ध रही है। चार सौ ई.पू. में पाणिनि जैसे व्याकरणाचार्य ने 'अष्टाध्यायी' नामक व्याकरण-ग्रंथ की रचना करके संस्कृत के स्वरूप को व्यवस्थित किया। उनके उपरान्त अनेक वैयाकरणों ने संस्कृत भाषा की धारा को व्याकरण के सुदृढ़ तटबन्धों में सीमित किया। ऐतिहासिक काल में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि भाषाओं के प्रादुर्भाव के कारण संस्कृत साहित्य को धक्का भी लगा। फिर भी समय-समय पर अनेक कीर्तिकेन्द्र उत्पन्न ही होते रहे, जिन्होंने संस्कृत साहित्य की धारा को नित्य और अजस्र रखा।

आधुनिक संस्कृत साहित्य का विकास

1784 ई. में सर विलियम जोन्स के प्रयास से कलकत्ता में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना हुई। इस प्रतिष्ठान के द्वारा संस्कृत साहित्य के विकास को दो रूपों में सहयोग मिला–प्रथम तो प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों के प्रकाशन द्वारा तथा द्वितीय अनुसन्धान कार्य के श्रीगणेश द्वारा। 1784 में ही वारेन् हेस्टिंग्ज ने संस्कृत पण्डितों के प्रयास से धर्मशास्त्र का संकलन कराया तथा स्वयं ने उसका अंग्रेजी में अनुवाद किया। 1791 ई. में जर्मन भाषा में कालिदासकृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद हुआ। इसके पश्चात् अनुवाद-कार्य की धारा ही प्रवाहित हो गई। 1800 ई. में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलिज की स्थापना हुई तथा संस्कृत-विभाग भी खोला गया। जब 1835 ई. में मेकाले का शिक्षा-प्रस्ताव स्वीकृत हो गया तो संस्कृत की रक्षा के लिए भारतीय विद्वानों में उत्साह उत्पन्न हुआ। 1866 ई. में

बनारस से 'काशी विद्या सुधानिधि' नामक प्रथम संस्कृत पत्रिका प्रकाशित हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में ही संस्कृत के पण्डितों ने अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित होकर अनेक साहित्यिक विधाओं का प्रवर्तन किया। हम यहाँ आधुनिक साहित्य की विभिन्न विधाओं के इतिहास का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

1. महाकाव्य एवं खण्डकाव्य

महाकाव्य संस्कृत साहित्य की प्राचीन विधा है। आदि कवि वाल्मीकि की रामायण विश्व-साहित्य का प्राचीनतम महाकाव्य है। आधुनिक युग में केरल निवासी रामपाणिवाद ने 'राघवीयम्' नामक 20 सर्गों में विभाजित महाकाव्य की रचना की। रामपाणिवाद का समय 1707 ई. से 1781 ई. पर्यन्त है। रामपाणिवाद के पश्चात् अनेक महाकवि संस्कृत-साहित्य के मंच पर उतरे, जिनमें से कुछ का उल्लेख निम्न प्रकार है—

'श्रीरामविजयम'—रूपनाथ झा, 'रामचरितम्'—इलय तंबुरान (1800–1851 ई.), 'वासुदेवचरितम्'—पटपल्लि भाष्करन मूत्तत (1805–1875 ई.), 'सुरूपाराघवम्'—इलत्तूर रामस्वामी (1824-1907 ई.) 'वालिचरितम्'—शंकरलाल माहेश्वर (1844-1916 ई.), 'सुभद्राहरणम्'—रामकुरुप्प (1847–1907), रामकुरुप्प का 'सीता स्वयंवरम्' नामक एक यमक काव्य भी है। परमानन्द झा का 'कर्णार्जुनीयम्', दिवाकर कवि का 'पाण्डवचरितकाव्यम्', अन्नदाचरण तर्कचूड़ामणि का 'महाप्रस्थानम्', हेमचन्द्रराय का 'पाण्डवविजयम्' नामक महाकाव्य महाभारत के कथानक को लेकर रचे गए। रामपाणिवाद का 'विष्णुविलासः', विश्वेश्वर पाण्डेय का 'लक्ष्मीविलासकाव्यम्', श्रीकृष्ण भट्ट का 'ईश्वर विलासः' नामक महाकाव्य विष्णु के चरित्र को प्रस्तुत करते हैं।

पौराणिक महाकाव्यों के अतिरिक्त जगज्जीवन का 'अजितोदयकाव्यम्' मेवाड़ के राजा अजीतसिंह से सम्बद्ध है, सीताराम पर्यणीकर का 'जयवंशम्' जयपुर के इतिहास से सम्बद्ध काव्य है। रामचरित के अतिरिक्त साधुचरित तथा अंग्रेजचरित भी लिखे गए। नारायण इलयत का 'रामचरितम्' एक प्रसिद्ध खण्डकाव्य है। आधुनिक संस्कृत-साहित्य में 'संदेशकाव्य', 'चित्रकाव्य' आदि की भी रचना हुई। इन सभी काव्यों में परतन्त्र भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए राम, विष्णु कृष्ण, तथा शिवाजी जैसे नायकों को लेकर भारतीय वीरों तथा समाज को उद्‌बुद्ध करने का सुन्दर प्रयास किया है। महाकाव्यों में महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों पर विशेष ध्यान दिया गया है। काव्य के क्षेत्र में अनुवाद का भी प्रचुर कार्य हुआ है। आज जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' का भी संस्कृत-अनुवाद उपलब्ध है। संस्कृत के आधुनिक साहित्य में चम्पू काव्यों की भी रचना हुई है। अनन्ताचार्य का 'चम्पूराघवम्' तथा रामपाणिवाद का 'भागवतचम्पू' प्रसिद्ध चम्पू काव्य हैं।

2. रूपक

विभिन्न प्रकार के नाटकों के प्रचलन हेतु संस्कृत-साहित्य धनी है। 'दशरूपक' नामक ग्रन्थ में रूपक के दशभेद वतलाए गए हैं—

(1) नाटक, (2) प्रहसन, (3) प्रकरण (4) भाण, (5) व्यायोग, (6) समवकार, (7) डिम, (8) ईहामृग, (9) अंक तथा (10) वीथी।

1. नाटक—दृश्य साहित्य की अभिनेय, ललित विशद विधा को नाटक कहा जाता है। आधुनिक संस्कृत साहित्य में अनेक प्रकार के नाटकों की रचना हुई, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

पौराणिक नाटक—आधुनिक नाटक साहित्य में भी भट्टनारायण शास्त्री ने 96 वें पौराणिक नाटकों की रचना करके अग्रणी स्थान प्राप्त किया है। उनके कुछ नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—'त्रिपुरविजयम्', 'मैथिलीयम्', 'चित्रदीपम्', 'अमृतमन्थनम्', 'गूढकौशिकम्', मदालसा, 'महिषासुरवधम्' इत्यादि। पौराणिक नाटकों में दीनद्विज का 'शंखचूडवधम्' नाटक भी ख्याति प्राप्त है। पाँच अंकों के इस नाटक में पद्मपुराण की कथा का उल्लेख है। शंखचूड पाताल या अफ्रीका का राजा था। उसने इन्द्र को हराकर स्वर्ग पर—अर्थात् कैस्पियन सागर के तटवर्ती भूभाग पर भी आधिपत्य जमा लिया था। देवों को दुःखी देखकर योगिराज शंकर ने शंखचूड द्वारा प्रेषित दानव नामक दूत के माध्यम से शान्ति-सन्देश प्रेषित किया। परन्तु शंखचूड़ ने युद्ध करना ही उचित समझा। शंखचूड शंकर के सम्मुख युद्ध करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। इलत्तूर रामस्वामी के अंबरीषचरित तथा गांधारचरित नामक दो नाटक हैं। सुन्दरराज अय्यंगार ने 'पद्मिनी-परिणय' तथा 'गोदापरिणय' नामक दो नाटकों की रचना की। वेंकट नरसिंहाचार्य के 'गजेन्द्रमोक्ष', 'राजहंसीयम्', 'वासवापाराशर्य', 'चित्सूर्यलोक' नामक नाटक हैं। शंकरलाल माहेश्वर का 'वामनविजय' नाटक प्रशंसनीय है। इस नाटक में वामनावतार की कथा का रोचक निरूपण है।

हर्षनाथ शर्मा ने 'उषाहरणम्' नाटक में तथा श्रीनिवासाचार्य ने 'उषापरिणयम्' नाटक में श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का उषा से मिलन प्रदर्शित किया है। यहाँ यह विवेच्य है कि उषा दैत्यराज बाणासुर की पुत्री थी। भुवनेश्वरदत्त ने 'प्रह्लादचरितम्' नामक नाटक भी रचना की। प्रह्लाद दैत्येन्द्र हिरण्यकश्यप का पुत्र था। प्रह्लाद की रक्षा विष्णु ने की। पुराणों में विष्णु को ईश्वर माना गया है, इसलिए धूर्जटिप्रसाद भट्टाचार्य ने 'भक्तविजयम्' नामक नाटक रचा है। जी. वी. पद्मनाभाचार्य ने 'ध्रुवचरितम्' नामक नाटक की रचना की। इस नाटक में अंग्रेजी के नाटकों के दृश्यों की भाँति अध्यायों का विभाजन दृश्यों में ही हुआ है।

रामचरित से सम्बद्ध नाटक—रामायण की कथा का आश्रय लेकर निम्नलिखित नाटक रचे गए—1. सीताराघवम् रामपाणिवाद, 2. आनन्दरघुनन्दनम् विश्वनाथसिंह, 3. रामराज्याभिषेकम्—विरारराघव, 4. उदारराघवम्—नारायण शास्त्री, 5. जानकीविक्रमम्—हरिदास सिद्धान्त वागीश, 6. अभिनवराघवम्—सुन्दर वीरराघव, 7. कुशलव विजयम्—व्यंकट कृष्ण, 8. पौलस्त्यवधम्—लक्ष्मण सूरि। उपर्युक्त नाटकों में 'अभिनवराघवम्' नाटक में कथानक की नवीनता देखने को मिलती है। इस नाटक में सीता और राम के वियोग का कारण परशुराम का नार

बताया गया है तथा शूर्पणखा सीता के तुल्य वेशभूषा बनाकर राम को प्रवंचित करने की चेष्टा करती है।

कृष्ण चरित से जुड़े नाटक— कृष्ण के चरित्र को प्रकट करने वाले प्रमुख नाटक इस प्रकार हैं--1. 'रुक्मिणीपरिणयम्'--विश्वेश्वर पाण्डेय, 2. प्रद्युम्नविजयम् शंकर दीक्षित, 3. रुक्मिणी स्वयंवर--अश्वति तिरुनाल, 4. मुकुन्दमनोरथ--नारायण शास्त्री, 5. कंसवधम्- हरिदास सिद्धान्त वागीश, 6. राधामाधवम्—विक्रमदेव शर्मा, 7. जरासन्धवधम्—कुट्टन तम्बुरान, 8 गोवर्धनविलासम्—जी. वी पद्मनाभाचार्य। 'गोवर्धनविलासम्' नाटक का दृश्य-विभाजन पाश्चात्य शिल्प का परिचायक है।

शिवकथा से सम्बद्ध नाटक- शिवकथा को सूचित करने वाले प्रमुख नाटक इस प्रकार हैं-- 1. विघ्नेशजन्मोदयम् - गौरीकान्त द्विज. 2 पार्वतीपरिणय—शंकर लाल माहेश्वर, 3. मन्मथविजयम्—व्यंकटराघवाचार्य. 4. राट्विजयम्—रामस्वामी शास्त्री, 5. पार्वतीपरिणय— इलत्तूर रामस्वामी इत्यादि। इन नाटकों पर कालिदास के महाकाव्य 'कुमारसंभव' का थोड़ा-सा प्रभाव परिलक्षित होता है।

कुछ अन्य पौराणिक नाटक- नल-दमयन्ती की कथा पर आधारित नाटकों में मंदिकल रामशास्त्री का 'भैमीपरिणय' मंजुल नैपध का 'मन्जुलनैपधम्', श्रीमती तम्बुराटी का 'नैपधम्', रामावतार शर्मा का 'धीरनैपधम', कालीपदकाचार्य का 'नलदमयन्तीयम्' तथा देवीप्रसाद शुक्ल का 'नलचरितम्' प्रभृति नाटक प्रसिद्ध हैं। पाण्डवों के वंश की कथा पर आधारित प्रमुख नाटक इस प्रकार हैं—पांचालिकाकर्पणम् (काशीनाथ शास्त्री), सत्यवती शान्तनव एवं भीष्मप्रभावम् (कुट्टमत्तु कुरुप्प), द्रौपदीविजयम् (कृष्णन थम्पी)। महाभारत की अन्य कथाओं को लेकर भी अनेक नाटकों की रचना हुई। ययाति की कथा से सम्बद्ध वल्लीसहाय के दो नाटक प्रसिद्ध हैं—ययातितरुणानन्दम् तथा ययातिशर्मिष्ठापरिणयम्। सुब्रह्मण्यम शास्त्री का 'शाकुन्तलम्' नाटक भी प्रसिद्ध है। चित्रकूट की शोभा को आधार बनाकर विजय राघवाचार्य ने 'चित्रकूट' नाटक की रचना की तथा मेधाव्रताचार्य ने 'प्रकृतिसौन्दर्यम्' नाटक की रचना की। लक्ष्मण सूरि ने 1911 ई. में दिल्लीसाम्राज्यम्' नामक नाटक की रचना की. जिसमें पंचम जॉर्ज द्वारा समायोजित दिल्ली-दरबार की कथा है।

ऐतिहासिक नाटक – पंचानन तर्करत्न (1866-1914 ई.) ने राष्ट्रीयता की भावना के प्रसारार्थ महाराणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह के जीवन को आधार बनाकर 'अमरमंगलम्' नामक ऐतिहासिक नाटक की रचना की। हरिदास सिद्धान्त वागीश (1876-1936 ई.) ने 'विराजसरोजिनी, 'वंगीयप्रतापम्', मेवाड़प्रतापम्' तथा 'शिवाजी चरितम्' नामक चार ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। मथुरा दीक्षित ने महाराणा प्रताप को लक्ष्य करके 'वीर प्रतापम्' तथा पृथ्वीराज चौहान से सम्बन्धित 'पृथ्वीराज विजयम्' नामक नाटक की रचना की। मूलशंकर माणिकलाल ने 'छत्रपति साम्राज्यं', 'प्रताप विजयम्' तथा 'संयोगितास्वरम्' नामक तीन नाटकों की रचना की।

सामाजिक नाटक—एलत्तूर सुन्दरराज अय्यंगार (1841-1905 ई.) ने 'रसिक रजनम्' तथा 'स्नुषाविजयम्' नामक दो सामाजिक नाटक लिखे। 'स्नुषाविजयम्' नाटक मे पारिवारिक कलह का यथार्थवादी निरूपण है। रंगनाथाचार्य ने सामाजिक कुरीतियों के चित्रण के लिए 'न्यायसभा' तथा 'कुत्सिताकुत्सित' नामक दो नाटकों की रचना की। 1895 ई. मे विद्याविनोद ने 'गर्वपरिणतिः' नामक नाटक की रचना की। इन नाटक में आधुनिक शिक्षा और सभ्यता के ऊपर करारा व्यंग्य है। वी. कृष्णन थम्पी ने 'ललिता', 'प्रतिक्रिया', 'वङ्गज्योत्स्ना' तथा 'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः' नामक चार सामाजिक नाटक लिखे। अधिकांश सामाजिक नाटकों का शिल्प पाश्चात्य नाट्य-शिल्प से प्रभावित रहा है।

लाक्षणिक नाटक—लाक्षणिक नाटकों में प्रतीकात्मकता तथा व्यंग्यात्मकता की प्रधानता रहती है। लाक्षणिक नाटकों का नायक एवं प्रतिनायक के रूप में धर्म तथा अधर्म जैसे अमूर्त तत्त्व प्रस्तुत किये जा सकते है। सामयिक प्रवृत्तियों को अंकटक रूप में चित्रित करने का सफल माध्यम लाक्षणिक नाटक ही है। आधुनिक युग में मुख्यतः निम्नलिखित लाक्षणिक नाटकों की रचना हुई—

1. तत्त्वमुद्राभद्रम (अनन्ताचार्य), 2. कलिकोलाहलम् (रामानुजाचार्य), 3. शुद्धसत्त्वम् (मदहुपीव्यकटाचार्य), 4. अधर्मविपाकम् (अप्पाशास्त्री राशिवडेकर), 5. भ्रमभंजननाटकम् (सत्यव्रत शर्मा), 6. मणिमंजूषा (रामनाथ शास्त्री) इत्यादि।

अनुदित नाटक—आधुनिक संस्कृत साहित्य में अंग्रेजी तथा कुछ अन्य भाषाओं में रचित नाटको के अनुवाद मिलते हैं। अनुदित नाटकों में कुछ नाटकों के नाम इस प्रकार हैं—भ्रान्तिविलासम् (शैल दीक्षित), शेक्सपीयर के 'कॉमदी ऑफ अरर्स' का अनुवाद है। कृष्णमाचार्य ने शेक्सपीयर के 'एज यू लाइक इट' को 'यथामतम्' नाम से तथा 'ए मिड समर नाइटर्स ड्रीम्स' को 'वासन्तिक स्वप्नः' नाम से अनुदित किया। रामचन्द्राचार्य ने 'हैमलेट' का 'पितुरुपदेशः' तथा 'एज यू लाइक इट' को 'पुरुपदशासप्तकम्' के रूप में अनुदित किया है। रंगाचार्य ने अंग्रेजी के उपन्यास 'विकार ऑफ वेकफील्ड' को 'प्रेमराज्यम्' नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। अतः अनुदित नाटकों में नामतः तथा रूपतः कुछ कलात्मक परिवर्तन दर्शनीय हैं।

2. प्रहसन—'प्रहसन' रूपक का रोचक रूप है। प्रहसन में हास्यात्मकता की प्रधानता रहती है। आधुनिक संस्कृत-साहित्य मे रामपाणिवाद का 'मदनकेतु-चरितम्' पहला प्रहसन है। इस प्रहसन में विष्णुमित्र ननामक संन्यासी को अनंगलेखा नामक वेश्या के ऊपर अनुरक्त दिखलाया गया। मुकुन्दराम शास्त्री ने 'गौरी दिगम्बर' नामक प्रहसन की रचना 1902 ई. में की। मधुसुदन काव्यतीर्थ के 'पण्डितचरित' प्रहसनों में पण्डितों की अहंकार प्रवृत्ति को हास्यात्मक रूप प्रदान किया गया है। वटुकनाथ शर्मा के 'पाण्डित्यताण्डव' प्रहसन में पण्डित-समूह पर कटाक्ष किया गया है। इन प्रहसनों के अतिरिक्त अनेकानेक प्रहसनों की रचना भी आधुनिक युग की देन है।

3. प्रकरण—रूपक के भेद 'प्रकरण' में धीरप्रशान्त नायक को लेकर प्रणय-गाथा को प्रस्तुत किया जाता है। आधुनिक युग में रामानुजाचार्य का 'आत्म-

वल्लीपरिणय:' चन्द्रकान्त तर्कालंकार का 'कौमुदी सुधारक' तथा नरसिंहाचार्य का 'वासवीपाराशरीयम्' नामक तीन प्रकरणों की रचना हुई।

4. भाण—भाण रूपक में विद्वान् विट स्वानुभूत या परानुभूत वृत्तचरित का वर्णन करता है। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में कम से कम दो दशक भाणों की रचना हुई। घनश्याम के 'मदनसंजीवनी' भाण में काम-दहन की कथा का रोचक वर्णन है। अश्वीत तिरुनाल का 'श्रृंगार सुधाकर' इलय तम्बुरान का 'रससदनभाण' नम्बियार का 'रसरत्नाकर', भाष्करन नम्बूदरी का 'श्रृंगार तिलक' प्रभृति भाण आधुनिक युग की रचना हैं।

5. व्यायोग—इतिहास या पुराण की कथावस्तु को लेकर एक अंक में पुरुष पात्रों की प्रधानता करके व्यायोग की रचना होती है। पद्मनाभ का 'त्रिपुरविजय' शंकर द्वारा त्रिपुरासुरों के विनाश की कथा को लेकर लिखा गया व्यायोग है। नरसिंहाचार्य ने 'गजेन्द्रव्यायोग' नाम से पौराणिक कथा के आधार पर व्यायोग लिखा है। कुडगल्लूर कुंजि कुट्टन ने दो व्यायोग लिखे हैं—किरातार्जुनीयम् तथा सुभद्राहरणम्। किरातार्जुनीय व्यायोग में किरात तथा अर्जुन नामक पुरुष पात्रों की प्रधानता है।

6. समवकार—रूपक के भेद समवकार में देव-दानवों से सम्बद्ध कथावस्तु को लेकर कपट तथा पुरुषार्थ का अद्भुत सम्मिश्रण रहता है। रामनुजाचार्य का 'लक्ष्मीकल्याणम्' एक सफल समवकार है।

7. डिम—'डिम' में अलौकिक पात्रों को सुयोजित करके चार अंकों में रूपक प्रस्तुत किया जाता है। इसमें प्रधान रस रौद्र होता है तथा अन्य रस अंग रसों के रूप में रहते हैं। रामानुजाचाय का 'दक्षमखरक्षणम्' एक सफल डिम है। इसमें शंकर के शिष्य वीरभद्र का कोप प्रदर्शित किया गया है।

8. ईहामृग —ईहामृग में प्रतिनायक के माध्यम से देवांगना के अपहरण की कथा चार अंकों में प्रस्तुत की जाती है। रामानुजाचार्य का 'नहुषाभिलाप:' एक रोचक ईहामृग है। इस ईहामृग में इन्द्राणी शची के अपहरण या प्राप्ति की कथा का सुन्दर चित्रण है।

9. अंक—करुण रस की प्रधानता से युक्त एक अंक का रूपक अंक कहलाता है। रामानुजाचार्य का 'अन्यायराज्यप्रध्वंसनम्' तथा वीरराघवाचार्य का 'भोजराजांकम्' नामक अंक उल्लेखनीय है। राजा भोज के मन्त्री मुंज ने भोज को मारने का कपट किया था। 'अंक' मार्मिक रूपक होता है।

10. वीथी—श्रृंगार रस की प्रधानता से युक्त एक अंक की रचना 'वीथी' नाम से जानी जाती है। रामपाणिवाद ने 'चन्द्रिकावीथी' तथा 'लीलावती' नामक दो वीथी रूपकों की रचना की। रामानुजाचार्य की 'मुनित्रयविजय:' तथा दामोदरन नम्बूदरी की 'मन्दारमालिका' वीथी प्रसिद्ध हैं।

श्रृंगार रस की प्रधानता से संयुक्त कल्पित तथा जन-प्रचलित कथावस्तु को लेकर नाटक के तत्त्वों की समायोजना के साथ नाटिका की रचना की जाती है।

विश्वेश्वर पाण्डेय की 'नवमालिका', सौंठी भद्रादि रामशास्त्री की 'मुक्तावली' तथा अम्बिकादत्त व्यास की 'ललितनाटिका' प्रशंसनीय हैं।

एकांकी

अंग्रेजी साहित्य के 'वन् एक्ट प्ले' को एकांकी नाम दिया गया है। संस्कृत साहित्य के लिए एकांकी एक नई विधा है। रामपाणिवाद ने 'दौर्भाग्य मंजरी' नामक एकांकी की रचना की। प्रभाकराचार्य ने 'भ्रमरकाहली' नामक एकांकी की नए शिल्प के आधार पर रचना की। राजराजवर्म कोइतम्बुरान ने 'गीर्वाण विजय' नामक एकांकी की रचना की। 'गीर्वाण विजय' एकांकी में संस्कृत भाषा की दुर्दशा को दूर करने के सुन्दर प्रयास प्रदर्शित किए गए हैं।

गीतनाट्य या छायानाटक

गीतनाट्य में गीतों की प्रधानता रहती है। इन गीतों के माध्यम से विवेच्य-विषय को सुस्पष्ट किया जाता है। शक्तन तम्बुरान ने एक शतक गीतनाट्यों की रचना की। उनके प्रसिद्ध गीतनाट्य इस प्रकार हैं—सीतास्वयंवरम्, वालिवधम्, नलचरितम्, सगरोपाख्यान, अजामिलमोक्ष, यज्ञरक्षा, अहिल्यामोक्ष, जरासन्ध पराजय इत्यादि। अश्वति तिरुनाल के अम्बरीषचरितम् तथा पौण्ड्रकवधम् नामक छायानाटक प्रसिद्ध हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में अनेकानेक छायानाटकों की रचना हुई है।

3. गद्य काव्य

गद्य-काव्य का श्रीगणेश आधुनिक युग में ही हुआ है। गद्य-काव्य प्रवृत्ति के आधार पर तीन रूपों में रचा गया है—राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत गद्य-काव्य, आश्रयदाताओं की प्रशंसा से युक्त गद्य-काव्य तथा देवी-देवताओं की स्तुति से सम्बद्ध गद्य-काव्य।

(1) राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत गद्य-काव्य—चिन्तामणि रामचन्द्र शर्मा की 'राष्ट्रीयोपनिषद्' नामक गद्य-काव्य रचना में उपनिषदों की शैली के आधार पर पाँच वल्लियाँ हैं। इस रचना में राष्ट्र-भक्ति की प्रधानता है।

(2) आश्रयदाताओं की प्रशंसा से युक्त गद्य-काव्य—अश्वति तिरुनाल ने 'वंजिमहाराजस्तवः' गद्य-काव्य में महाराजा वंजि का स्तवन किया है। राजराजवर्म कोइतम्बुरान की कृति 'षष्ठिपूर्तिदण्डक' में श्रीमूल तिरुनाल की प्रशस्ति है। नीलकंठ शर्मा की रचना 'घोषपुरमहाराज्ञीस्तवः' में माट भूपाल राजरानी की प्रशंसा चित्रित हुई है।

(3) देवी-देवताओं की स्तुति से सम्बद्ध गद्य-काव्य—शिव स्तुति से सम्बद्ध पाच्चूमूत्तत की 'खुट्यम' तथा अज्ञात लेखक की 'शिवताण्डवदण्डकम्' नामक गद्य-काव्य रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। पार्वती की स्तुति को सूचित करने वाली गद्य-काव्य कृतियाँ इस प्रकार हैं—'ललिताम्बिकादण्डक' नामक दो रचनाएँ केरलवर्म कोइतम्बुरान तथा रविवर्म कोइतम्बुरान ने लिखी हैं, रंगाचार्य ने 'पादुकासहस्रावतार' तथा अश्वति तिरुनाल ने 'दशावतार दण्डक' नामक रचनाएँ अवतारों की स्तुति को

लक्ष्य करके प्रस्तुत की हैं। राजराजवर्म कोइतम्बुरान ने देवी की स्तुति में 'देवीदण्डक' तथा रघुराजसिंह जूदेव ने विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति का संग्रह 'गद्यशतकम्' नाम से निकाला। इलत्तूर रामस्वामी का 'श्रीकृष्ण दण्डकम्' ईशावतार श्रीकृष्ण की स्तुति से सम्बद्ध है।

4. उपन्यास-साहित्य

आचार्य विश्वनाथ ने उपन्यास शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा है— 'उपन्यासः प्रसादनम्—साहित्य दर्पण' अर्थात् मनोरंजक-तत्त्व ही उपन्यास है। संस्कृत साहित्य में उपन्यास एक नवीन साहित्यिक विधा है। उपन्यास के शिल्प पर अंग्रेजी-उपन्यास के शिल्प का पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है। विभिन्न श्रेणियों के उपन्यासों का विवेचन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—

(क) **अनूदित उपन्यास**—अम्बिकादत्त व्यास का 'शिवराजविजय' नामक उपन्यास संस्कृत का प्रथम उपन्यास है। इस उपन्यास का लेखन-काल 1870 है। यह उपन्यास बंगला उपन्यासकार रमेशचन्द्रदत्त की बंगला रचना 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' का अनुवाद है। प्रस्तुत उपन्यास में शिवाजी की वीरता का मनोहारी चित्रण है। इस उपन्यास की शैली के ऊपर बाणभट्ट की कादम्बरी का स्पष्ट प्रभाव है। बंगाली उपन्यासकार बंकिमचन्द्र के उपन्यासों को निम्नलिखित संस्कृत उपन्यासकारों ने अनूदित किया—

1. शैलताताचार्य के 'क्षत्रियरमणी' तथा 'दुर्गेशनन्दिनी', 2. अप्पाशास्त्री राशिवडेकर के 'देवीकुमुद्धती', 'इन्दिरा', 'लावण्यमयी', 'कृष्णकान्तस्य निर्वाणम्' तथा 3. हरिचरण भट्टाचार्य का 'कपालकुण्डला' आदि प्रमुख अनूदित उपन्यास हैं।

राजराजवर्म कोइतम्बुरान ने शेक्सपीयर की त्रासदी 'ओथेलो' को 'उद्दातचरितम्' उपन्यास का रूप दिया है। तिरुमलाचार्य ने शेक्सपीयर के 'कॉमदी ऑफ अरर्स' का 'भारत-विलासम्' नाम से तथा रंगाचार्य ने 'विकार ऑफ वेकफील्ड' का 'प्रेमराज्यम्' नाम से अनुवाद किया है। ये सब कृतियाँ औपन्यासिक हैं।

कुमारताताार्य ने डोरा स्वामी के तमिल उपन्यास 'मेनका' का अनुवाद किया है। हिन्दी के लेखक जगन्नाथ प्रसाद के उपन्यास 'संसारचरितम्' का अनन्ताचार्य ने अनुवाद किया तथा मराठी उपन्यासकार नरसिंह चिंतामणि केलकर के 'बलिदानम्' उपन्यास को वासुदेव आत्माराम लाटकर ने अनूदित किया है।

(ख) **पौराणिक उपन्यास**—लक्ष्मण सूरि (1859–1919) ने तीन उपन्यास लिखे हैं–'रामायण संग्रह', 'भीष्मविजयम्' तथा 'महाभारत संग्राम'। शंकरलाल माहेश्वर ने 'अनुसूयाभ्युदयम्', 'चन्द्रप्रभाचरितम्' तथा 'महेश्वप्राणप्रिया' प्रभृति उपन्यास लिखे हैं। गोपालशास्त्री का 'अतिरूपचरितम्' तथा गणपतिमुनि का 'पूर्णा' नामक पौराणिक उपन्यास हैं। शेषशायी शास्त्री ने 'अष्टवक्रीयम्' नामक उपन्यास लिखा, जिसमें राजा जनक के गुरु अष्टावक्र की कथा का वर्णन है। श्री निवासाचार्य के उपन्यास 'कैरविणी' में शक्तिमत के उपासकों की आध्यात्मिक

निष्ठाओं को प्रस्तुत किया गया है। इन सभी पौराणिक उपन्यासों में मौलिकता के लिए भी विशिष्ट स्थान है।

(ग) **ऐतिहासिक उपन्यास**—इतिहास के कथानक को लेकर लिखे गये उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास कहे गये हैं। कृष्णमाचार्य ने 'वररुचिः' तथा 'चन्द्रगुप्तः' नामक दो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। इन दोनों उपन्यासों में मौर्यकालीन वैभव का वर्णन किया गया है। 1905 ई. में नरसिंहाचार्य ने 'सौदामिनी' नामक उपन्यास लिखा, जिसमें मगध के राजा शूरसेन तथा विदर्भ की राजकुमारी के प्रेम का मार्मिक वर्णन है। 1909 ई. में 'वीरमती' नामक उपन्यास लिखा गया। इस उपन्यास में मुसलमान काल की घटना का वर्णन है।

(घ) **अन्य उपन्यास**—उपेन्द्रनाथ सेन ने तीन सामाजिक उपन्यास लिखे हैं—मकरन्दिका, कुन्दमाला तथा सरला। इन उपन्यासों में नारी-जीवन की पीड़ा का मार्मिक चित्रण मिलता है। भट्ट श्री नारायण शास्त्री के 'सीमन्तिनी' उपन्यास में नारी-दुर्दशा का यथार्थवादी चित्रण है। मनुजेन्द्रदत्त के 'सती-छाया' उपन्यास में प्रेम-प्रपञ्च का मनोहारी वर्णन है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार कृष्णमाचार्य ने सामाजिक समस्याओं के चित्रणार्थ तीन उपन्यासों की रचना की–'पतिव्रता,' 'पाणिग्रहणम्' तथा 'सुशीला'। कुप्पूस्वामी के 'सुलोचना' उपन्यास को पढ़कर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की निम्न पंक्तियाँ बरबस याद हो उठती हैं—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
है आँचल में दूध और आँखों में पानी॥ —यशोधरा

चिदम्बर शास्त्री की 'कमला कुमारी' तथा 'सतीकमला' नामक औपन्यासिक कृतियों में समग्र नारी-जीवन का मूल्यांकन है। 1906 ई. में श्री बलभद्र शर्मा ने 'वियोगिनीबाला' नामक उपन्यास लिखा, जिसमें वर्षा ऋतु को विरहिणी के लिए घोर कष्टकारक सिद्ध किया है। अन्य उपन्यास-कृतियाँ इस प्रकार हैं—एक रोमानी उपन्यास के रूप में 'सरला' हरिदास सिद्धान्त वागीश, 'कल्याणी'—नगेन्द्रनाथ सेन, 'विजयिनी'—परशुराम शर्मा, 'कुमुदिनी' तथा 'विलासकुमारी'–ए० राजगोपालाचार्य, 'कुमुदिनीचन्द्र'–मेधाव्रताचार्य, 'कुसुमकलिका'–परमेश्वर झा, 'दरिद्राणां हृदयम्' तथा 'दिव्यदृष्टिः'–नारायण शास्त्री ख्रिस्ते इत्यादि।

अन्य साहित्यिक विधाओं में पत्र-लेखन, आलोचना, निबन्ध, जीवनी, यात्रा-साहित्य तथा शब्दकोश सम्पादन जैसे विभिन्न कार्यों का श्रीगणेश आधुनिक युग की देन है।

आधुनिक साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ

भाव और शिल्प दोनों की दृष्टि से आधुनिक युग के साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियाँ रही हैं, जो मुख्यतः इस प्रकार हैं—1. राष्ट्रीयता की भावना, 2. नारी-उद्धार, 3. नवीन साहित्यिक विधाओं का विकास, 4. मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रधानता, 5. भाषागत विकास, 6. आलंकारिकता।

1. राष्ट्रीयता की भावना—राष्ट्र-प्रेम को राष्ट्रीयता की भावना के नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर ने 'विवेकानन्दविजयम्' नाटक में भारत-भूमि के प्रति अगाध आस्था व्यक्त की है। इस नाटक में भारतवर्ष के मनीषियों के प्रति भी गहरी भक्ति-भावना प्रदर्शित की गई है। निम्नलिखित पंक्तियों में राष्ट्रीयता का दर्शन सहज सम्भव है—

अयोध्या शत्रूणां, त्वमसि मथुरा पावनहृदां
खलानां वा माया जननि ! खलु काशी सुतपसाम्।
अवन्ती चार्तानामयि विघृतकानची विमनसां
विमुक्ते द्वारावत्यपि दिविषदां त्वं ननु पुरी॥

वस्तुतः आधुनिक साहित्य में वेदों की महिमा के गान द्वारा, भारतीय दर्शन की अद्वितीयता के माध्यम से, भारतीय महापुरुषों के चरित्र की अनुपमता के द्वारा तथा अनेकानेक अतीतकालीन गौरवों के आधार पर राष्ट्रीयता की भावना प्रदर्शित की गई है। विवेकानन्द के ज्ञान का समूचे संसार ने लोहा माना। इस सन्दर्भ में निम्न शब्द प्रेक्षणीय हैं—

"Here is a man, who is more learned than all the professors put together. To ask for his Credentials is like asking the sun about its right to shine !"

—विवेकानन्द विजयम्. पृ. 97

मेवाड़प्रतापम्' तथा 'शिवाजी चरितम्' और नाटकों के माध्यम से महापुरुषों के आदर्शों से राष्ट्रीयता की भावना पोषित हुई है। 'राघवीयम्' तथा 'कंसवधम्' जैसे महाकाव्यों के द्वारा राष्ट्रप्रेमी महापुरुषों के प्रति अटूट श्रद्धा एवं भक्ति का प्रदर्शन राष्ट्रीयता का साक्षात् स्रोत है। आधुनिक युग के ऐतिहासिक उपन्यास भी राष्ट्रीय चरित्र को महापुरुषों के चरित्र के आधार पर उज्ज्वल रूप में देखने को उत्सुक जान पड़ते हैं।

2. नारी उद्धार—आधुनिक युग में मानवतावादी दर्शन के आधार पर नारी-उद्धार को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। हमारे देश के युग पुरुषों—प्रताप, शिवाजी तथा विवेकानन्द आदि ने नारी की देवीवत् आराधना की है। वस्तुतः महर्षि मनु का आदर्श गृहस्थ का यह सिद्धान्त—यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।' आधुनिक साहित्य में साकार होता प्रतीत होता है। कृष्णमाचार्य के 'पतिव्रता' नामक उपन्यास में पुरुष के द्वारा नारी की शोषित स्थिति का यथार्थवादी चित्रण किया गया है। आधुनिक युग के प्रेम-प्रपंच का चित्रण करने के लिए मनुजेन्द्रदत्त का 'सती-छाया' उपन्यास उल्लेखनीय है। 'विवेकानन्द विजयम्' नाटक में नारी-उद्धार का एक रोचक प्रसंग है—कलकत्ता विश्वविद्यालय के परिसर में नरेन्द्र बनाम विवेकानन्द, मुस्लिम छात्र रहमान तथा अंग्रेज छात्र विलियम नारी विषयक वार्तालाप में जुटते हैं। विलियम तर्क-वितर्क करके कुछ संतुष्ट हो जाता है। रहमान शेफालिका नामक युवती के ऊपर व्यंग्य-वाणों की वृष्टि करता है। नरेन्द्र

रहमान का गला पकड़ लेता है। नरेन्द्र अनैतिक विवाह या बलपूर्वक किए गए या किए जाने वाले विवाह की भर्त्सना करता है। बलशाली नरेन्द्र के सामने रहमान कम्पायमान हो जाता है। शेफालिका नरेद्र को दिव्य मूर्ति मानकर अपने उद्गार व्यक्त करती है—

> त्रातुं नारीजनमिह खलै. पीड्यमानं प्रसह्य।
> सम्प्राप्तः किं वृतनरतनुः कोऽप्ययं देव एव।
> यत् सच्छीलं विहरति मनोमन्दिरेऽस्य प्रसन्नं
> सत्सामर्थ्यं स्फुरति भुजयोर्नेत्रयोर्दिव्यतेजः ॥

तेजस्वी नरेन्द्र विधवा-सधवा, कन्या-वृद्धा, शिक्षिता-अशिक्षिता सभी को प्रतिष्ठित जननी के रूप में सिद्ध करता है। शेफालिका के वैधव्य के विषय में सोच कर नरेन्द्र भाव-विभोर हो उठता है—'हा हन्त हन्त बाल्ये एव वयसि वैधव्यवज्राघातः एवं प्रायाः अशिक्षिता निरक्षरा बालविधवा गृहे गृहे भवेयुः अस्मत्समाजे। हा परमात्मन्! ततस्ततः। अतः आधुनिक साहित्य में नारी-उद्धार की भावना को प्रबल महत्त्व दिया गया है।

3. नवीन साहित्यिक विधाओं का विकास—आधुनिक युग में निबन्ध साहित्य प्रबलता को प्राप्त कर रहा है। निबन्धों को देखकर 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' सूक्ति को चरितार्थ पाया जा रहा है। जीवनी साहित्य नामक गद्यविधा के विकास से महापुरुषों का जीवन-चरित्र सरल गद्य में जन-समाज तक पहुँचाया जा रहा है। मेधाव्रताचार्य का 'महर्षि विरजानन्द चरितम्' एक जीवनी ही है, जिसमें विरजानन्दजी की विद्वता तथा कर्मनिष्ठा पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। लघुकथा या कहानी के विकास से साहित्य की मनोरंककता को बल मिला है। कहानी में उपदेशात्मकता का भी सहज पुट सम्भव है। अप्पाशास्त्री राशिवडेकर का 'कथाकल्पद्रुम' नामक कहानी संग्रह कहानियों की रोचकता तथा प्रभावोत्पाकता के लिए प्रशंमनीय है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में निबन्धों का विकास अंग्रेजी, हिन्दी तथा संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन करने में सहायक सिद्ध हो रहा है। शब्द-बोध के लिए कोष-ग्रन्थों की रचना भी प्रशंसनीय है। अत उपन्यास, एकांकी, ध्वनिरूपक, यात्रा-वृत्त, कहानी, निबन्ध, आलोचना जैसी नवसाहित्यिक विधाओं के विकास से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक संस्कृत में गत्यात्मकता का सहज गुण विद्यमान है। यही आधुनिक प्रवृत्ति है।

4. मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रधानता—आधुनिक युग में 'रसात्मकम् वाक्यं काव्यम्'—अर्थात् सरस वाक्य ही काव्य है, को मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान किया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रॉइड तथा युंग जैसे मनोवैज्ञानिकों के उदय से चेतन, अवचेतन तथा अचेतन मन की गहराइयों को स्पष्ट करने के लिए यथेष्ट प्रयास किए गए हैं। रामापाणिवाद के 'दौर्भाग्यमंजरी' नामक एकांकी में स्वाभाविक मनोविज्ञान का स्वरूप देखने योग्य है—

> अकारणं दक्षिणमक्षि कम्पते
> तथैव वामेतरं बाहुरप्यहो।

अतः किलेतरफलमत्र लभ्यते
मृषा न जायेत निमित्तमीदृशम् ।।

अर्थात् नायिका सोचती है--अकारण ही दक्षिण आँख और भुजा फड़कती हैं। इसलिए आज निश्चित रूप से दुर्भाग्य रूपी फल प्राप्त होना है। इस प्रकार के निमित्त या सूचक चिह्न मिथ्या नहीं हुआ करते। वस्तुतः दुर्भाग्य की साकार प्रतिमा दौर्भाग्यमंजरी नामक नायिका का यह चित्रण उसके मन की चिन्ता, त्रास, विषाद, करुणा आदि को मनोवैज्ञानिक स्तर प्रदान करता है।

शिवगोविन्द त्रिपाठी के 'श्रीगान्धिगौरवम्' महाकाव्य में मनोवैज्ञानिक चित्रण का एक सरस प्रसंग है। जब गाँधीजी बम्बई से अफ्रीका के लिए पोत या जलयान में यात्रा कर रहे थे तो दैवयोग से तूफान तेजी से चलने लगा तथा उसके प्रभाव से जलयान खतरे में पड़ गया। उस समय हिन्दू धर्म के अनुयायी राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, ईश्वर आदि नामों को लेकर, जैन लोग वर्धमान का नाम लेकर, बौद्ध अर्हत् सोचकर मुसलमान खुदा को पुकार कर तथा ईसाई गॉड को ध्यान में लाकर अनेक प्रकार से प्रार्थना करने लगे। यथा—

हे राम! हे कृष्ण! हरे! मुरारे!
हे अल्ल! हे देवि! खुदा! पुरारे!
हे 'गॉड'! ईशो! शिवदेव! अर्हन्!
कृपाकटाक्षं मयि धेहि धीमन्!

उपर्युक्त छन्द में आपत्ग्रस्त समाज का मनोवैज्ञानिक चित्रण देखते ही बनता है। आधुनिक युग के उपन्यासों में नारी की दुर्दशा का मनोवैज्ञानिक चित्रण सहज सराहनीय है। जिस प्रकार हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रवृत्तियों के आधार पर लिखा जा चुका है, उस प्रकार संस्कृत का प्रवृत्तिगत इतिहास अभी तक दुर्लभ है। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक उपन्यास नाम से अब एक औपन्यासिक धारा विकसित हो चली है। इस उपन्यास रूप की शैली मनोविश्लेषणात्मक अथवा आत्मकथात्मक होती है। आज नारी की समस्या का ही नहीं अपितु समस्त सामाजिक समस्याओं का चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया जा सकता है। संस्कृत के नाटकों में मनोवैज्ञानिकता का पुट बहुलता के साथ दृष्टव्य है। 'विवेकानन्दविजयम्' नाटक में व्यक्ति की मनोदशा—प्रेम, घृणा तथा विरक्ति का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। सुप्त मन में स्थित मनोविकारों का चित्रण मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही सम्भव है। अतः आधुनिक साहित्य मनोवैज्ञानिक गहराइयों के चित्रण की ओर उन्मुख हुआ है।

5 भाषागत विकास—आधुनिक संस्कृत साहित्य में भाषागत विकास अनेक रूपों में हुआ है। यथार्थतः आधुनिक युग में अंग्रेजी का सर्वाधिक प्रचार है। अंग्रेजी से पूर्व अरबी-फारसी ने भी भारतीय जन-समाज की भाषा पर बहुत कुछ प्रभाव डाला। कई भाषाओं के शब्दों का संस्कृतिकरण करने की आवश्यकता आधुनिक साहित्यकारों को प्रतीत हुई। अतएव साहित्यकारों ने प्रगतिशील युग के अनेक शब्दों का संस्कृतीकरण करके संस्कृत भाषा को आधुनिक बनाया है। प्रसिद्ध लेखक अम्बिकादत्त व्यास ने 'शिवराजविजयः' उपन्यास में अनेक शब्दों को संस्कृत रूप

दिया है। अफजलखाँ नामक मुसलमान सेनानी को 'अफजलखाँ' नाम संस्कृत व्याकरण के आधार पर ही दिया है। शिवगोविन्द त्रिपाठी ने 'श्रीगान्धिगौरवम्' काव्य में अनेक अंग्रेजी-फारसी शब्दों को संस्कृत का रूप प्रदान किया है। उन्होंने तूफान को 'तूर्णफाण', स्टेशन को 'स्थेऽशन', अस्पताल या हॉस्पीटल को 'अस्वस्थपानः' रूप प्रदान किया है। विवेच्य काव्य में अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग करके संस्कृत भाषा को शब्द ग्रहण करने की प्रवृत्ति से युक्त कर दिया गया है। अंग्रेजी के कुछ शब्दों का प्रयोग द्रष्टव्य है—इन्डियन ओपिनियन, कोर्ट इत्यादि। इसी प्रकार संस्कृत के अनेक साहित्यकारों ने संस्कृत भाषा को नवीन या आधुनिक बनाने में भाषागत विकास का परिचय दिया है।

6 आलंकारिकता - आत्मगौरव नामक वृत्ति वाणी के क्षेत्र में भी स्पष्टतः देखी जाती है। साहित्यकार अपने मन्तव्य को ऊपर करने के लिए आलंकारिकता का आधार अवश्य लेता है। डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर के 'विवेकानन्दविजयम्' नाटक में आलंकारिक प्रयोग का स्वाभाविक स्वरूप स्पष्ट हुआ है। उपमा अलंकार का प्रयोग व्यापक स्तर पर करता हुआ कवि यहाँ तक कह जाता है कि हमारे देश के राजा शासन को तृण-तुल्य मानते थे, वन को विष-तुल्य समझते थे, भौतिक सुख को दुःख के समान मानते थे, भोगों को सर्पों के समान समझते थे। यथा—

तृणप्रायं राज्यं, विषमिववनं, सौख्यमसुखं
मता भोगा भोगा इव, तव सुतै राजभिरपि।

'श्रीगान्धिगौरवम्' काव्य में प्रायः सभी अलंकारों का प्रयोग किया गया है। कवि ने पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार का प्रयोग अनेक बार किया है। यथा—स्मारं स्मारं गौतमं बुद्धदेवं' 'नवैके नवैके' इत्यादि। कवि ने अर्थान्तरन्यास अलंकार के प्रयोग में महाकवि कालिदास के समान दक्षता प्रदर्शित की है। जब गांधीजी अफ्रीका से भारत लौटे तो वे बम्बई में कवि राजचन्द्र से मिले। कवि राजचन्द्र में शतावधानीत्व-शतप्रतिशत स्मरण शक्ति थी। जब गांधीजी ने राजचन्द्र की परीक्षा हेतु कुछ विचित्र वाक्य कहे तो कवि राजचन्द्र ने उन सब वाक्यों को क्रमबद्ध रूप में सुना दिया। इसी तथ्य को कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

शतावधानीचयं जिघृक्षुणा, श्रीगान्धिना शब्दमयं स्वभाण्डकम्।
रिक्तीकृतं पूरितवान् स उत्तरैर्मेधाविभिर्विश्वमिदं न रिच्यते॥

अम्बिकादत्त व्यास ने 'शिवराजविजय' उपन्यास में आचार्य बाणभट्ट की गद्य-शैली की छाया को ग्रहण करके अपने उपन्यास को शैलीगत स्तर पर उदात्त बना दिया है। शिवाजी के व्यक्तित्व के निरूपण में लेखक ने विरोधाभास अलंकार का तूफान खड़ा कर दिया है। लेखक ने उल्लेख अलंकार का प्रयोग भी असीमित रूप में कर दिया है। श्लेष अलंकार का प्रयोग करके प्राचीन परम्परा को यथावत् रखने में भी अम्बिकादत्त व्यास जैसे लेखकों ने पूर्व योगदान दिया है। अंग्रेजी काव्य-शास्त्र से आए हुए ध्वन्यर्थव्यंजक अलंकार का प्रयोग भी नाना रूपों में किया है। पक्षियों की ध्वनि तथा जल-प्रवाह के कलरव के रूप में ध्वन्यर्थव्यंजक अलंकार का युक्तिसंगत

प्रयोग किया गया है। वसुप्रहराज (1790-1860) का 'यदुरघुनाथीयम्' महाकाव्य श्लेष अलंकार के चमत्कार से परिपूर्ण है।

आधुनिक साहित्य के नाटकों में अंग्रेजी के उपन्यासों का शिल्प भी अपनाया गया है। पद्मनाभाचार्य के नाटकों में अंकों के स्थान पर दृश्यों का प्रयोग किया गया है। कई नाटकों में प्रस्तावना को भी हटा दिया गया है। कुछ उपन्यासों में मानवतावादी दर्शन का आधार लेकर आधुनिक समस्याओं के चित्रण के साथ-साथ वैदेशिक शिल्प को पूरी तरह से अपना लिया गया है। अतः रचना चमत्कार को अनेक रूपों में ग्रहण करके आधुनिक साहित्य पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक साहित्य में प्राचीन और अर्वाचीन प्रवृत्तियों का अभूतपूर्व समन्वय है। हमारे देश का साहित्यकार अपनी संस्कृति को पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध में भी नहीं भुला सका है। रामापाणिवाद के 'कृष्ण चरित' नामक काव्य में गोपियाँ वन के वृक्षों से कृष्ण का पता पूछती हुई प्रेम की प्रगाढ़ता का सुन्दर परिचय देती हैं—

अशोकवृक्ष त्वं ब्रूहि सशोकभारा नो ऽद्यैव।
किमम्बुजाक्षो दृष्टोऽच समीक्षितश्चेदाख्याहि ॥
कंकणकाञ्चीकेयूर कुण्डलहारानङ्गेषु।
संकलयन् कोऽप्यारक्तपंकजनेत्रो दृष्टो नु ॥

आधुनिक साहित्य में छन्द-विधान पद्य के क्षेत्र में विस्तृत होता जा रहा है। यहाँ तक कि गद्य-काव्य भी साहित्यिक विधा के रूप में विकसित होकर अपना अलग अस्तित्व बना चुका है। गद्य के क्षेत्र में आशातीत प्रगति हुई है। यदि आधुनिक साहित्य को 'गद्य-काल' नाम से अभिहित किया जाय तो प्रवृत्तिगत रूप में किसी को कोई आपत्ति न हो सकेगी। वस्तुतः आधुनिक संस्कृत-साहित्य विभिन्न भाषाओं के साहित्य की भाँति विविध प्रवृत्तियों को अपनाता हुआ सतत प्रवाहिनी धारा के समान अग्रसर हो रहा है।

शास्त्रीय साहित्य

(Classical Literature)

प्राचीन काल में कला, विज्ञान और सामाजिक विज्ञान को शास्त्रीय साहित्य के अन्तर्गत रखने की परम्परा रही है। हम कला के अन्तर्गत व्याकरण तथा अलंकार शास्त्र को गिन सकते हैं। विज्ञान के अन्तर्गत आयुर्वेद, गणित तथा ज्योतिष को गिना जाता है तथा सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा तन्त्र जैसे विषयों को गिना जाता है।

व्याकरण शब्द-रचना तथा वाक्य-रचना के आधार भाषा को शासित करती है, इसलिए व्याकरण को एक शास्त्र माना गया है। व्याकरण का पहला प्रामाणिक ग्रन्थ पाणिनि द्वारा रचित 'अष्टाध्यायी' है। आचार्य पतंललि का 'महाभाष्य', आचार्य कात्यायन का 'वार्तिक' तथा आचार्य भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय' व्याकरण-शास्त्र के प्रमुख ग्रंथ हैं।

काव्य या साहित्य को शासित करने के लिए अलंकारशास्त्र की रचना हुई। आचार्य भरत का 'नाट्यशास्त्र' अलंकारशास्त्र का जनक माना जाता है। अलंकार-शास्त्र में छः सम्प्रदाय प्रसिद्ध रहे हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं-रस-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय तथा औचित्य-सम्प्रदाय। रस-सम्प्रदाय में रस को काव्य की आत्मा मानकर काव्य को रसात्मक बनाने पर जोर दिया, ध्वनि-सम्प्रदाय में ध्वनि को काव्य का प्राण मानकर ध्वनि-काव्य को उत्तम काव्य कहा गया; अलंकार-सम्प्रदाय में काव्य का मूल तत्व अलकार सिद्ध किया गया; वक्रोक्ति सम्प्रदाय में वाग्विदग्धता को काव्य का सर्वस्व माना गया; रीति-सम्प्रदाय में विशिष्ट पद-रचना को काव्य की आत्मा घोषित किया गया; औचित्य सम्प्रदाय में समस्त काव्य-तत्त्वों के उचित प्रयोग को काव्यशास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया गया।

प्राचीन काल के वैज्ञानिक साहित्य को भी शास्त्रीय साहित्य माना गया है। क्रमबद्ध ज्ञान के रूप में आयुर्वेद, गणित तथा ज्योतिष को शास्त्र कहा गया। प्राचीन भारत का आयुर्वेद चरक जैसे विद्वानों के विचार मन्थन के कारण शास्त्रीय रूप

प्राप्त कर सका। वराहमिहिर तथा लोकमान्य तिलक जैसे ग्राचार्यों ने ज्योतिष को तथा श्रीधराचार्य एवं ग्राचार्य भास्कर के कारण गणित को शास्त्रीय रूप प्राप्त हुग्रा।

सामाजिक विज्ञान के रूप में दर्शनशास्त्र सहज ज्ञान की समीक्षा के ग्राधार पर समाज को प्रकृति ग्रौर निवृत्ति के माध्यम से शासित करता रहा है। इसी प्रकार धर्माचरण के ग्राधार पर धर्मशास्त्र, राजनीतिक विवेचन के ग्राधार पर ग्रर्थशास्त्र तथा गूढ़ साधना के ग्राधार पर तन्त्र ने समाज शासित रखा है। ग्रत: ये सब सामाजिक विज्ञान हैं।

प्राचीन भारत का शास्त्रीय साहित्य संस्कृत भाषा में ही सृजित हुग्रा, इसलिए संस्कृत साहित्य के इतिहास में शास्त्रीय साहित्य को स्थान देकर संस्कृत के इतिहास को साहित्यिक विधाग्रों तक ही परिसीमित नहीं रखा गया है। यहाँ हम शास्त्रीय साहित्य का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

दार्शनिक साहित्य
(Philosophical Literature)

शास्त्रीय साहित्य में दार्शनिक साहित्य का विशिष्ट स्थान है। भारतीय वाङ्मय में प्रारम्भिक काल से ही दर्शनशास्त्र की प्रधानता रही है। सृष्टि में जितना भी रहस्य है तथा संसार का एक सुनिश्चित प्रवाह विभिन्न विचारको को जिस-जिस रूप में प्रतीत हुग्रा है; वही दर्शनशास्त्र का विषय बना है। 'दृश' धातु में 'ल्युट' प्रत्यय के योग से 'दर्शन' शब्द निष्पन्न हुग्रा है। 'दर्शन' का ग्रर्थ है—विशिष्ट दृष्टि या सहज ज्ञान। ग्रत: दर्शनशास्त्र की परिभाषा यही हो सकती है—सहज ज्ञान की समीक्षा ही दर्शन है। सहज ज्ञान की समीक्षा का ग्राधार प्रत्यक्ष जगत ही है। प्रत्यक्ष का क्षेत्र प्रतीति तक पहुँचता है। सुख-दुःखात्मक जगत को जीवन के साथ जोड़ने के लिए समय-समय पर ग्रनेक परिकल्पनाएँ हुई हैं। ऐसी सभी विचारधाराग्रों को दुःख मुक्ति से जोड़ा गया है। इसीलिए मनुस्मृति में यथार्थ ज्ञान को सभी कर्मों के प्रपंच से छूटने का कारण बताया गया है तथा दर्शन के ग्रभाव में संसार में भटकना पड़ता है यही सिद्ध किया है।[1] इसी रहस्य को ग्राधारभूत बनाकर दर्शनशास्त्र का विविधमुखी विकास हुग्रा। प्राचीन युग में वैदिक साहित्य को ईश्वर की वाणी के रूप में प्रसिद्ध किया गया। वैदिक युगीन सत्य को ग्रागे चलकर ग्रनेक ग्राडम्बरों से परिपूर्ण कर दिया गया। ग्रतएव वेदों के प्रति ग्रनास्था का भाव भी जाग्रत हुग्रा। वैसे तो प्रारम्भिक युग का व्यक्ति रोटी, कपड़ा ग्रौर मकान को लेकर ही सभ्यता की ग्रोर बढ़ा होगा। ग्रतः भौतिकवादी दर्शन ग्राध्यात्मवादी दर्शन से कहीं ग्रधिक प्राचीन रहा होगा, यह तथ्य मनोवैज्ञानिक सत्य है। भौतिकवादी एवं वेदवादी दर्शनों का पर्याप्त द्वन्द्व भी काल की धारा की देन है। भारतीय दर्शन के विकास में उसी को

1 सम्यक् ज्ञान सम्पन्न: कर्मभिर्न बद्ध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ —मनुस्मृति

स्पष्ट करना हमारा प्रधान लक्ष्य है। यथार्थतः वेदवादी एवं वेद विरोधी दर्शनों का विकास ही दर्शनशास्त्र की चरम निधि है। हम उसे यहाँ संक्षेपतः प्रस्तुत कर रहे हैं।

आस्तिक दर्शन

वेदवादी दर्शन को आस्तिक दर्शन के रूप में जाना जाता है 'नास्तिको वेद निन्दकः'—अर्थात् वेद की निन्दा करने वाले को नास्तिक कहते हैं। अतः वेद की प्रशंसा करने वाले को आस्तिक कहते हैं, यह स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है। वेद की प्रशंसा का केवल यही अर्थ है कि वैदिक साहित्य को प्रमाण-रूप में मानकर सहज ज्ञान की समीक्षा करने वाले दर्शनों को आस्तिक दर्शन कहा जाता है। यदि ईश्वरवाद को आस्तिकता माना जायेगा तो कई आस्तिक दर्शन भी नास्तिक सिद्ध हो जाएँगे। अतएव आस्तिकता वेदवाद का ही दूसरा नाम है। भारतीय दर्शन में छः दर्शनों—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त को आस्तिक दर्शन के रूप में जाना जाता है। आस्तिक दर्शन षड्दर्शन के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। यहाँ हम आस्तिक दर्शन के स्वरूप एवं विकास का इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं।

सांख्य दर्शन

सांख्य को प्राचीनतम दर्शन माना जाता है। 'सांख्य' शब्द गणना एवं ज्ञान का वाचक है। अतः जिस दर्शन में त्रिविध दुःख—दैहिक, दैविक तथा भौतिक के निवारण के लिए आठ सिद्धियों, नौ ऋद्धियों, पंच क्लेशों की गणना ज्ञानमार्ग के स्तर पर की गई है, वही सांख्य दर्शन के रूप में अभिधेय है।

सांख्य दर्शन की उत्पत्ति (700 ई. पू.)

पौराणिक कपिल[1] ने 'सांख्यसूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना करके सांख्य दर्शन का आविर्भाव किया। प्रस्तुत दर्शन की उत्पत्ति सहज ज्ञान की समीक्षा के आधार पर 'सत्कार्यवाद' को लेकर हुई। कपिल ने जीवात्मा को 'पुरुष' के रूप में तथा प्रकृति को 'प्रधान' के रूप में प्रस्तुत करके सांख्य को द्वैतवादी दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया। सांख्यकार का कोई ग्रन्थ मौलिक रूप में उपलब्ध नहीं है।[2] परन्तु आधुनिक 'सांख्यसूत्र' को कपिल के विचारों का आधारभूत ग्रन्थ मानकर सांख्य के उद्गम को स्वीकार किया गया है। पुरुष और प्रधान को स्वीकार करके सांख्य ईश्वर के विषय में कोई संकेत नहीं कर पाता। कपिल ने अपने दर्शन द्वारा जनता को जो दिशा-बोध दिया, वही सांख्य दर्शन का उद्गम माना जाता है।

1 भागवत, 3/21/32 तथा—रामचरितमानस, बालकाण्ड

स्वयंभुव मनु अरु सतरूपा। जिनते भई नर सृष्टि अनूपा॥
देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम के प्रिय नारी॥
आदिदेव प्रभु दीन दयाला। जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला॥
सांख्य शास्त्र जिन प्रगट बखाना। तत्व विचार निपुन भगवाना॥

2 उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास–2, पृ. 106.

सांख्यकार ने प्रकृति और पुरुष के संयोग से महतत्त्व को अद्भुत माना। 'महतत्त्व' को बुद्धि-तत्त्व के रूप में जाना जा सकता है। इसी बुद्धि तत्त्व के सतोगुणी अंश से सत्वप्रधान अहंकार का जन्म माना तथा तमः प्रधान अंश से तमोमय अहंकार का। सत्वप्रधान अहंकार से पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा एक अभयेन्द्रिय की उत्पत्ति स्वीकार की गई है। तमोमय अहंकार से पंचमहाभूतों—आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के गुण या तन्मात्रा स्वरूप क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध को उद्भूत माना। पंच तत्त्वों से निर्मित सृष्टि के प्रधान कारण के रूप में पंचतन्मात्राओं को महत्त्व दिया गया। सांख्यकार ने सभी गुणों तथा दोषों का विश्लेषण तर्क प्र णाली को अपनाकर किया जिससे उसे ज्ञानमार्गी दर्शन के रूप में आविर्भूत दर्शन स्वीकार किया गया।

सांख्य दर्शन का विकास

सांख्य दर्शन के विकास का श्रेय कपिल की शिष्य-परम्परा में हुआ। 600ई. पूर्व में रचित 'सांख्यसूत्र' को आधार बनाकर विभिन्न ऋषियों ने सांख्य को अपने-अपने ग्रन्थों में स्थान दिया। 600 ई. पू. से 1600 ई. तक सांख्य का विकास साहित्यकार और दर्शन के ग्रन्थों के रूप में होता रहा है। ऋग्वेद का 'नासकीय' सूक्त कपिल के विचारों को स्पष्ट करने वाला माना गया है। इस सूक्त में सृष्टि की अनिर्वचनीयता का संकेत करके सत्तत्त्व को अवश्य स्वीकार कियाहै। अतः कपिल का 'सत्कार्यवाद' ऋग्वेद में भी प्रतिबिम्बित है। उपनिषद् साहित्य में जो सांख्य-तत्त्व विकीर्ण है, उन्हीं को ध्यान में रखकर कपिल की शिष्य-परम्परा में आधुनिक 'सांख्यसूत्र' का प्रणयन हुआ है। यही ग्रन्थ गीता जैसे दार्शनिक ग्रन्थ को किसी न किसी रूप में प्रकाशित करने वाला रहा है। इसके अतिरिक्त विन्ध्यवासी, ईश्वर कृष्ण, गौडवाद, माठराचार्य प्रभृति दार्शनिकों ने सांख्य दर्शन के विकास में योगदान दिया, जिनका यहाँ संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

पंचम शती ई॰ पू॰ में महाभारत तथा गीता नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हो चुके थे। गीता में 'सांख्य' शब्द का प्रयोग ही नहीं हुआ अपितु सांख्य के सिद्धान्तों को भी अनेक रूपों में स्पष्ट किया गया है। गीता में सांख्य और योग को तत्त्वतः एक ही कहा गया है। जो व्यक्ति सांख्य और योग को तत्त्वतः पृथक् मानता है, वह उक्त दर्शनों के रहस्य से परिचित नहीं है।[1] गीता में 'सांख्य' के ज्ञानमार्ग का विस्तृत रूप में प्रतिपादन हुआ है। सांख्यसूत्र में प्रोक्त कर्मसिद्धि के तत्त्व—अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टाएँ तथा दैव को गीता में स्थान दिया गया है।[2] सांख्य में सभी कार्यों को प्रकृतिसिद्ध माना गया है। गीता में भी यही स्पष्ट किया गया है कि जो व्यक्ति अपने आपको कार्य का कर्त्ता मानता है, वह अहंकार से लिप्त होने के कारण विमूढ़ है—

1 सांख्ययोगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकं सांख्य च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥—गीता, 2/4-5

2 वही 18/14

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥[1]

गीता के दूसरे अध्याय में दुःखों से मुक्ति के रूप में सांख्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। आत्मा की अविनश्वरता तथा प्रकृति के गुण—सत्, रज तथा तम के स्वाभाविक उदय एवं विकास को समझने से व्यक्ति को यथार्थ ज्ञान होता है तथा व्यक्ति उसी ज्ञान के आधार पर दुःख विमुक्त होता है।[2] गीता में सम्पूर्ण ज्ञानमार्ग का उद्भव एवं उद्गम स्रोत 'सांख्य' को ही कहा है।[3] गीता में सांख्य के स्वभाववाद का भी अनुपालन किया गया है। अतः सांख्य दर्शन के प्रभाव को ग्रहण करके उसे एक आस्तिकवादी दर्शन सिद्ध करने में गीता का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

442 ई. के गुप्तकालीन शिलालेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत को एक लाख श्लोकों के वृहदाकार ग्रन्थ का श्रेय पंचम शताब्दी के मध्य तक प्राप्त हो चुका था। इसलिए यदि यह कह दिया जाय कि सांख्य दर्शन को कपिल के पश्चात् चौथी शताब्दी तक विकसित रखने का श्रेय गीता को ही रहा है तो कोई अत्युक्ति न होगी। फिर भी गीता के माध्यम से सांख्य की कीर्ति का विकास हुआ, उसके तात्विक विवेचन पर न तो पृथकतः प्रकाश डाला गया और न ही अलग से सांख्य का विचारक ही हुआ। तीसरी शती में कोई विन्ध्यवासी नामक विचारक हुए, जिन्होंने सांख्य दर्शन से सम्बद्ध कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा, परन्तु सम्प्रति उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। बौद्ध भिक्षु परमार्थ ने विन्ध्यवासी या रुद्रिल के विषय में यहाँ तक कह डाला है कि उन्होंने बौद्ध आचार्य वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को अयोध्या में शास्त्रार्थ करके पराजित किया था। अतः विन्ध्यवासी ने बौद्धों के असत्कार्यवाद का खण्डन करके सांख्य के सत्कार्यवाद का ही मण्डन किया। इस प्रकार विन्ध्यवासी ने सांख्य के विकास में योगदान अवश्य दिया।

चौथी शताब्दी में बौद्धाचार्य वसुबन्धु ने सांख्य का खण्डन करके बौद्ध मत का खण्डन किया था। ईश्वर कृष्ण ने आचार्य वसुबन्धु के मत का खण्डन करने के लिए 'सांख्यकारिका' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में केवल 78 कारिकाएँ हैं। सांख्यकारिका को सांख्यदर्शन की उच्चतम कृति माना जाता है। आचार्य ईश्वर कृष्ण ने महर्षि कपिल द्वारा प्रतिपादित पच्चीस तत्वों को वैज्ञानिक आधार देकर सांख्य दर्शन का विकास किया। 'सांख्यसूत्र' में त्रिगुणमयी माया को एक तत्व के रूप में गिना गया। उस माया या प्रकृति से महतत्त्व की उत्पत्ति हुई। महत् से अहंकार का जन्म हुआ। इस प्रकार अहंकार तक तीन तत्त्व गिनाते गये। अहंकार से पंचतन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप रस तथा गन्ध को उद्भूत बताया तथा उनसे पंचमहाभूतों को उत्पन्न बताया गया। आँख, कान, नाक, रसना, तथा त्वचा को

1 वही 3/27
2 वही 2/12-17
3 गीता. 3/3

ज्ञानेन्द्रिय तथा हाथ, पैर, वाक्, उपस्थ एवं वायु को कर्मेन्द्रिय सिद्ध करके मन को उभयेन्द्रिय सिद्ध कर दिया गया। उपर्युक्त चौबीस तत्त्वों में 'पुरुष' को जोड़कर तत्त्व-संख्या पच्चीस मानी गई। ईश्वर कृष्ण ने भी इसी संख्या को बरकरार रखा। उन्होंने मूल प्रकृति को 'प्रधान' के रूप में रखा। कपिल की भांति ईश्वरकृष्ण ने भी प्रधान को निर्विकार कहा। महतत्त्वादि को प्रकृति के सात विकारों—महतत्त्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के रूप में प्रस्तुत किया। सोलह विकारों के रूप में ग्यारह इन्द्रियों तथा पंचमहाभूतों को प्रस्तुत किया। पच्चीसवें तत्त्व के रूप में पुरुष को रखा। ईश्वरकृष्ण ने प्रधान को अनेक गुणों से विभूषित सिद्ध किया। सांख्यकारिका में प्रधान के स्वरूप को विकसित करने के लिए निम्नलिखित लक्षण प्रतिपादित किये हैं। प्रधान को अनादि तत्त्व सिद्ध करके, उसे 'स्वतोध्यक्त' सिद्ध कर दिया है चूंकि प्रधान एक अमर तत्त्व है, अतः उसे 'नित्य' सिद्ध किया गया है। प्रधान मूल प्रकृति के रूप में एक ही है, अतः उसका तीसरा लक्षण 'एक' माना गया है। प्रधान को निरपेक्ष या स्वतन्त्र तत्त्व सिद्ध करके 'निराश्रय' सिद्ध किया गया है। विधर्मी अवयवहीन प्रधान को 'निरवयव' भी कहा गया है। प्रधान को स्वतन्त्र सिद्ध करके 'स्वतन्त्र' लक्षण भी दिया गया है। मूल प्रकृति सदैव अदृश्य रहती है, अतएव उसे 'अव्यक्त' कहा गया है। सत्, रज तथा तम नाम त्रिगुण से युक्त होने के कारण प्रधान को 'त्रिगुणमयी' कहा गया है। सृष्टि रचना के रूप में प्रधान को 'प्रसवधर्मिणी' कहा गया है। प्रकृतिबद्ध जीवों को मोक्ष दिलाने में भी प्रधान का विशेष हाथ रहता है, अतः उसे 'पुरुष की सहायिका' भी बताया गया है।

ईश्वरकृष्ण ने कपिल द्वारा प्रतिपादित 'पुरुष' के स्वरूप को भी स्पष्ट किया। उन्होंने पुरुष को 'साक्षी' के रूप में जीव के भोगों का साक्षी कहा है। विशुद्ध पुरुष की निर्लिप्तता सिद्ध करके उसे भोगास्वाद के रूप में 'मध्यस्थ' कहा है। पुरुष को 'द्रष्टा', 'अकर्त्ता', 'चेतन', 'गुणातीत', 'विवेकशील', 'अप्रसवधर्मी' तथा 'अव्यक्त' सिद्ध किया गया है। ईश्वरकृष्ण ने सभी जीवों को युगपत् चेष्टा न करने के आधार पर पुरुष बहुत्व का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। पुरुष का अबन्धत्व सिद्ध करते समय ईश्वर कृष्ण ने सांख्य को ज्ञानमार्ग की कसौटी पर कस दिया है। हम निम्नलिखित उदाहरण को वेदान्तवादियों के लिए भी एक महान् प्रेरणा का स्रोत मान सकते हैं—

तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया: प्रकृतिः॥

ईश्वर कृष्ण ने सत्कार्यवाद को स्पष्ट करने के लिए भी सांख्यकारिका में बहुत कुछ कह दिया है। 'सांख्यकारिका' में सत्कार्यवाद का स्वरूप असदकरण, उपादान ग्रहण, सर्वसंभवा-भाव, शक्तस्य शक्यकरण तथा कारणभाव नामक पाँच कारणों को प्रस्तुत किया है।[1] 'सांख्यकारिका' में योगदर्शन में प्रसिद्ध अविद्या,

1 असदकरणादुपादानग्रहणात सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकारणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ —सांख्यकारिका, 9.

अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश नामक पाँच तत्त्वों को तम, मोह, महामोह, तामिस्त्र तथा अन्धतामिस्त्र के नाम से पुकारा है। 'सांख्यसूत्र' के सभी तत्त्वों की गणना का कार्य सांख्यकारिका में हुआ है।

'सांख्यकारिका' के सुप्रसिद्ध भाष्यकारों के रूप में आचार्य माठर तथा आचार्य गौडपाद उल्लेखनीय हैं। ये दोनों ही आचार्य छठी शताब्दी की उपज हैं। आचार्य माठर की 'माठरवृत्ति' सांख्यदर्शन की विलक्षण कृति है। आचार्य गौडपाद ने भी सांख्यदर्शन के विकास में प्रशंसनीय योगदान दिया है।

आचार्य कपिल के दो ग्रन्थों—'सांख्यषडाध्यायी' तथा 'तत्त्वसमास' को मिलाकर ही 'सांख्यसूत्र' बना है। इन दोनों ही ग्रन्थों के अनेक व्याख्याकार हुए हैं।

सांख्य षडाध्यायी के व्याख्याकार

सांख्य षडाध्यायी के व्याख्याकारों में अनिरुद्ध, महादेव तथा विज्ञानभिक्षु उल्लेखनीय हैं। डॉ. गार्पे ने अनिरुद्ध का स्थितिकाल पन्द्रहवी शताब्दी स्वीकार किया है। परन्तु अब यह मत अप्रामाणिक माना जाता है, क्योंकि 1300 ई. में होने वाले महादेव वेदांती ने अनिरुद्ध के 'अनिरुद्धवृत्ति' नामक ग्रन्थ को आधार बनाकर 'सांख्यसूत्र' के ऊपर 'वृत्तिसार' लिखा। दर्शनशास्त्र के विभिन्न विद्वानों ने विज्ञान भिक्षु का स्थितिकाल 1550 ई. स्वीकार किया है। संस्कृत साहित्य के इतिहासकार कीथ ने इस समय-सीमा को एक शताब्दी आगे बढ़ाकर विज्ञान भिक्षु का समय 1650 ई. माना है। पी. के गोड़े ने अनेक विद्वानों के मतों की मीमांसा करके यही सिद्ध किया है कि विज्ञान भिक्षु 1525--1580 ई. के बीच रहे होंगे। शास्त्री सांख्यदर्शन के इतिहास में 'सांख्यषडाध्यायी' के प्रमुख व्याख्याकारों का क्रम इस प्रकार रखा है—

अनिरुद्ध : 1100 ई. के लगभग
महादेव : 1300 ई. के लगभग
विज्ञानभिक्षु : 1400 ई. के लगभग

स्वामी दयानन्द ने आचार्य भागुरि को भी सांख्यसूत्र का भाष्यकार माना है।

तत्त्वसमास के व्याख्याकार

आचार्य कपिल के 'तत्त्वसमाससूत्र' पर भी अनेक विद्वानों ने व्याख्याएँ लिखीं। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ने 1918 ई. में 'तत्त्वसमाससूत्र' से सम्बद्ध व्याख्याओं को प्रकाशित किया है। उक्त संकलन में व्याख्या-क्रम इस प्रकार रहा है—

महादेव	:	सर्वोपकारिणी टीका	(1300 ई.)
भावागणेश	:	तत्वयाथार्थ्यदीपन	(1400 ई.)
मिपानन्द	:	सांख्यतत्त्वविवेचन	(1700 ई.)
केशव	:	सांख्यतत्त्व प्रदीपिका	(1700 ई.)

सांख्यदर्शन को विकसित करने में वेदान्दविद् जगद्गुरु शंकराचार्य का भी योगदान है। जगद्गुरु ने 'सांख्य' शब्द को केवल गणना का वाचक न मानकर ज्ञान

का भी वाचक माना है। 'जयमंगला' नामक ग्रन्थ को शंकराचार्य कृत माना जाता है। आचार्य कपिल के 'सांख्यसूत्र' को आधार बनाकर जो तत्त्व-मीमांसा हुई, उससे सांख्य दर्शन का तो विकास हुआ, परन्तु अन्य दर्शनों को विकसित होने की अमूल्य प्रेरणाएँ भी मिली। सांख्य की पदार्थ मीमांसा को प्राय: सभी दर्शनों ने किंचित् हेर-फेर से अपनाया है। सांख्य का ज्ञानमार्ग विश्व के सभी दार्शनिकों के लिए प्रेरणा का स्रोत रहा है।

कपिल का सांख्यसूत्र

इस समय जो 'सांख्यसूत्र' उपलब्ध है, उसी को कपिल की कृति मान लिया गया है। इस ग्रन्थ में छः अध्याय हैं। इस ग्रन्थ मे पदार्थ विवेचन को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। यहाँ हम 'सांख्यसूत्र' के तत्त्व विवेचन को संक्षेपत: प्रस्तुत कर रहे हैं।

मूल प्रकृति को 'प्रधान' नाम दिया गया है। यह पद्धति अनादि होने के कारण किसी की विकृति नहीं है। सत्त्व, रज तथा तम नामक त्रिगुण की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है। प्रकृति का सत्त्वगुण सुखात्मक, रजोगुण दु:खात्मक तथा तमोगुण मोहात्मक माना गया है। प्रकृति को स्वयंसिद्ध तथा अनादि मानकर तत्त्व-विवेचन को अनवस्था दोष से शून्य कर दिया गया है।

'सांख्यसूत्र' में दूसरा तत्त्व 'पुरुष' है। इसी को जीवात्मा के नाम से जाना जा सकता है। पुरुष चेतन है, जड़ नहीं। पुरुष सृष्टि के पदार्थों का भिन्न-भिन्न रूपों में उपभोग करने के लिए है। पुरुष के सन्दर्भ में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वह भोगों का भोग करने के कारण भोक्ता है। इसीलिए पुरुष को सुख-दु:ख का भागी माना गया है। पुरुष ज्ञान के अभाव में संसार में संसरण करता है। जब उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है तो वह यही अनुभव करता है कि प्रकृति ही संसरण रहीं है, वह तो नित्य मुक्त है।

सांख्य में सृष्टि के निर्माण को 'सत्कार्यवाद' के ऊपर आधारित किया है। प्रकृति सत् तत्त्व है, क्योंकि असत् तत्त्व से सत् तत्त्व का निर्माण असम्भव है। अनादि कालीन प्रकृति की साम्यावस्था में पुरुष के संयोग से विकार उत्पन्न होता है। पहले महत्तत्त्व उत्पन्न होता है तथा तदनन्तर अहँकार। अहँकार के सत् तत्त्व से पंच कर्मेन्द्रिय तथा पंच ज्ञानेन्द्रिय एवं एक उभयेन्द्रिय, अर्थात् मन की उत्पत्ति होती है। अहँकार के तमप्रधान तत्त्व से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध नामक पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। पंच तन्मात्राओं से पंचमहाभूत आविर्भूत होते हैं। इस प्रकार से सृष्टि-रचना में प्रकृति चौबीस रूपों में तथा पुरुष एक चेतन तत्त्व के रूप में संयुक्त होकर योगदान करते हैं।

सांख्य दर्शन में निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति का आधार ज्ञान माना गया है। 'ज्ञानान्ऋते न मुक्तिः'—अर्थात् ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं मिलता। इसी प्रकार से 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'—अर्थात् समाधि, सुषुप्ति एवं मोक्ष में ब्रह्माकारता का अनुभव होता है। निर्वाण को आनन्द का धाम माना गया है।

अर्वाचीन सांख्य में ईश्वर का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है, जो हम निर्वाण के सन्दर्भ में स्पष्ट कर चुके हैं। कपिल का 'सांख्यसूत्र' विभिन्न दर्शनों का प्रेरणा-स्रोत रहा है। सांख्य की तत्त्व विवेचन प्रणाली की वैज्ञानिकता का दर्शन-जगत् में अत्यधिक आदर हुआ है।

योग दर्शन

पंतजलि का 'योगसूत्र,' योग दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है। द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के इस ग्रन्थ में चित्त की वृत्तियों के निरोध से सम्बद्ध सहज ज्ञान की समीक्षात्मक विद्या को योग दर्शन कहा गया है।

योग दर्शन की व्युत्पत्ति

ज्ञाननिष्ठा स्वरूप योग की परम्परा वैदिक युग से ही चली आ रही है। ईश्वर ने सूर्य नामक ऋषि को योग का रहस्य समझाया था। सूर्य ने उसी यौगिक रहस्य को अपने पुत्र मनु को समझाया। मनु ने योग-तत्त्व का वर्णन अपने पुत्र इक्ष्वाकु के सम्मुख किया।[1] बीच में योग विद्या का विलोप-सा हो गया था। परन्तु अनेक राजर्षियों ने योग के रहस्य को यथासमय समझा। उसी रहस्यपूर्ण योग तत्त्व को भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सम्मुख प्रस्तुत किया। 500 ई. पू. में गीता ने योग दर्शन को सांख्य दर्शन के साथ सम्पृक्त करके उसकी प्राचीनता सिद्ध कर दी। उपनिषदों में योगविद्या का सुन्दर निदर्शन है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में योग के चमत्कारों का सुन्दर वर्णन हुआ है। पुराणों में शंकर को आदि देव कहने के साथ-साथ उन्हें योगिराज भी सिद्ध किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर ने ज्ञानमार्ग का प्रवर्तन किया था। शिवपुराण में शंकर का देवताओं के विरुद्ध रोमांचक संघर्ष प्रस्तुत किया गया है। कहा जाता है कि शंकर के आडम्बर विहीन योगमार्ग से आर्य एवं अनार्य अत्यधिक प्रभावित हुए थे। देववंश की भोगवागिता के विरोध में शंकर का योगमार्ग प्रसिद्धि को प्राप्त होता चला गया। देव और देवेतर जातियों में समन्वय स्थापित करने के लिए प्रयाग में एक सभा आयोजित की गई। शंकर के श्वसुर दक्ष को सभापति बनाया गया। सभापति के स्वागत में शंकर ने दो शब्द तक न कहे। शंकर ने समन्वय न होने की स्थिति देखकर सभा से बहिर्गमन किया। शंकर के अनुयायी नन्दिकेश्वर ने देव संस्कृति के पक्षधरों को दण्ड देने का उस समय प्रण भी कर डाला, जबकि भृगु, पूषा आदि ने शंकर का उपहास किया। कालान्तर में शंकर के विरोध हेतु उनके हरिद्वार स्थित आश्रम के पास ही कनखल नामक स्थान पर देवयज्ञ सम्पादित किया गया। उस यज्ञ में दक्ष की पुत्री तथा शंकर की पत्नी सती ने शंकर का अपमान समझकर यज्ञ की ज्वाला में आत्मदाह कर डाला। शंकर ने वीरभद्र नेतृत्व में ज्ञानमार्गी राजाओं को एकत्रित करके देवयज्ञ का विध्वंस करा दिया। इस घटना

1 गीता, 4/1

से यह स्पष्ट हो जाता है कि शंकर निश्चयतः योगवादी थे। योग, सांख्य, वेदान्त आदि सभी दर्शन ज्ञानमार्ग के पोषक एवं अनुगामी हैं। नाथ सम्प्रदाय के भक्त भी शंकर को आदिनाथ मानते हैं। शंकर को समाधि-सिद्ध व्यक्ति के रूप में पुराणों में अनेक बार याद किया गया है। अतः आडम्बरों का विरोध करने के लिए एक वैज्ञानिक मार्ग की आवश्यकता पड़ी। अतएव योग दर्शन का विकास उसी परम्परा में हुआ। वेद, आरण्यक, उपनिषद् तथा गीता में जो योग-तत्त्व विकीर्ण है, उसी को संग्रहीत करके आचार्य पंतजलि ने 'योगसूत्र' को दार्शनिक स्तर पर प्रस्तुत किया। ई. पू. द्वितीय शती में पतंजलि ने योग के आठ अंगों को आधार मानकर समस्त विभूतियों के प्रति वैराग्य रखकर कैवल्य को प्राप्त करने के लिए योग-तत्त्व को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया।

योगदर्शन का विकास

ईसापूर्व छठी शताब्दी में गौतम बुद्ध के अष्टांग योग का उदय यह सिद्ध करता है कि वैज्ञानिक साधना का पक्षधर योगदर्शन प्राचीन काल से ही विकासमान था। सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल भी योगविद्या के जानकार थे। योग से सम्बद्ध प्राचीन ग्रन्थों में वैदिक कालीन अंगिरा का 'योग-प्रदीप' प्रसिद्ध रहा है। पौराणिक युग त्रेता में रावण का दलन करने वाले श्रीरामचन्द्र के श्वसुर सीरध्वज जनक ने 'योग-प्रभा' नामक ग्रन्थ की रचना की। पौराणिक कश्यप ने 'योग-रत्नाकर' नामक ग्रन्थ की रचना करके योगदर्शन का विकास किया। सूर्यवंश के राजा रघु के समकालीन कौत्स ने 'योग-विलास' नामक योग-तत्त्व से सम्बद्ध ग्रन्थ की रचना की। शंकर के अनुयायी महर्षि मरीचि ने 'योगसिद्धान्त' की रचना की। आदि आर्य मनु के पिता सूर्य ने 'योग-मार्तण्ड' नामक ग्रन्थ लिखा। आचार्य संजय का 'प्रदर्शन योग' ग्रन्थ भी योगशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ रहा है। परन्तु खेद का विषय यह है कि उपर्युक्त सभी योगशास्त्रीय ग्रन्थ उल्लेख के रूप में योगशास्त्र के इतिहास की परम्परा के पोषक हैं। आज उनके सिद्धान्त 'महाभारत', 'गीता', 'पुराणसंहिता' आदि में बिखरे हुए मिलते हैं।

पतंजलि का योगसूत्र

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में महर्षि पतंजलि ने योग-तत्त्व को सूत्रबद्ध करके 'योगसूत्र' नामक प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना की। 'योगसूत्र' ग्रन्थ को चार भागों में बाँटा गया है। ये चार भाग इस प्रकार हैं—1. समाधिपाद, 2. साधनपाद, 3. विभूतिपाद तथा 4. कैवल्यपाद।

समाधिपाद में योग को परिभाषित करके योग के रहस्य की ओर आगे बढ़ा गया है। चित्त की वृत्तियों को निरोध करने का नाम योग बताया गया है।[1] जिस समय पुरुष या द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तो उसे स्वरूपाकारता

1 योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। —योगदर्शन, 1/2

की ही प्रतीति होती है ।[1] परन्तु समाधि तोड़ देने पर व्यक्ति को प्रवृत्ति के अनुरूप अपना स्वरूप प्रतीत होने लगता है ।[2] समाधिपाद में योगमार्ग पर चलने के लिए आवश्यक श्रद्धा को जगाने का भी उपक्रम है । प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम नामक तीन प्रमाणों का भी सीधा-साधा विवेचन किया गया है । इसी पाद या अध्याय में ईश्वर के स्वरूप को भी प्रतिपादित किया गया है । योगदर्शन का ईश्वर क्लेश, कर्म, भाग्य तथा साँसारिक हलचलों से नितान्त अछूता पुरुष ही है ।[3] ईश्वर के विषय में विवेचन करते समय पतंजलि ने स्वभाववाद का आधार लिखा है । पतंजलि प्रतिपादित ईश्वर पूर्वकालिक गुरुजनों का भी गुरु कहा गया है । परन्तु वह सृष्टि का कर्ता पालक तथा संहारक नहीं बताया गया है । 'समाधिपाद' अध्याय में समाधि के लिए आवश्यक मनःस्थिति के निर्माण पर बल देकर सबीज तथा निर्बीज समाधि की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है । निर्बीज समाधि को पुरुष या आत्मा के यथार्थ आनन्द का घर कहा है ।

'योगसूत्र' का दूसरा पाद साधन है । साधनपाद में योग के साधनों या अंगों का विस्तार दिया हुआ है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण ध्यान तथा समाधि योग के अष्टाँग हैं । अविधा, अस्मिता, राग, द्वेप तथा अभिनिवेश नामक पंच क्लेशों को दूर करने के अष्टाँग योग आवश्यक है । तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान को 'क्रियायोग' नाम दिया गया है । यह क्रियायोग पंच क्लेशों को हलका बनाने में अत्यन्त सहायक है । अनित्य, अपवित्र तथा दुःख स्वरूप तत्वों को अमर, पवित्र तथा सुखरूप मानने को 'अविधा' कहा है ।[4] आत्म-दृष्टि तथा व्यक्ति-दृष्टि के भेद को 'अस्मिता' कहा है ।[5] सुख की प्रतीति के पीछे रहने वाले तत्त्व को 'राग' कहा जाता है ।[6] दुःखानुभूति के पीछे रहने वाले क्लेश को 'द्वेप' कहा जाता है ।[7] विवेकशीलों और अज्ञानियों को भयभीत करने वाले क्लेश को या मृत्यु-तत्त्व को 'अभिनिवेश' कहा है ।[8] क्लेशों के कारण संस्कारों का निर्माण होता है तथा संस्कारों के फलस्वरूप पुनर्जन्म होता है । इसी अध्याय में तीन प्रकार के दुःखों की चर्चा की गई है—1. परिणाम दुःख, 2. ताप दुःख, 3. संस्कार दुःख । त्रिगुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण अज्ञानियों को ही नहीं, विवेक शीलों को भी दुःख मिलता है ।[9] अत यह संसार दुखमय है । सभी दुखों का विनाश करना ही पुरुषार्थ है । अष्टांग योग का पहला साधन 'यम' है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा

1 वही, 1/3
2 वही, 1/4
3 वही, 1/24 (क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुष विशेष ईश्वर:)
4 योगदर्शन, 2/5;
5 वही, 2/6;
6 'सुखानुशयी राग:' वही, 2/7;
7 वही, 2/8;
8 वही, 2/9;
9 वही, 2/15;

अपरिग्रह नामक लक्षणों को पंच यम के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।[1] इनमें से एक लक्षण ही चरम सीमा पर पहुँचकर महाव्रत का रूप धारण कर लेता है ।[2] शुचिता, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान को 'नियम' कहा गया है ।[3] यम और नियमों के लाभों का भी वर्णन इसी पाद में किया गया है । अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा होने पर योगी के समीप के व्यक्ति सभी विरोधों को त्याग देते हैं ।[4] सत्य की प्रतिष्ठा होने पर योगी में शाप और वरदान देने की शक्ति आ जाती है । सुखपूर्वक एवं स्थिर बैठने को 'आसन' कहा गया है ।[5] बाह्य, अभ्यन्तर तथा स्तम्भवृत्ति के तीन प्राणायामों का भी विवेचन किया गया है ।[6] विषयों से मन को हटाने की वृत्ति को प्रत्याहार कहा गया है ।[7]

विभूतिपाद का श्रीगणेश 'धारणा' नामक योगांग से किया गया है । धारणा तथा ध्यान को समाधि के वाह्यांग बताकर तीनों के योग को 'संयम'[8] कहा गया है । समाधि की सिद्धि होने पर योगी को अनेक विभूतियों को प्राप्त करने का अवसर मिलता है । बल, बुद्धि, प्रकाश, सुधा-पिपासा से निवृत्ति दिलाने वाले उपायों का वर्णन करके अन्ततः योगी को उनसे भी विरक्त रहने का अनुदेश दिया गया है । विभूतिपाद में कैवल्य को पाने की सुदृढ़ भूमिका का वर्णन किया गया है ।

योगसूत्र का चौथा अध्याय कैवल्यपाद है । विभूतिपाद में ही सत्य और पुरुष की शुद्धिसमता को कैवल्य कह दिया गया है ।[9] जब योगी ध्यानजनित चित्त की स्थिति में आ जाता है तो उसके कर्म संस्कारों का क्षय होने लगता है । योगी के कर्म भी पाप-पुण्य से अतीत हो जाते हैं । योगी सर्वज्ञ होने पर भी कैवल्योन्मुख होने कारण धर्ममेघ समाधि की स्थिति में पहुँचकर क्लेशकर्मों से पूर्णतया निवृत्त हो जाता है ।[10] जब चैतन्य शक्ति-स्वरूप योगी त्रिगुणों से अतीत हो जाता है तो वह अपने केवल ज्ञान रूप में अवस्थित होकर कैवल्य को प्राप्त हो जाता है, पुरुषरूपता को प्राप्त कर लेता है ।[11]

योगदर्शन के अन्य ग्रन्थ—पातंजल योगसूत्रों पर व्यास नामक किसी व्यक्ति ने एक भास्य लिखा है । 'व्यास' एक उपाधिमूलक शब्द है । व्यास-भास्य में दशमलव गणना का संकेत है । दशमलव पद्धति का श्रीगणेश चौथी शताब्दी में हुआ । अतः

1 वही, 2/30
2 वही, 2/31
3 वही, 2/32
4 वही, 2/35
5 वही, 2/46
6 वही, 2/50
7 वही, 2/54
8 वही, 3/4
9 योगसूत्र, 3/55
10 वही, 4/30
11 वही, 4/34

व्यास चौथी शताब्दी की उपज माने जा सकते हैं। 'सांख्यकारिका' के प्रणेता ईश्वर कृष्ण का समय चौथी शताब्दी है। ईश्वर कृष्ण ने सांख्य के सन्दर्भ में योग के प्रकाशक व्यास को याद नहीं किया है। अतएव 'व्यास' ईश्वर कृष्ण का परवर्ती होना चाहिए। व्यास-भाष्य के आधार पर ग्यारहवीं शताब्दी में राजा भोज ने 'भोजवृत्ति' नामक योगशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्ववैशरदी' भी व्यास-भाष्य के ऊपर आधारित है। चतुर्दशम शताब्दी में विज्ञान भिक्षु ने 'योगवार्तिक' नामक ग्रन्थ की रचना की।

हठयोग भी योग की ही एक शाखा है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सम्प्रदाय' नामक पुस्तक में हठयोग के रहस्य का वर्णन किया है। हठयोग का आदि ग्रन्थ 'शिवसंहिता' माना जाता है। शिव को आदिनाथ भी माना गया है। नवीं शताब्दी में मत्स्येन्द्रनाथ की देखरेख में गुरु गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की। हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदि काल प्राथमिक रूप में नाथों के साहित्य की गरिमा से पूर्ण है। सरहपा, लुईपा आदि सन्तों ने भी योगदर्शन की परम्परा को विकसित किया है।

योगदर्शन में दूसरे शास्त्रों के तर्कों को खण्डित करने की स्थिति नाममात्र है। यह दर्शन अपने गन्तव्य की ओर आगे बढ़ता हुआ या तत्त्व प्रतिपादित करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। दर्शनशास्त्र के गार्बे जैसे विद्वान् भी योगदर्शन के ईश्वर के स्वरूप को समझने में चक्कर खा गए हैं। वस्तुतः स्वभाववादी योगदर्शन अपने ईश्वर को नित्यानन्दमय रूप में ही प्रदर्शित कर पाया है। स्वाभाविक शक्ति का सम्बन्ध जागतिक क्रियाओं से है तथा समाधि लभ्य आनन्द का धाम 'योगसूत्र' में प्रतिपादित ईश्वर ही है।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन को आन्वीक्षिकी विद्या के रूप में जाना जाता है। न्याय के लिए तर्कशास्त्र, न्यायविद्या, न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, हेतुविद्या[1], तर्कविद्या आदि नाम दिए गए हैं। न्याय दर्शन के प्रवर्त्तन का श्रेय महर्षि गौतम को है।

न्याय दर्शन की उत्पत्ति—महर्षि गौतम ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, दृष्टान्त जैसे सोलह प्रमेयों या तत्त्वों के आधार पर ज्ञान के द्वारा न्याय या मुक्ति प्राप्त करने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। जहाँ प्रमेयों का ज्ञान है, न्याय वहीं है। इसी सिद्धान्त को आधारभूत मानकर न्याय दर्शन की उत्पत्ति हुई। यद्यपि न्याय दर्शन के प्रवर्तक मेधातिथि गौतम का समय 600 ई. पू. माना गया है, परन्तु न्याय दर्शन की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में यहाँ गौतम के सम्बन्ध और समय के विषय में विचार कर लेना आवश्यक है।

न्याय दर्शन के सन्दर्भ में 'गौतम' शब्द को उपाधिमूलक मानकर हमें पौराणिक कथाओं में प्रसिद्ध सीरध्वज जनक के गुरु गौतम की ओर बढ़ना पड़ता है।

1 ऋषिभि बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ —गीता, 13/4

गौतम का निवास आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी उत्तरी बिहार स्थित नैमिषारण्य में रहा था। दक्षिण भारत या मध्यभारत में अमरावती में राज्य करने वाले इन्द्र ने सीरध्वज जनक को अनेक बार सहायता प्रदान करके उन्हें नैमिषारण्य में निर्वासित राक्षसों के प्रकोप से बचाया था। इसीलिए सीरध्वज जनक इन्द्र का सम्मान करते थे। संयोगवश मिथिला में इन्द्र का आगमन हुआ। इन्द्र राजा जनक के कुलगुरु गौतम से भी मिला। दैवयोग से उसकी दृष्टि गौतम की पत्नी अहिल्या के ऊपर पड़ी। इन्द्र ने युक्ति के बल पर अहिल्या का सहवास प्राप्त किया। गौतम और अहिल्या से यह कटु सत्य छिपा नहीं रह सका। गौतम ने राजा जनक से न्याय की मांग की। राजा जनक अपने राजनीतिक संरक्षक इन्द्र के विरुद्ध न्याय करने में असमर्थ रहे। गौतम ने सामाजिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर अहिल्या को एकान्तवास का दण्ड दिया। वह पत्थर की मूर्ति के समान जड़वत् व्यवहार करने लगी। निरपराध महिला पत्थर-सा दिल लेकर रहने लगी। इन्द्र की अपकीर्ति सहस्रों रूपों में फैली। जिस न्याय के लिए आचार्य सदा से छटपटाते रहे, उसी को गौतम ने विशेष परिस्थितियों में न्याय दर्शन का जामा पहनाया। नय के भाव को न्याय कहा जाता है। जहाँ नीति नहीं है, वहाँ अन्याय है। न्याय परिपक्व ज्ञान के ऊपर आधारित रहता है। अतः नैमिषारण्य विद्या केन्द्र के कुलपति गौतम ने ही न्याय दर्शन का सूत्रपात किया, यद्यपि इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं है। परन्तु, हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि कोई विचारधारा विशेष परिस्थितियों में ही उत्पन्न होती है। अतः पुराण-वर्णित परिस्थितियों में रहने वाले गौतम ने यदि न्याय दर्शन का प्रवर्तन किया हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। हम योग-दर्शन के सन्दर्भ में राजा जनककृत 'योगप्रभा' ग्रन्थ का हवाला दे चुके हैं। अतः सांख्य और योग से कुछ हट कर तर्क की कसौटी पर आधारित न्याय दर्शन को महर्षि गौतम ने समाज के मंच पर प्रस्तुत किया हो तो मनोविज्ञान के आधार पर हम इसे अस्वीकार नहीं कर सकते। वस्तुतः प्राचीन ऋषियों के नाम उपाधि बन गए हैं। अतः गौतम के अनुयायी न्याय दर्शन के विकास की दृष्टि से गौतम उपाधि से यदा-कदा विभूषित रहे हैं, यह सत्य भी यही सिद्ध करता है कि सीरध्वज जनक के गुरु महर्षि गौतम ने न्याय दर्शन का सूत्रपात किया होगा।

न्याय दर्शन का विकास—ईसा पूर्व छठी शताब्दी में किन्हीं मेधातिथि गौतम ने न्याय दर्शन के विषय में विचार किया होगा। परन्तु 'न्यायसूत्र' का प्रणयन करने का श्रेय अक्षपाद गौतम को है। अक्षपाद गौतम का स्थितिकाल दूसरी शताब्दी माना जाता है। न्याय दर्शन की प्राचीनता के प्रमाण महाभारत ग्रन्थ के अनेक उल्लेख प्रस्तुत करते हैं। गीता में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में वर्णन करते समय न्यायदर्शन को हेतुविद्या के रूप में याद किया गया है। पुराणों में न्याय दर्शन की प्राचीनता के स्पष्ट संकेत हैं। पुराणों में न्याय दर्शन को आन्वीक्षिकी विद्या कहा गया है। 'न्याय-सूत्र' पर पहला प्रामाणिक भाष्य आचार्य वात्स्यायन ने लिखा। वात्स्यायन का समय चौथी शती सुनिश्चित है। गौतम के न्याय के बढ़ते प्रभाव को देखकर बौद्ध

दार्शनिक दिङ्नाग ने वात्स्यायन के 'न्याय-सूत्र भाष्य' की कटु आलोचना की। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गौतम तथा गौतम बुद्ध क्रमशः आस्तिक तथा नास्तिक हुए हैं। दोनों ही न्याय दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित हुए हैं। परन्तु महर्षि गौतम का न्याय आस्तिक दर्शन है, क्योंकि उसमें वेद को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु गौतम बुद्ध ने वेद-विरोधी स्वर में बौद्ध न्याय का प्रवर्तन किया। आचार्य दिङ्नाग का समय छठी शताब्दी माना जाता है। वात्स्यायन के न्यायसूत्र-भाष्य की मान्यताओं को खण्डित करने एवं न्याय को नवीन रूप देने के कारण दिङ्नाग को बौद्ध न्याय का पिता माना गया। परन्तु सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में आचार्य उद्योतकर ने दिङ्नाग की मान्यताओं को निर्मूल सिद्ध करके 'न्यायवार्तिक' की रचना की। 'न्यायवार्तिक' के प्रकाश में आने पर बौद्ध दार्शनिकों में कुहराम मच गया। सातवीं शताब्दी में ही आचार्य धर्मकीर्ति ने बौद्ध न्याय की पुनः स्थापना हेतु 'न्यायवार्तिक' की युक्तियों को सबल प्रमाणों और तर्कों के आधार पर खण्डन किया। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति का 'न्यायबिन्दु' नामक ग्रन्थ बौद्ध न्याय का प्रतिष्ठित ग्रन्थ है। वाचस्पति मिश्र ने 'तात्पर्य टीका' लिखकर धर्मकीर्ति के तर्कों को खण्डित करके आस्तिक न्याय का विकास किया। आचार्य धर्मोत्तर ने नवम शताब्दी में न्यायबिन्दु टीका' ग्रन्थ की रचना की तथा दशम शताब्दी में आचार्य जयन्त भट्ट ने 'न्यायमंजरी' नामक ग्रन्थ प्रणीत किया। ये दोनों ही ग्रन्थ आस्तिक न्याय के पोषक सिद्ध हुए।

11वीं शताब्दी में आचार्य वरदराज ने 'तार्किक रक्षा' नामक न्याय ग्रन्थ की रचना की। बारहवीं शताब्दी में आचार्य केशव मिश्र ने 'तर्कभाषा' नामक ग्रन्थ लिखकर नव्य न्याय का प्रवर्तन किया। केशव की 'तर्कभाषा' में वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों का भी आदर किया गया है। वस्तुतः दशम शती के पश्चात् न्याय दर्शन दो रूपों में विभाजित हो गया। प्रथम तो प्रकृत न्याय के रूप में तथा द्वितीय नव्य न्याय के रूप में। नव्य न्याय के दार्शनिकों ने ऐसा शैलीगत चमत्कार प्रस्तुत किया कि दार्शनिक तत्त्वों को अपेक्षाकृत शब्द-जाल में ढ़क-सा दिया। गंगेश उपाध्याय का 'तत्त्वचिन्तामणि' नव्य न्याय का प्रतिष्ठित ग्रन्थ माना जाता है। 15वीं शताब्दी में आचार्य वासुदेव सार्वभौम ने 'तत्त्वचिन्तामणि व्याख्या' नामक टीका 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत की। अन्य नव्य न्याय के ग्रन्थों में अन्नभट्ट का 'तर्कसंग्रह' तथा लौगादि भास्कर की 'तर्क कौमुदी' आदि ग्रंथ अतिशय प्रसिद्ध हैं। मूलतः प्रकृत न्याय एवं नव्य न्याय विशुद्ध ज्ञानमार्गी दर्शन है।

महर्षि गौतम का न्याय सूत्र

गौतम के 'न्यायसूत्र' में पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय दो-दो आह्निकों में विभाजित किया गया है। 'न्याय सूत्र' में विभिन्न दर्शनों के मतों पर विचार करके लम्बे तर्क-वितर्क के उपरान्त ही अपने मत को स्थापित किया गया है। यहाँ हम 'न्यायसूत्र' के पाँचों अध्यायों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

'न्यायसूत्र' के प्रथम अध्याय में मोक्ष की प्राप्ति के सोलह तत्त्व-रूप साधनों को भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त,

सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, दल, जाति और निग्रह स्थान के तत्त्वज्ञान से परम कल्याण या अपवर्ग की प्राप्ति होती है ।[1] प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द नामक चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है ।[2] न्याय में इच्छा प्राप्ति की बाधा को दुःख कहा गया है[3] तथा दुःखों से अत्यन्त मुक्ति को अपवर्ग माना गया है ।[4] प्रथम अध्याय में प्रमाण से लेकर निर्णय नामक तत्त्वों तक का सरल और संक्षिप्त परिचय दिया गया है ।

'न्यायसूत्र' के दूसरे अध्याय में प्रमाण-विवेचन की गहनताओं का वर्णन है । न्याय दर्शन का अनुमान प्रमाण अत्यन्त व्यापक तथा तर्कपूर्ण माना जाता है । अनुमान करने के लिए किसी वस्तु के कार्यरूप या परिणाम को देखकर मूल वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है । धूम्र को देखकर अग्नि का अनुमान करना अनुमान प्रमाण का ही परिणाम है । अनुमान के पाँच तत्त्व बताए गए हैं । पहला तत्त्व 'प्रतिज्ञा' है । लक्ष्य निर्देशन को प्रतिज्ञा के नाम से पुकारा जाता है; यथा, 'वहाँ अग्नि है ।' अनुमान का दूसरा तत्त्व 'हेतु' है । कारण का निर्देश 'हेतु' कहलाता है; यथा, 'क्योंकि वहाँ धूम्र है ।' अनुमान का तीसरा तत्त्व 'उदाहरण' माना गया है । प्रतिपादित की सिद्धि से सम्बद्ध उक्ति उदाहरण कहलाती है; यथा, जहाँ-जहाँ धूम्र होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है ।' 'उपनय' अनुमान का चौथा तत्त्व माना गया है । लक्ष्य से सम्बद्ध चिह्न का निर्देश उपनय कहलाता है; यथा, यहाँ पर धूम्र है ।' 'निगमन' पाँचवाँ तत्त्व है, जो निष्कर्ष के रूप में जाना जाता है; यथा, 'अतः वहाँ पर आग है ।' अनुमान प्रमाण की सीमा में अर्थापत्ति, ऐतिह्य, अभाव आदि को समाहित कर लिया गया है ।[5] आप्त वाक्य को शब्द प्रमाण तथा सादृश्य ज्ञान के साधन को उपमान प्रमाण कहा गया है । न्याय दर्शन में शब्द को आकाश के गुण के रूप में नित्य तथा विभिन्न वस्तुओं के योग में उसे अनित्य माना है ।[6]

'न्यायसूत्र' के तीसरे अध्याय में पुनर्जन्म का सिद्धान्त युक्तियुक्त रूप में प्रस्तुत किया गया है । कोई व्यक्ति पूर्वजन्म के संस्कारों के फलस्वरूप विशेष प्रवृत्तियों वाला होता है । शरीर को पंचभूतों से निर्मित सिद्ध करने के लिए बौद्ध मत का खण्डन किया गया है ।[7] न्याय दर्शन में आत्मा का अस्तित्व एक ज्ञाता के रूप में स्वीकार किया गया है । मन स्मरण का साधन है तथा बुद्धि ज्ञान-साधना का उपकरण है । अतः ज्ञान आत्मा का धर्म है, मन और बुद्धि का नहीं । मन और बुद्धि को अन्तःकरण

1 न्याय-सूत्र, 1/1/1
2 वही, 1/1/3
3 वही, 1/1/21
4 वही, 1/1/22
5 न्यायसूत्र, 2/2/2
6 वही, 2/2/13-24
7 वही, 3/1/31

की विशेष दशाएँ कहा है। सिद्ध चेतन तत्त्व को आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करके आत्मा को ज्ञान कहा गया है।[1]

'न्यायसूत्र' के चौथे अध्याय में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश को तत्वतः अमर माना गया है तथा सभी वस्तुओं क्षयात्मकता को प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर सिद्ध किया गया है। यथा—

सर्वनित्यं पंचभूतनित्यत्वात।
नोत्पत्ति विनाशकारणो पलब्वे ।। —न्यायसूत्र, 4/1/29–30

धर्म की साधना को उसी प्रकार आवश्यक माना गया है, जिस प्रकार वृक्ष तैयार करने के लिए बीज को बोना आवश्यक है। सुषुप्ति अवस्था के आधार पर मोक्ष को जन्म-मरण से मुक्त माना गया है। जिस व्यक्ति के क्लेश ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं; उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2] क्लेश-मुक्त व्यक्ति का बन्धन संकल्प के अभाव में नहीं हो सकता—'न संकल्पनिमित्तत्वच्च रागादीनाम्।' समाधि के अभ्यास से तत्त्व-ज्ञान की सिद्धि का निर्देश भी दिया गया है।

'न्यायसूत्र' के पाँचवें अध्याय में निग्रह स्थान का युक्तियुक्त वर्णन किया गया है। जाति के ऊपर तर्कसंगत विचार भी इसी अध्याय में हुआ है। पूर्वपक्षी के विचारों को सुनने तथा अपने विचार को प्रस्तुत करते समय निग्रह स्थान का आश्रय लेना चाहिए। अनुमान के पाँचों खण्डों का प्रयोग वाद-विवाद की पकड़ स्वरूप निग्रह स्थान के संदर्भ में होनी चाहिए।[3]

न्यायदर्शन में तर्क का ऐसा जाल है कि जिसमें पड़कर बड़े-बड़े विद्वान भी प्रायः उलझ जाते हैं। न्याय दर्शन सृष्टि की व्यवस्था के लिए ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है। इस दर्शन की सबसे बड़ी देन यही है कि तत्त्व ज्ञान तक पहुँचने के लिए शब्द-ज्ञान तथा साधना-ज्ञान का तादात्म्य होना चाहिए। इसीलिए निग्रह स्थान तथा समाधि को तत्त्वज्ञान में अत्यन्त सहायक माना गया है।

वैशेषिक दर्शन

महर्षि कणाद 'वैशेषिक सूत्र' के प्रणेता माने जाते हैं। कणाद् का स्थितिकाल चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व स्वीकार किया गया है। बिखरे हुए अन्नकणों को खाने के कारण वैशेषिक सूत्रकार को 'कणाद्' नाम मिला। कणाद् के मूल नाम का कोई पता नहीं चलता। सात पदार्थों–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव में 'विशेष' नामक पदार्थ को स्थान देने के कारण कणाद् दर्शन को वैशेषिक दर्शन के नाम से जाना जाता है। पदार्थ ज्ञान की विशेषता पर बल देने के कारण भी इस दर्शन को वैशेषिक नाम मिला है।

वैशेषिक दर्शन की व्युत्पत्ति

ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में महर्षि कणाद् ने 'वैशेषिक सूत्र' की रचना करके

1 वही 3/2/43
2 वही, 4/1/64
3 वही, 5/2/1

वैशेषिक दर्शन का प्रवर्तन किया। विशेषतः जनसाधारण को लक्ष्य बना कर प्रस्तुत दर्शन को व्युत्पन्न किया गया। इस दर्शन में धर्म के रहस्य को स्पष्ट करने के लिए धर्म को ही मोक्ष का आधारभूत माना गया।[1] सभी पदार्थों के धर्मों का वर्णन करने के लिए वैशेषिक दर्शन को एक नई दिशा में प्रस्तुत किया गया। सात पदार्थों–द्रव्य, गुण, कर्म, जाति, विशेष, समवाय और अभाव को सधर्म प्रस्तुत करके वैशेषिक दर्शन को मोक्ष की आधारभूत विचारधारा के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

वैशेषिक दर्शन का विकास

महर्षि कणाद् के 'वैशेषिक सूत्र' के विषय में आचार्य प्रशस्तपाद ने चौथी शताब्दी में 'प्रशस्तपादभाष्य' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में वैशेषिक सूत्रों के रहस्य को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया गया है। इनके ग्रन्थ को 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' के नाम से भी जाना जाता है। कालान्तर में 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' को ही मौलिक दर्शन कृति मानकर आचार्य उदयन ने दशवीं शताब्दी में 'किरणावली' नामक टीका लिखी। श्रीधराचार्य की 'न्याय कदली' टीका भी इसी समय लिखी गई। ग्यारहवीं शताब्दी में न्याय और वैशेषिक का समन्वय होने से वैशेषिक दर्शन में विकास का एक नया अध्याय जुड़ गया। अतः धर्म प्रधान वैशेषिक पदार्थ में तत्त्व ज्ञान का समर्थन होने लगा। शिवादित्य मिश्र द्वारा लिखित 'सप्त पदार्थ' नामक ग्रंथ न्याय और वैशेषिक का समन्वय प्रस्तुत करने वाला पहला प्रामाणिक ग्रन्थ है।[2] प्रशस्तपाद के भाष्य को आधार मानकर बारहवीं शताब्दी में आचार्य वल्लभ ने 'न्यायलीलावती' नामक टीका की रचना की। सोलहवीं शताब्दी में 'सेतु' तथा 17वीं शती में जगदीश भट्टाचार्य ने 'सूक्ति' नामक टीका लिखकर प्रशस्तपाद-भाष्य को महत्त्व प्रदान किया। अठारहवीं शताब्दी में आचार्य विश्वनाथ ने 'भाषा-परिच्छेद' तथा अन्नभट्टाचार्य ने 'तर्क संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखकर वैशेषिक दर्शन के विकास में योगदान दिया।

कणाद् का वैशेषिक सूत्र

'वैशेषिक सूत्र' में दश अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय को दो-दो आह्निकों में बांटा गया है। कणाद् ने धर्म को मोक्ष का कारण सिद्ध किया है।[1] वैशेषिक दर्शन में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए अन्तःकरण की पवित्रता पर अत्यधिक बल दिया है। महर्षि कणाद् ने परमाणुवादी होने पर भी आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। धर्माचरण की प्रधानता रहने के कारण वैशेषिक दर्शन अपना अलग ही प्रभाव छोड़ता है 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः, सूत्र से ग्रन्थ का श्रीगणेश हुआ है।

वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थ तथा नौ द्रव्यों की चर्चा हुई है। 'द्रव्य' पहला पदार्थ है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन नौ द्रव्य हैं। द्रव्य पर आश्रित पदार्थों को 'गुण' कहा गया है। 'पृथ्वी' द्रव्य पर आधारित गन्ध

1 यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः। –वैशेषिक सूत्र, 1/1/2

एक गुण ही है। द्रव्य में रहने वाले तथा संयोग-वियोग की परवाह न करने वाले तत्त्व को 'कर्म' कहा गया है। जाति को 'सामान्य' के नाम से पुकारा है। सामान्य का उल्टा 'विशेष' है। तत्त्व से तत्त्व की पृथकता सूचित करने वाली चीज को 'विशेष' कहा गया है। तत्त्व और वस्तु के नित्य सम्बन्ध को 'समवाय' कहा गया है। कल्पित, कल्पितश्रय तथा संभावनामूलक तत्त्व को 'अभाव' कहा है।

वैशेषिक दर्शन मे चार प्रकार के शरीरों का वर्णन है। अंडज, स्वेदज, जरायुज तथा उद्भिज चार प्रकार के शरीरों की चर्चा हुई है। वैशेषिक दर्शन कम पढ़े-लिखे लोगों के लिए रचा गया है। इस दर्शन का धार्मिक विवरण निश्चयत: जन-जीवन की वस्तु है। इसीलिए कणाद् ने समस्त वेदविहित धर्मानुष्ठानों को करणीय और आदरणीय बताया है। इस दर्शन का परमाणुवाद वास्तव में महान् विचारधारा है।[1]

मीमांसा दर्शन

वैदिक कर्मयोग को प्रामाणिक रूप देने का श्रेय मीमांसा दर्शन को है। आचार्य जैमिनि[2] के 'मीमांसासूत्र' से मीमांसा दर्शन का सूत्रपात माना जाता है। कर्म की मीमांसा या समीक्षा करने के कारण प्रस्तुत दर्शन को 'मीमांसा' नाम मिला है।

मीमांसा दर्शन की व्युत्पत्ति

5:0 ई पू. में आचार्य जैमिनि ने धर्मसूत्रों में बिखरे हुए कर्मकाण्ड को 'मीमांसासूत्र' ग्रन्थ में सूत्रबद्ध करके मीमांसा दर्शन को व्युत्पन्न किया। जब वैदिक कर्मकाण्ड का बोलबाला था, तब जैमिनि ने समाज कर्मयोग की ओर प्रेरित करने के लिए वेदों के पूर्व भाग—कर्मकाण्ड भाग को लक्ष्य करके एक विशिष्ट दिशा-बोध प्रस्तुत किया। नित्य नैमित्तिक तथा काम्य-निषिद्ध कर्मों के विवेचन को आधारभूत बनाकर यज्ञ की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने के लिए मीमांसा दर्शन की व्युत्पत्ति हुई प्रस्तुत दर्शन में जीवात्मा, संसार, ईश्वर जैसे गहन विषयों में प्रायः न पड़कर कर्ममार्ग को ही मीमांसित किया गया है।

मीमांसा दर्शन का विकास

'मीमांसासूत्र' को आधार बनाकर शाबर स्वामी ने 'शाबर-भाष्य' की रचना की। इसीलिए मीमांसा दर्शन की परम्परा को जीवित रखने का श्रेय शबर स्वामी को है। 'शाबर-भाष्य' पर तीन विद्वानों—कुमारिल, प्रभाकर तथा मुरारि ने तीन टीकाएँ लिखीं। इन तीनों टीकाओं के आधार पर तीन सम्प्रदायों की भी स्थापना हुई। कुमारिल का मत भाट्टमत, प्रभाकर का मत गरुमत तथा मुरारि का मत मुरारिमत नाम से जाना जाता है। कुमारिल को शंकराचार्य का समकालीन माना जाता है। परन्तु कुमारिल स्वामी सातवीं शताब्दी की उपज हैं तथा शंकराचार्य का जीवन-काल 787 ई. से 820 ई० पर्यन्त है, अतः दोनों की समकालीनता संदिग्ध

1 वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 485
2 बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 362

है। मीमांसा दर्शन के प्रभाव से बौद्ध-न्याय को धक्का लगा तथा वैदिक धर्म में आस्था का पुनरोदय हुआ। कुछ उल्लेखनीय मीमांसकों के नाम इस प्रकार हैं— अप्पयदीक्षित, वाचस्पति मिश्र, आपदेव (मीमांसा न्यायप्रकाश), लौगादि भास्कर (अर्थसंग्रह), पार्थसारथी मिश्र, अनन्तदेव, खण्डदेव, शालिकानाथ इत्यादि।

मीमांसासूत्र

'मीमांसासूत्र' में 12 अध्याय हैं तथा कुल पाद संख्या 60 है। इस दर्शन में कर्मकाण्ड की प्रधानता पर ही बल दिया गया है। वेदों का निन्नानवें प्रतिशत भाग कर्मकाण्ड से पूर्ण है तथा ज्ञानमार्ग का केवल एक प्रतिशत भाग है। मीमांसा दर्शन को इसीलिए–अर्थात् कर्मकाण्ड का विवेचन करने के कारण पूर्व मीमांसा भी कहते हैं। पराविद्या का सम्बन्ध ज्ञान से तथा अपरा विद्या का सम्बन्ध कर्म से है। इसीलिए मीमांसा दर्शन में कर्ममार्ग की प्रधानता है। वेदों में यज्ञ की प्रधानता है, इसलिए मीमांसा में भी यज्ञ की प्रधानता है। वेदों में देवताओं और ईश्वर के अस्तित्व को स्पष्टतः स्वीकारा है, परन्तु मीमांसा केवल कर्म और उसके प्रतिपादक वचनों के अतिरिक्त न किसी देवता को स्वीकार करता है और न किसी ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करता है।

मीमांसा दर्शन में विषय का विवेचन करने के लिए विषय की प्रस्तावना, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष तथा सिद्धान्त नामक पाँच भागों को प्रस्तुत किया गया है। विषय के प्रस्तुतीकरण में ग्रन्थ के तात्पर्य-निर्णय तथा प्रमाणों को पूरी तरह से ध्यान में रखा गया है। मीमांसा दर्शन में शब्द प्रमाण के रूप में श्रुतिवाक्यों को सम्मान देकर अपनी आस्तिकता का भी परिचय दे दिया गया है। मीमांसा दर्शन जनदर्शन के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

जैमिनि ने प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द नामक तीन प्रमाणों को स्वीकार किया। प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति को जोड़कर प्रमाण-संख्या पाँच कर दी। तत्पश्चात् कुमारिल ने 'अभाव' को प्रमाण-रूप में जोड़कर प्रमाण-संख्या छः कर दी। अतः मीमांसा दर्शन में प्रमाणों की अधिकतम संख्या छः मिलती है।

मीमांसा दर्शन में तीन प्रकार के कर्मों–काम्य, निषिद्ध और नित्य का प्रतिपादन हुआ है। धन-धान्य, संतान, वैभव एवं ऐश्वर्य या स्वर्ग-प्राप्ति आदि के लिए किए गए कर्म काम्य कर्म हैं। वेद-वर्जित कर्म निषिद्ध कर्म हैं। दिनचर्या के महाव्रत जैसे कर्म नित्य कर्म हैं। नित्य कर्मों के सम्पादन से ही मुक्ति संभव है। इसी तथ्य को गीता के अठारहवें अध्याय में प्रतिपादित किया गया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः ॥

कुमारिल ने पाँच पदार्थ स्वीकार किए हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव। प्रभाकर ने आठ पदार्थ गिनाए हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, सादृश्य और संख्या। पदार्थ विवेचन की दृष्टि से प्रभाकर के मत में मौलिकता है।

मीमांसा दर्शन में जीव, ब्रह्म तथा जगत् के स्वरूप को प्रतिपादित नहीं किया गया। वस्तुतः यह दर्शन ग्राम समाज के लिए रचित हुआ, इसलिए गूढ़ विषयों की ओर दार्शनिकों ने न चलकर मुख्य या सहज तत्त्वों का विवेचन करना ही उचित समझा। यूनानी दार्शनिक सुकरात का स्वभाव भी ऐसा ही था। हमारे पुण्यपुरुष गौतम बुद्ध ने इस कर्मवादी पद्धति को एक नया रूप दिया था। कुमारिल तथा प्रभाकर ने क्रमशः अहं प्रत्यय तथा ज्ञाता चैतन्य तत्त्व को आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। इन मीमांसकों के अनुसार ज्ञान और आत्मा स्वतः प्रकाशित तत्त्व है, वे जड़ तत्त्व नहीं हैं।

वेदान्त दर्शन

वैदिक संहिताओं में वेद या ज्ञान का अन्त–अर्थात् चरम सीमा उपनिषद् तत्त्व है। यह उपनिषद् तत्त्व मुख्यतः वेदों के अन्तिम भागों में ही मिलता है; इसीलिए उपनिषदों के ऊपर आधारित दर्शन को वेदान्त दर्शन के नाम से जाना जाता है। वेदान्त दर्शन के आधार पर निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—1. उपनिषद् ग्रन्थ–ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, कौषीतक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर तथा बृहदारण्यक, 2. श्रीमद्भगवद्गीता तथा 3. ब्रह्मसूत्र। इन तीनों को मिलाकर प्रस्थानत्रयी भी कहा जाता है।

वेदान्त दर्शन की व्युत्पत्ति

वेदान्त दर्शन 'प्रस्थानत्रयी' के ऊपर आधारित है। अतः उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र नामक ग्रन्थों को वेदान्त दर्शन की उत्पत्ति में आधारभूत माना गया है। उपनिषद् वेदों के अन्त में अवस्थित हैं, गीता वेदान्त का प्रबल पोषक ग्रन्थ है तथा ब्रह्मसूत्र वेदान्त दर्शन का सर्वाधिक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। यदि हम आचार्य बादरायण द्वारा रचित 'ब्रह्मसूत्र' को दार्शनिक स्तर पर वेदान्त दर्शन को व्युत्पन्न करने वाला कहें, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। फिर भी वेदान्ताचार्यों ने वेदान्त को स्पष्ट करने के लिए उपनिषदों को 'श्रुति' के रूप, में गीता को 'स्मृति' के रूप में तथा ब्रह्मसूत्र को 'शास्त्र' के रूप में मानकर वेदान्त दर्शन को व्युत्पन्न माना है। ज्ञान की पराकाष्ठा का ब्रह्म को आधारभूत मानकर प्रतिपादित करने का सूत्रपात भी वेदान्त दर्शन से ही होता है। ब्रह्म में सबको तथा सबको ब्रह्म में अवस्थित मानने की परम्परा वेदान्त से ही प्रवर्तित हुई है। कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने गीता तथा ब्रह्मसूत्र की रचना की। उपनिषद् वैदिककाल की रचनाएँ हैं। कृष्णद्वैपायन से पूर्व अनेक वेदान्ताचार्य हो चुके हैं, जिनके नाम 'ब्रह्मसूत्र' में जगह-जगह दिए गये हैं। वेदान्ताचार्यों के मतों की परीक्षा के उपरान्त ही 'ब्रह्मसूत्र' ग्रन्थ लिखा गया है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने ही 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की—यह कोई प्रामाणिक तथ्य नहीं है। 'ब्रह्मसूत्र' का प्रणेता बादरायण नामक ऋषि मान्य है। यदि बादरायण कृष्णद्वैपायन को ही कहा गया है तो भी 'जय' काव्य के रूप में महाभारत का प्रणेता कृष्णद्वैपायन व्यास मूल गीता का प्रणेता तो माना जा सकता है, परन्तु 'ब्रह्मसूत्र' ग्रन्थ तथा आधुनिक गीता का

प्रणेता नहीं। 'ब्रह्मसूत्र' में पूर्ववर्णित पाँचों दर्शनों के मतों की समीक्षा की गई है। अतः वेदान्त दर्शन का आधार 'ब्रह्मसूत्र' कोई बहुत प्राचीन रचना नहीं है। वेदान्त दर्शन के स्तम्भ गीता ग्रन्थ में भी न्यायदर्शन, सांख्य, योग, मीमांसा आदि को याद किया गया है, अतः आधुनिक गीता भी ईसा पूर्व की रचना नहीं है। अतः यहाँ यही माना जा सकता है कि उपनिषदों के अतिरिक्त प्रस्थानत्रयी के अन्य ग्रन्थ ईसा पूर्व की रचना नहीं हैं। 'ब्रह्मसूत्र' में जिस प्रकार से युक्ति प्रतिपादन किया गया है, उससे तो यह भी लगता है कि यदि 'ब्रह्मसूत्र' ईसा पूर्व की रचना भी हो तो उसका आधुनिक रूप तो भक्ति-आन्दोलन की छाया से भी युक्त है। यथा—

प्रतीके न हि सः ॥ ब्रह्मदृष्टि उत्कर्षात् । —ब्रह्मसूत्र

महमूद गजनवी ने भारत पर ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में आक्रमण किया था तथा सोमनाथ के मन्दिर को लूटा था। उस समय अवतारवाद की भावना को या बहुदेववाद को बड़ा धक्का लगा। ऐसे अवसर पर ब्रह्मवादी वेदान्त दर्शन के पास केवल यही युक्ति समाधान बचा कि ईश्वर मूर्ति में या उसके किसी प्रतीक में अपने वास्तविक रूप में नहीं है; परन्तु ईश्वर की मूर्ति या उसके प्रतीक का उपयोग ईश्वरतत्त्व की ओर उन्मुख होने में किया जा सकता है। वस्तुतः हमारे यहाँ प्रक्षेप करने की नीति बहुत अधिक रही है। इसीलिए बड़े-बड़े ग्रन्थों में परवर्ती आचार्यों ने न जाने कितना प्रक्षेप भर दिया है। यथार्थतः वेदान्त, दर्शन ईसा पूर्व 1000 से से लेकर दूसरी शती ई. तक अवश्यमेव व्युत्पन्न हो चुका था।

वेदान्त दर्शन का विकास

प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र नामक ग्रन्थों के आधार पर शंकराचार्य, रामानुज, माध्वाचार्य, निम्बाकाचार्य तथा वल्लभाचार्य ने विभिन्न विचारधाराओं की स्थापना की। वेदान्त का विकास इन्हीं आचार्यों के विचारों के आधार पर जाना जाता है, जिसका संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है।

शंकराचार्य (788-820 ई.)—शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी के ग्रन्थों के भाष्य लिखकर 'अद्वैतवाद' की स्थापना की। आदि शंकराचार्य केरल के निवासी थे। इन्होंने बत्तीस वर्ष की अवस्था में दार्शनिक क्षेत्र में अनेक चमत्कारी कार्य किये। आचार्य शंकर के प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं—1. बारह उपनिषदों के भाष्य, 2. शांकर गीता भाष्य, 3. ब्रह्मसूत्रभाष्य (प्रस्थानत्रयी) 4. विवेकचूडामणि, 5. उपदेशसाहस्री, 6. आनन्द लहरी, 7. शतश्लोकी, 8. सौन्दर्य लहरी, 9. हरिमीडे स्तोत, 10. दक्षिणामूर्ति स्तोत्र।

रामानुजाचार्य (1037-1137 ई.)—इन्होंने भी प्रस्थानत्रयी के भाष्य किये तथा शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन करके विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की। विशिष्टद्वैतवाद में प्रकृति जीव और ब्रह्म को विशिष्ट रूपों में देखा गया है। इन तीनों की एकता में भी इनके स्वरूप की विशिष्टता या पृथकता अपना अलग महत्त्व रखती है। रामानुज ने जगत् को सत्य माना तथा केवल विदेहमुक्ति को स्वीकार किया। रामानुज का श्रीभाष्य ग्रन्थ उनकी दार्शनिक प्रतिभा का द्योतक है।

माध्वाचार्य (11वीं शताब्दी)--इन्होंने द्वैतवाद की स्थापना की तथा प्रस्थानत्रयी के भाष्य किये। आचार्य मध्व ने भक्ति-क्षेत्र में विशेष कार्य किया। भक्ति द्वैत दर्शन के आधार पर ही अधिक सरस हो सकती है।

निम्बार्काचार्य (11वीं शताब्दी)–इन्होंने द्वैताद्वैतवाद की स्थापना की। इनकी कीर्ति का केन्द्र ग्रन्थ 'वेदान्त पारिजात सौरभ' है। आचार्य निम्बार्क के अनुसार जीव मुक्तावस्था में भी ईश्वर की उपासना करता है। इनके दर्शन का मुख्य आधार भक्तिमार्ग है। इन्होंने श्रीकृष्ण को ब्रह्म के रूप में तथा राधा को उसकी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

वल्लभाचार्य (1481-1533 ई.)–इन्होंने शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की। इनके अनुसार माया ईश्वर की शक्ति है तथा समस्त जगत् भगवान् की लीला का परिणाम है। ईश्वर ही अनेक रूपों में भक्ति का आनन्द प्राप्त करता रहता है। आचार्य वल्लभ का 'अणुभाष्य' एक दार्शनिक प्रतिभा का सूचक ग्रन्थ है। इन्होंने प्रस्थानत्रयी के ग्रन्थों के भाष्य के साथ 'श्रीमद्‌भागवत' पुराण का भी भाष्य किया। वल्लभ ने कृष्ण को भक्ति का आधार सिद्ध किया।

वेदान्त के अन्य विचारकों में स्वामी विवेकानन्द, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आदि प्रमुख हैं। 'ब्रह्मसूत्र' में प्राचीन आचार्यों के मतों की समीक्षा के सन्दर्भ में वेदान्ताचार्यों का भी उल्लेख किया गया है। वेदान्त के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रसिद्धि शंकराचार्य के 'अद्वैतवाद' को ही मिली। आचार्य शंकर के अद्वैतवाद को अनेक आचार्यों ने खण्डित करना चाहा, परन्तु अद्वैतवाद आज तक सर्वाधिक सुस्पष्ट और अकाट्य दार्शनिक विचारधारा है। डॉ. राधाकृष्णन् ने शंकर और रामानुज को वेदान्त का महान् विचारक सिद्ध करते हुए लिखा है–"Shankar and Ramanuj were two great thinkers of Vedant, the best qualities of each were defects of the other."–Indian Philosophy, Vol. II, p. 720

वादरायण का ब्रह्मसूत्र--वेदान्तदर्शन का सूत्रशैली में लिखा हुआ एकमात्र दार्शनिक ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' है। आचार्य वादरायण का यह ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है। इसका प्रत्येक अध्याय चार पदों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में सूत्रों की अधिकतम संख्या 223 मानी गयी है।

'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम अध्याय का नाम 'समन्वय' है। इस अध्याय में ब्रह्म का निरूपण करने के लिए विभिन्न श्रुतियों—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। यह अध्याय ब्रह्म की जिज्ञासा से शुरू हुआ है।[1] जिस अनन्त शक्तिमान तत्त्व से सभी चीजें उत्पन्न होती हैं तथा जिसमें सबका पालन एवं विलय होता है, वही तत्त्व ब्रह्म है।[2] इस अध्याय में ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए शास्त्र संगति का विशेष ध्यान रखा गया है।

1 अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ॥ —ब्रह्मसूत्र 1/1/1
2 जन्माद्यस्य यतः ॥—वही, 1/1/2

'ब्रह्मसूत्र' का दूसरा अध्याय 'अविरोध' नाम से जाना जाता है। इस अध्याय मे सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक चार्वाक, बौद्ध एवं जैन दर्शनों के मतों का युक्तियुक्त निराकरण करके यह निष्कर्ष निकाला गया है कि जिस ब्रह्म-तत्त्व से विभिन्न दर्शन इधर-उधर भटकते रहे, वह प्रकारान्तर से विभिन्न दर्शनों में भी मान्य रहा है। दूसरे अध्याय में विषय, संशय, संगति, पूर्वपक्ष, तथा उत्तरपक्ष का विशेष ध्यान रखा गया है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'ब्रह्मसूत्र' ग्रन्थ में उक्त पंचायव के साथ-साथ आक्षेप संगति, प्रत्युदाहरण संगति तथा प्रासंगिक संगति का विशेष ध्यान रखा गया है, जिसकी पराकाष्ठा दूसरे अध्याय में देखी जा सकती है।

'ब्रह्मसूत्र' का तीसरा अध्याय 'साधन' है। इस अध्याय में जीव और ब्रह्म के लक्षणों को प्रतिपादित करके मुक्ति के बाह्य आन्तरिक साधनों का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में योगदर्शन के यम, नियम, प्राणायाम जैसे अष्टांग योग को भी स्थान मिला है। मुक्ति के साधनों में चिन्तन, मनन तथा निदिध्यासन को विशिष्ट स्थान दिया गया है। आत्मज्ञान को मुक्ति का स्वरूप बतलाया गया है।

ब्रह्मसूत्र का चौथा अध्याय 'फल' है। इस अध्याय में जीवन्मुक्ति तथा ईश्वर के सगुण एवं निर्गुण रूपों की उपासना का निर्देशन किया गया है। यह अध्याय मुक्त-पुरुष के स्वरूप का वर्णन करके इतिश्री को प्राप्त हुआ है। जो जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो, उसी को मुक्त पुरुष गया है।

बादरायण का ब्रह्मसूत्र वेदान्त दर्शन की सम्पूर्ण सामग्री का प्रतिनिधित्व करता है। अतः यह ग्रन्थ वेदान्तदर्शन का सर्वश्रेष्ठ एवं आधारभूत ग्रन्थ है।

वेदान्त दर्शन में तत्त्व निरूपण—प्रस्थानत्रयी–उपनिषद् गीता तथा ब्रह्मसूत्र नामक ग्रन्थों के आधार पर वेदान्त दर्शन में विवेचित दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा सम्भव है। मूलतः वेदान्त दर्शन में निम्न संक्षिप्त तत्त्वों का विवेचन हुआ है—प्रमाण, ईश्वर, जीव, जगत्, माया और मोक्ष। यहाँ हम इनका वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

वेदान्त दर्शन में प्रमाण—वेदान्त में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि नामक छः प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सन्निकर्ष के द्वारा सिद्ध होता है। अनुमान में प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त नामक तीन अवयवों को स्वीकार किया गया है। आगम—शास्त्रीय प्रमाण का सूचक है। उपमान के माध्यम से सादृश्य-ज्ञान होता है। अर्थापत्ति के माध्यम से प्रत्यक्ष के विषय में कुछ सुनकर उससे सम्बद्ध रहस्य के विषय में जाना जाता है। यथा—देवदत्त मोटा है, परन्तु दिन में नहीं खाता। अतः देवदत्त रात्रि में अच्छी तरह भोजन करता होगा, तभी तो वह मोटा है। ऐसा अर्थ निकालना ही अर्थापत्ति है। किसी वस्तु को न देखकर उसकी अनुपस्थिति का बोध होना ही अनुपलब्धि प्रमाण है। उदाहरण के लिए कमरे में घड़ा न देखकर घड़े के अभाव की सूचना देना ही अनुपलब्धि प्रमाण के अन्तर्गत गिना जाएगा।

वेदान्त दर्शन में ईश्वर—'ब्रह्मसूत्र' का श्रीगणेश 'अथा तो ब्रह्म जिज्ञासा' से होता है। ब्रह्म विषयक जिज्ञासा के परितोषार्थ 'जन्माद्यस्य यतः'—अर्थात् जन्म, वृद्धि और क्षय की लीला का जो मूल है, वही ब्रह्म है, यह सूत्र प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः सांख्य दर्शन में ईश्वर का प्रतिपादन इस रूप में नहीं किया गया कि ब्रह्म समस्त क्रीड़ाओं का या क्रियाओं का आधार है। सांख्य और योग स्वभाववाद की धारा में बहकर प्रकृति को ही जगत् का कारण मानते रहे। परन्तु वेदान्त ने प्रकृति को या चैतन्य शक्ति को ईश्वर के रूप में देखा। वस्तुतः सभी क्रियाएँ एक अनन्तशक्ति के द्वारा ही संचालित हैं। वेदान्त में ब्रह्म को समस्त हलचलों से ऊपर प्रतिष्ठित करके भी उसके चैतन्य भाग में समस्त हलचलों को प्रदर्शित करा दिया है। इसलिए जगद्गुरु शंकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना करके ईश्वर या ब्रह्म के 'पर' एवं 'अपर' दो रूप बतलाए। 'पर' ईश्वर का नित्यानन्दम रूप है तथा अपर चैतन्य रूप है। वेदान्त दर्शन में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की स्थापना भी इसीलिए हुई है। वेदान्त का ईश्वर या ब्रह्म सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता तथा संहारकर्त्ता है। वह सब कुछ करके भी अकर्ता है। वह जादूगर की भाँति सृष्टि-क्रिया के जादू से प्रभावित नहीं होता। गीता में भी ब्रह्म के स्वरूप का ऐसा ही वर्णन है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्वस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

—गीता, अध्याय 9, श्लोक 4 व 5

वेदान्त में जीव का स्वरूप—गीता में जीव को ईश्वर का अंश बतलाया गया है, यथा—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतिः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ —गीता, 15/7

जीव ईश्वर का अंश है, अनादि है। वह प्राकृतिक द्वन्द्व में फँसी इन्द्रियों को आकर्षित या विषयोन्मुख भी करता है। ऐसी स्थिति में वेदान्त का जीव भोक्ता है। परन्तु वह अपने निर्मल रूप में सभी वासनाओं से परे है। चार अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय का जीव अन्ततः आत्मा रूप में ब्रह्म ही है। माण्डूक्य उपनिषद् में कहा भी है—सोऽयमात्मा ब्रह्म। जीव का माया के द्वन्द्व में फँसा रहना केवल प्रतीति है। अन्यथा शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव वाला जीव नित्यमुक्त है। जीव अपने आत्मरूप अथवा—ब्रह्मरूप को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है—'ब्रह्मवेद् ब्रह्मैव भवति।' जीव ज्ञानस्वरूप है और वह अपने ज्ञातृ-स्वरूप को प्राप्त करके परमात्मा या आनन्द-रूप ही हो जाता है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ —गीता, 5/16

वेदान्त में जगत् का स्वरूप—वेदान्तवादी विवर्तवाद को महत्त्व देते हैं। आचार्य सदानन्द के वेदान्तसार ग्रन्थ में विवर्त का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युच्यते॥

सत्य तत्त्व के विपरीत नियम विकार कहलाता है तथा तत्त्व के बिना ही हमें अनावश्यक प्रतीत होने लगे तो उसे विवर्त नाम से पुकारा जाता है। अतः विवर्त रस्सी को साँप समझकर डरने के रूप में माना जाता है। इसीलिए वेदान्त में जगत को मिथ्या तक घोषित कर दिया गया है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को मिथ्या कहा है—ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या।' हमें यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि वेदान्त में संसार के संसरण को ही जगत् का नाम दिया गया है। इसीलिए जीव की उसके स्वरूप से भिन्नरूपता तथा वस्तुओं की प्रतीति अन्ततः भ्रम या मिथ्या ही है। इतना होने पर भी शंकराचार्य ने जगत् को अनिर्वचनीय कहा है, क्योंकि यह आकाश-वाटिका तथा शश-विषाण के समान असत्य नहीं है।

वेदान्त में माया—सत्व, रज तथा तम नामक त्रिगुणरूपा प्रकृति ही माया है। संसार के सभी जीव इसी माया के वशीभूत हैं। जो व्यक्ति वेदान्त के पथ पर चलते हैं, वे इस दुरत्यय माया का अतिक्रमण कर जाते हैं--

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ —गीता, 7|14

ईश्वर की माया ही प्रकृति है। इस प्रकृति के बल पर ईश्वर समस्त सृष्टि की रचना करता है। प्रकृति के वशीभूल समस्त जीव समुदाय है, यथा—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्ततते॥ —गीता, 9/10

वेदान्त में माया को जीव को मोहित करने वाली शक्ति ही न मानकर उसे जीव की सहायिका भी सिद्ध किया है—'अविद्यया मृत्यं तीर्त्वा'.... । (ईशोपनिषद्)

वेदान्त में मोक्ष का स्वरूप—मोक्ष संसारातीत विकार-शून्य स्थिति का नाम है। जो व्यक्ति जीवितावस्था में काम तथा क्रोध जैसे विकारों को जीत लेते हैं, वे मोक्ष में ही स्थित रहते हैं। गीता में मोक्ष ईश्वर का धाम बताया गया है। मोक्ष को सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि का तेज अलौकिक नहीं करता। उसे पाकर जीव का पुनर्जन्म नहीं होता—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ --गीता, 15/6

उपनिषदों में मोक्ष को एक निर्विकार समुद्र के समान स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार सतत प्रवाह परायण नदियाँ समुद्र में मिलकर समुद्ररूपता को प्राप्त कर लेती हैं, उसी प्रकार जीव साधना-धारा में बहकर आत्मरूपता या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। मोक्ष को पाकर जीव के लिए संसार-चक्र की भयावहता

समाप्त हो जाती है। वेदान्त में जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति दोनों को ही स्वीकार किया गया है।

वेदान्त दर्शन में 11वीं शताब्दी में भक्तिमार्ग का प्रबल प्रवेश होने से एक नई विचारणा उत्पन्न हुई। भक्तिमार्गी वेदान्तियों ने भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा सरल, तथा सरस बताकर वेदान्त को भक्ति-भावना से परिपूरित कर दिया। यथार्थत: वेदान्त में प्रस्थानत्रयी के आधार पर जो तत्त्व-विश्लेषण हुआ, उसमें शंकर के अद्वैतवाद की प्रतिस्पर्द्धा में अनेक तत्त्वों का आगमन हुआ। ज्ञान के स्थान पर भक्ति तथा अद्वैत के स्थान विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि विचारधारा-स्वरूप तत्त्वों का समावेश हो गया। आचार्य रामानुज ने केवल विदेहमुक्ति को ही स्वीकार किया, जीवन्मुक्ति को नहीं। अत: वेदान्त दर्शन में तत्त्व-निरूपण की विविधताएँ दर्शनीय हैं।

नास्तिक दर्शन

नास्तिको वेद निन्दक अर्थात् वेद की निन्दा करने वाला व्यक्ति नास्तिक होता है। अत: इस सिद्धान्त के आधार पर भारतीय दर्शन में वेदों को प्रमाण-स्वरूप न मानने वाले दर्शन तीन हुए हैं। चार्वाक दर्शन एक भौतिकवादी दर्शन है तथा बौद्ध एवं जैन दर्शन आध्यात्मवादी दर्शन हैं। बौद्ध और जैन दर्शनों के आचार्यों ने वेद का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया, इसलिए वे आध्यात्मवादी होने पर भी नास्तिक दर्शन कहे गए हैं। यहाँ हम नास्तिक दर्शनों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

चार्वाक दर्शन

सहज प्रकृति के आधार पर अनुशीलन करने से यह निर्विवाद हो जाता है कि मानव प्रारम्भ में भौतिकवादी ही रहा होगा, रहता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार व्यक्ति के मानस के तीन स्तर हैं— उपाहम्, अहम् तथा पराहम्। बच्चों का सम्पर्क 'उपाहम्' या खाने-पीने तथा मौज करने से रहता है; महत्त्वाकांक्षियों या तरुणों का सम्पर्क प्राय: 'अहम्' से रहता है; महापुरुषों या परिपक्व व्यक्तित्व-सम्पन्न व्यक्तियों का सम्बन्ध 'पराहम्' से रहता है। अत: 'अहम्' की पराकाष्ठा तथा 'पराहम्' की भूमिका आध्यात्म का पथ प्रदर्शित करती है। इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को प्रत्यक्ष प्रमाण भी प्रमाणित करता है अतएव चार्वाक दर्शन आध्यात्मवादी दर्शन से प्राचीन है। इसी धारणा का संपोषक सिद्धान्त विकासवाद है।

चर्वणा--प्रधान व्यक्ति को चार्वाक कहा जाता है। 'चर्वणा' रस—चर्वणा का नाम है। दुनिया के प्रपंच में अलमस्त प्रकृति आनन्ददायक मानी जाती है। 'भावुका: सीदन्ति विचारका: प्रसीदन्ति च' नामक सिद्धान्त चार्वाकों को अलमस्त विचारक सिद्ध करता है। चार्वाक कोई ऋषि तो रहे हैं,परन्तु वे ऋषि चर्वणवादी होने के कारण ही चार्वाक कहलाए। उनके वास्तविक नाम का कोई पता नहीं चलता। चार्वाक दर्शन के आदि विचारक आचार्य बृहस्पति माने जाते हैं। परन्तु 'बृहस्पति' शब्द स्वयं उपाधि मूलक है। ऐसा लगता है कि कोई देवगुरु (व्यक्ति) बृहस्पति के नाम से विख्यात हैं। वेदों के अनुशीलन से पता चलता है कि देव वंशी व्यक्ति

भोगवादी या भौतिकवादी ही थे। उनके वंशज आर्य द्रविड़ों के सम्पर्क से ही आध्यात्मवादी बने थे। आध्यात्मवाद का ज्ञानमार्ग आडम्बर विहीन है, जबकि उसका कर्मकाण्ड आडम्बरो का घर है। जब वेदों में कर्मकाण्ड का बोलवाला हुआ तो जन-समाज रूढ़िग्रस्त हो गया। समाज में दान-दक्षिणा का राज्य हो गया, घोर अराजकता फैल गई। ऐसे सभी आडम्बरों का मूल केन्द्र कोई ईश्वर नामक तत्त्व ही रहा। अतः चार्वाकों ने वेद की निन्दा प्रारम्भ कर दी। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को एक विचित्र कल्पना बताया। चार्वाक दर्शन के प्रारम्भ में बृहस्पति नामक विद्वान् का स्तवन किया गया है। यथा—

प्रत्यक्षमेव किल यस्य कृते प्रमाणं
भूतार्थवादमथ यो नितरां निविष्टः।
वेदादिनिन्दनपरः सुखसेव धत्ते
सोऽयं बृहस्पतिर्मुनिर्मम रक्षकोऽस्तु ।।

चार्वाक दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं—1. प्रत्यक्ष प्रमाण ही प्रमाण है. 2. शरीर पर्यन्त विचार, 3. वेदों की निन्दा, 4. भौतिक तत्त्वों की सृष्टि, 5. मृत्यु ही मोक्ष है, 6. कुछ नवीन व्याख्याएँ।

1. प्रत्यक्ष प्रमाण ही प्रमाण है—चार्वाकों ने इन्द्रिय गोचर तत्त्वों का ही अस्तित्व स्वीकार किया है। मन तथा बुद्धि अनुभव के ज्वलन्त विषय हैं, इसलिए चार्वाकों ने इन सूक्ष्म तत्त्वो का स्वाभाविक अस्तित्व स्वीकारा है। अनुमान प्रमाण के विषय में चार्वाक की मान्यता यह है कि जिस प्रकार धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार से 'व्यक्ति' नामक जाति में सामान्य तत्त्व निश्चित नहीं किया जा सकता। फिर दूरवर्ती तत्त्व के दर्शन में दोष की आशंका होने से अनुमान प्रमाण ज्ञान का साधन न रहने से अपने प्रामाण्य को खो बैठता है। इतने पर भी एक अनुमान की सिद्धि के लिए दूसरा अनुमान तथा दूसरे अनुमान की सिद्धि के लिए तीसरे अनुमान की कल्पना करने से अनवस्था-दोष उत्पन्न हो जाएगा। अतः प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान कोई प्रमाण नहीं है। चार्वाक ने शब्द-प्रमाण को शक्ति-ग्रहण की अशक्यता के कारण तथा उपमान प्रमाण को व्याप्ति ज्ञान तथा उपाधिज्ञान के अन्योन्याश्रय दोष के कारण खण्डित करके प्रत्यक्ष प्रमाण को ही एकमात्र प्रमाण सिद्ध कर दिया है। अतः चार्वाक का चिन्तन प्रत्यक्षवादी है।

2. शरीर पर्यन्त विचार—चार्वाक शरीर को सर्वसिद्धियों का केन्द्र मानते हैं, इसलिए चार्वाक दर्शन को लोकायत दर्शन के नाम से भी पुकारा जाता है। चार्वाकों ने शरीर को ही व्यक्ति मानकर उसे प्रसन्न और सुखमय रखने का नारा लगाया है। इसीलिए चार्वाकों का यह सिद्धान्त विश्व विदित है—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वापि घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत ।।"

अर्थात् व्यक्ति जब तक जीवित रहे, तब तक सुखपूर्वक जीए। जब शरीर का दाह-संस्कार हो जाता है, तो फिर उसकी पुनरावृत्ति की सम्भावना कहां? इसी तरह बान्धवों के वियोग में बिलखने की निन्दा करते हुए चार्वाक लिखता है—

यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेव विनिर्गतः ।
कस्माद् भूयो न चायाति वन्धुस्नेहसमाकुलः ।।

यदि व्यक्ति के शरीर से चेतश बाहर निकलकर किसी दूसरे लोक में चली जाती है तो भी हमें अपने सम्वन्धी के वियोग में व्याकुल नहीं होना चाहिए क्योंकि वह चेतना या व्यक्ति हमारे दुःख को देखकर फिर पीछे लौटकर आने वाला नहीं है। चार्वाकों की यह धारणा सांख्य दार्शनिकों के मत से किंचित् तथा प्रत्यक्ष दर्शन से पूर्णतः मेल खाती है। अतः यह सुखमय जीवन का आधार है। चार्वाकों के इस सिद्धान्त का जगत् में सर्वाधिक प्रचार रहा है।

3. वेदों की निन्दा—चार्वाकों ने वेदों के ऊपर प्रहार करके कर्मकाण्ड का भण्डाफोड़ कर दिया है। चार्वाकों के अनुसार भण्डों, धूर्तों तथा राक्षसों ने वेदों की रचना की। वेदवादियों ने दुनिया को ठगने के लिए वेद की वाणी को ईश्वर की वाणी कहा है। अश्वमेध यज्ञ में यजमान की पत्नी द्वारा घोड़े का लिंग ग्रहण कराने का विधान है, जो ईश्वरकृत न होकर वेदवादी राक्षसों द्वारा निर्मित सिद्धान्त मानना चाहिए, यही सिद्ध होता है। इसी तरह से पशु-हत्या को अमानवीय बताते हुए चार्वाक ने लिखा है कि यदि यजमान पशु की वलि देने से पशु को स्वर्गधाम भेज देता है तो वह अपने पिता को वलि का बकरा बनाकर शीघ्र ही स्वर्ग क्यों नहीं भेज देता ? इसी तरह से पौराणिकों की निन्दा करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि यदि श्राद्ध-तर्पणादि से किसी दिवंगत को भोजन और जलादि मिल जाते हैं तो यात्राकाल में घर पर की हुई व्यवस्था ही काम में आ जानी चाहिए। यथा—

गच्छतायहि जन्तूनां व्यर्थ पाथेयकल्पनम् ।
गेहस्थकृत श्राद्धेन पथि तृप्तिर वारिता ।।

4. भौतिक तत्त्वों की सृष्टि—चार्वाक के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु नामक तत्त्वों के योग से सृष्टि का निर्माण हुआ है। जिस प्रकार पान, सुपारी और चूना के योग से पान में पहले से अविद्यमान होते हुए भी लालिमा उत्पन्न हो जाती है; उसी प्रकार पृथ्वी, जलादि चार तत्त्वों के योग से शरीर में चेतना उत्पन्न हो जाती है। जब शरीरान्त होता है तो वह चेतना इन्हीं तत्त्वों में विलीन हो जाती है। चार्वाक दर्शन की यही छाया भगवद् गीता में भी प्रतिविम्बित होती है। यथा—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहेतुकम् ।। —गीता, 16/8

चार्वाकों के सृष्टि-तत्त्व का सन्दर्भ वैज्ञानिक जान पड़ता है। अतः वस्तुवादी चार्वाकों के मत का समर्थन आज का विज्ञान करता है। यदि कुछ गहराई से देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि चार्वाकों ने अपने सिद्धान्त में सापेक्षवाद (आइन्स्टीन-सिद्धान्त) को पहले ही पुष्ट कर रखा है। यथा—

जड़भूत विकारेषु चैतन्यं यत् दृश्यते ।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम् ।।

5. मृत्यु ही मोक्ष है—उपनिषदों तथा दर्शनों में ज्ञान से मुक्ति या मोक्ष-

सिद्धि स्वीकार की गई है । परन्तु चार्वाक केवल शरीर-नाश को ही मुक्ति मानते हैं। अतः शरीर का विनाश होते ही हम दुनिया की दौड़ से हट जाते हैं, व्यक्ति की यही मुक्ति है । यथा—'देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते ।'

उपर्युक्त दृष्टिकोण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चार्वाक ने पुनर्जन्म जैसे गूढ़ तत्त्वों को एकदम अस्वीकार किया है । यह सब उनकी स्थूल बुद्धि का फल है ।

6. कुछ नवीन व्याख्याएँ—चार्वाक ने स्त्री के स्पर्श सुख को पुरुषार्थ कहा है । व्यक्ति को काँटे लगाने से तथा व्याधियों के प्रकोप से जो दुःख मिलता है, वही नरक है । संसार द्वारा स्वीकृत राजा ही परमेश्वर होता है । 'मैं मोटा हूँ' जैसी उक्तियाँ हों यह सिद्ध करती हैं कि चैतन्य युक्त व्यक्ति ही आत्मा है । कोई सूक्ष्म तथा अमर तत्त्व नामक आत्मा नहीं है । अतः चार्वाक ने आदर्शवादी कल्पनाओं को एक ओर से साफ कर दिया है ।

चार्वाक दर्शन जगत् में सदा से प्रधान रहा है। हमारा समाज आदर्श में श्वास लेने की चेष्टा करता हुआ भी स्वार्थ-चक्र में चक्रित रहा है । ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व स्वार्थ का एक अखाड़ा मात्र है । अथवा 'स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ।'

बौद्ध दर्शन

वेद विरोधी दर्शनों में बौद्ध दर्शन का शीर्षस्थ स्थान है। बौद्ध दर्शन के प्रवर्तन का श्रेय गौतम बुद्ध को है । ईसा पूर्व छठी शताब्दी में राजा शुद्धोदन के घर में सिद्धार्थ नामक पुत्ररत्न का उदय हुआ । यही सिद्धार्थ क्षत्रियोचित वीरता से युक्त होने पर भी क्षत्रिय राजाओं के रोहिणी नदी के जल-विवाद के कारण भारी मारकाट की आशंका से क्षत्रिय धर्म को छोड़कर संन्यास के पथ पर अग्रसर हुए । जब सिद्धार्थ ने एक चील द्वारा किसी मूषक को पंजे में दबाते हुए देखा तो समस्त समाज की दुर्दशा का अनुमान करके उनका हृदय क्रन्दन कर उठा । कपिलवस्तु में आयोजित होने वाले हलोत्सव में सुपुष्ट बैलों को रक्त-रंजित देखकर गौतम का हृदय कम्पायमान हो गया । सिद्धार्थ ने अपनी पत्नी यशोधरा के सुन्दर शरीर को काल के गाल में जाने का अनुमान किया तथा वे संसार को काल का खिलौना समझने के लिए बाध्य हो गए । सिद्धार्थ की माता महामाया तो अपने पुत्र को प्रसूत करने के कुछ दिन बाद ही दिवंगत हो गई थी । जब सिद्धार्थ समस्त परिवार एवं समाज को क्षणिकता का स्वरूप समझने लगे तो उनके आत्म-चिन्तन का विकास यथार्थ की ओर हुआ । सिद्धार्थ को दर्शन की ओर अग्रसर करने वाली एक किंवदन्ती और है । एक बार सिद्धार्थ अपने घर से अपने सारथी के साथ रथ पर आरूढ़ होकर निकले । मार्ग में उन्हें एक शव-यात्रा का दर्शन हुआ । गौतम ने शव-यात्रा का रहस्य सारथी से जाना । उस रहस्य को समझकर गौतम ने संसार की नश्वरता का आभास किया । आगे चलकर उन्हें एक भिखारी मिला । गौतम ने भिखारी की दरिद्रता का रहस्य भी समझा । वे शोषित वर्ग या दीन वर्ग के प्रति सार्वभौम करुणा का अनुभव करने लगे । आगे चलने पर उन्हें एक वृद्ध व्यक्ति देखने को मिला । गौतम ने उसका रहस्य समझा तथा यही अनुभव किया कि व्यक्ति

जरावस्था के प्रकोप से कितना दुर्वल और व्याकुल हो जाता है। अन्ततः गौतम ने एक प्रसन्नचित्त संन्यासी को देखा। संन्यासी की निर्द्वन्द्वता को समझकर गौतम ने संन्यास धारण करने का निश्चय किया। सिद्धार्थ ने गृह-त्याग करके प्रघोर तपस्या करके यथार्थ वोध प्राप्त किया। ससार की रात्रि में जागाने का एकमात्र उपाय यथार्थ ज्ञान ही प्रतीत हुआ। गौतम जाग गए और बुद्ध बन गए। 'बुद्ध' शब्द का अर्थ है—जगा हुआ। अतः गौतम बुद्ध ने विशेष परिस्थितियों में क्षणिकता तथा दुःखवादिता का अनुभव करके संसार के त्राण का उपाय सोचा।

गौतम बुद्ध के विचारों को संकलित करने के लिए उनके परिनिर्वाण के चार महीने पश्चात् प्रथम संगीति का आयोजन हुआ। आयोजन के आयोजक राजा अजातशत्रु थे तथा सभापति महाकश्यप। बुद्ध के परिनिर्वाण के सौ वर्ष पश्चात् द्वितीय संगीति आयोजित की गई। अजातशत्रु के वंशज कालाशोक ने द्वितीय संगीति का आयोजन किया तथा सर्वकामी उसके सभापति बने। सम्राट् अशोक संरक्षण में तृतीय संगीति का आयोजन हुआ। अशोक के गुरु तिस्स मोग्गलि पुत्त इस संगीति के सभापति बने। बौद्ध धर्म की चौथी एवं अन्तिम संगीति 100 ई. में कनिष्क के संरक्षण में हुई। इन चारों संगीतियों में अनेक बौद्ध भिक्षुओं ने भाग लिया तथा बौद्ध दर्शन एवं धर्म का स्वरूप निश्चित करके 'विनयपिटक', 'सुत्तपिटक' तथा 'अभिधम्मपिटक' नामक त्रिपिटकों का संकलन किया। तीन पटरियों को त्रिपिटक कहा गया। 'सुत्तपिटक' अनुशासन की पटरी है, 'विनयपिटक' उपदेश की पटरी है तथा 'अभिधम्मपिटक' मनोविज्ञान की पटरी है। प्रथम तीन संगीतियों में ही तीनों पिटकों का निर्माण हो चुका था। 'धम्मपद' बौद्ध धर्म का एक सरल, किन्तु महान् ग्रन्थ है।

बौद्ध दर्शन का स्वरूप

बौद्ध दर्शन दुःखवाद तथा क्षणिकता के ऊपर अवलम्बित है। क्षणिकतावादी सिद्धान्त को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के नाम से जाना जाता है। सांसारिक प्रवाह को बारह रूपों में स्पष्ट करने के कारण प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादशआयतन माने गये हैं। तत्त्व-ज्ञान के अभाव या अस्थिर तत्त्वों को स्थिर मानने की भावना को 'अविद्या' कहा गया है। पूर्वजन्म के पुण्य-पाप स्वरूप कर्मों को 'संस्कार' कहा गया है। संस्कारों के वशीभूत होने के कारण प्राणी गर्भ में आता है तथा दुनिया के प्रपंच में तल्लीन रहता है। इसी स्थिति को 'विज्ञान' के नाम से पुकारा गया है। ऐसी वैज्ञानिक प्रतीतियों के समूह को ही आत्मा कहा गया है। बौद्धदर्शन में किसी अविनाशी आत्मा के लिए कोई स्थान नहीं है। बौद्ध दर्शन में मनोभावों तथा शारीरिक रूप रचनाओं को 'नामरूप' के नाम से जाना जाता है। आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा तथा मन को 'षडायतन' कहा जाता है। वासनाओं के संयोग को 'स्पर्श' कहा गया है। विकारों के प्रकोप से प्राणों को सुखात्मक, दुःखात्मक, तथा उदासीनता स्वरूप 'वेदना' का अनुभव होता है। त्रिविध वेदना के कारण पदार्थों को पाने की लालसा को 'तृष्णा' के नाम से पुकारा

गया है। तृष्णा के कारण विषय-भोग की जो आसक्ति होती है, उसे 'उपादान' कहा गया है। आसक्ति के फलस्वरूप प्राणी का जन्म होना 'भव' कहा गया है। विभिन्न योनियों को 'जाति' कहा गया है। वृद्धावस्था तथा मृत्यु को 'जरामरण' कहा गया है।

बौद्ध दर्शन स्थिर तत्त्व की मान्यता का कट्टर विरोधी रहा है, ब्राह्मण धर्म के प्रभाव के कारण समाज अनेक बुराइयों से आक्रान्त हो गया था। समस्त आडम्बर ईश्वरवादी मान्यताओं के पीछे विकसित हो रहे थे। अतः बुद्ध ने ऐसे किसी स्थिर तत्त्व को स्वीकार नहीं किया, जिसके कारण कर्मकाण्ड का बोलबाला हो सके। इसीलिए ब्राह्मणवाद का आश्रय लेकर विकसित होने वाले ईश्वरवाद का विरोध करने के लिए ईश्वर और आत्मा नामक तत्त्वों को ही स्वीकार नहीं किया गया। जैनधर्म में विकसित होने वाले स्थिर जीव को भी बौद्धों ने स्वीकार नहीं किया। संसार की रचना में पृथ्वी, जल, अग्नि, तथा वायु को स्वीकार करके आकाश को महत्त्व नहीं दिया गया। मूलतः आधुनिक विज्ञान के सापेक्षतावाद को बौद्धों ने दार्शनिक धरातल पर प्रस्तुत कर दिया था।

बौद्धदर्शन प्रत्यक्ष तथा अनुमान नामक दो प्रमाणों को स्वीकार करता है। अनुमान प्रमाण में केवल कार्य और कारण नामक दो अवयवों को ही स्वीकार किया गया है। बौद्ध वेद, स्मृति तथा शास्त्र आदि को नहीं मानते, इसलिए वे शब्द-प्रमाण को स्वीकार नहीं करते। वेद-निन्दक होने के कारण बौद्ध दर्शन नास्तिक दर्शन माना जाता है। बौद्ध ईश्वर, आत्मा आदि के अस्तित्व को भी इसीलिए स्वीकार नहीं करते कि ऐसे स्थिर तथा कल्पित तत्त्वों के पीछे अनेक आडम्बर विकसित हो जाते हैं। अतः बौद्ध चार्वाक की अपेक्षा 'प्रमाण' के सन्दर्भ में उदार रहे हैं।

समस्त संस्कार क्षणिक हैं। अतः क्षणिक संस्कारों का उच्छेद वासना के उच्छेद से ही सम्भव है। जब तृष्णा नामक वासना पूर्णतः नष्ट हो जाती है तो व्यक्ति 'निर्वाण' को प्राप्त हो जाता है। 'निर्वाण' महाशून्यता का नाम है। जिस प्रकार प्याज की पर्तों को छीलते जाने से अन्त में प्याज नामकी कोई वस्तु नहीं रह जाती, उसी प्रकार समस्त वासनाओं की पर्तों को हटा देने से व्यक्ति महाशून्यता को प्राप्त हो जाता है। 'व्यक्ति' उसी प्रकार से एक कल्पना है, जिस प्रकार से 'रथ'। 'रथ' धुरा, पहिये, जूआ, वस्त्र आदि तत्त्वों की एक विशेष रचना है। जिस प्रकार रथ के सभी अवयवों को अलग-अलग कर देने पर रथ नाम की कोई चीज नहीं रहती, उसी प्रकार व्यक्ति के नाम-रूप का पूर्ण नाश होने पर निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। निर्वाण की प्राप्ति में अष्टांग योग साधक है। यह यहाँ विचारणीय है कि 'निर्वाण' किसका होता है ? बौद्ध उत्तर देते हैं कि 'रथ' की भाँति 'व्यक्ति' नामक एक अद्भुत परन्तु कल्पित वस्तु का। बौद्धों के इस मत का खण्डन वेदान्तवादियों ने बड़ी कट्टरता के साथ किया है। यदि 'निर्वाण' सभी वासनाओं से ऊपर कोई तत्त्व है तो उसका अनुभव जो तत्त्व करता है, वह भी सभी वासनाओं से ऊपर होता है—यही सिद्ध

होता है । 'तत्त्व तत्त्व में ही मिलता है' अतः वासना-शून्य तत्त्व—जीवात्मा ही मोक्ष को प्राप्त होती है—यही सिद्ध होता है । अतः बौद्ध दार्शनिक वेदान्तियों की भांति संसार को मिथ्या सिद्ध करके 'निर्वाण' के रूप में अद्वैत-तत्त्व को अप्रत्यक्षतः मानकर उसका मण्डन नहीं कर पाये । इससे यह स्पष्ट है कि बौद्धदर्शन की भाँति सभी दर्शन परिस्थितियों की देन हैं । बौद्ध दर्शन में निर्माण के विषय निम्नरूपतः तत्त्व-प्रतिपादना की है—

क्षणिकाः सर्वे संस्कारा इति या वासना स्थिरा ।
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते ॥

बौद्ध दर्शन में तत्त्व-विश्लेषण के सन्दर्भ में विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा रूप नामक पाँच स्कन्धों का वर्णन किया गया है । बौद्ध पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु नामक चार तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करते हैं । आकाश शून्य होने से कोई तत्त्व नही । बौद्धों ने किसी 'सामान्य' तत्व को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वह भी शून्य या भाव या कल्पना से सम्बद्ध है । बौद्धों ने 'संघातवाद' के आधार पर आत्मा को विभिन्न प्रवृत्तियों का संघात सिद्ध किया है । इसीलिए बौद्धों को अनात्मवादी कहा जाता है । बौद्ध 'सन्तानवाद' के आधार पर—एक प्रवृति को दूसरी के लिए समर्पित कर देने के सिद्धान्त के रूप में जगत् को भी अनित्य सिद्ध कर देते हैं । इसीलिए बौद्ध सांख्य दर्शन की भाँति स्वभाववादी के रूप में संसार-क्रम को सिद्ध करने के लिए कुछ हेर-फेर करके स्वाभाविकता को अवश्य मान बैठते हैं ।

अग्निरुष्णो जलं शीतं, शीतस्पर्शस्तथानिलः ।
केनेदं चित्रितं तस्माद् स्वभाव्यत्तद् व्यवस्थितिः ॥

अर्थात् अग्नि को उष्ण, जल को शीतल, वायु को शीतल तथा स्पर्शी रूप में किसने बनाया ? उत्तर, किसी ने नहीं । अतः ये सभी तत्त्व स्वतः अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से युक्त हैं । इसीलिए 'संसार किसने बनाया' ? जैसे प्रश्नों के उत्तर के लिए स्वाभाविकता को ही उत्तरदायी बताना चाहिए । अतः बौद्ध ईश्वर के चक्कर में बिल्कुल नहीं फंसे । परन्तु आश्चर्यजनक बात तो यह है कि बौद्धों ने क्षणिकवाद को अपनाकर भी निर्वाण को वासना-शून्य तत्त्व स्वीकार कर लिया । यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि निर्वाण स्थिर तत्त्व है या चंचल अथवा अनित्य ? यदि 'निर्वाण' स्थिर तत्त्व है तो बौद्धों का क्षणिकवाद खण्डित होता है और यदि निर्वाण चंचल तत्त्व है तो बौद्धों का दुःखशून्य-तत्त्व 'निर्वाण' अनित्य अथवा असत्य होने के कारण व्यक्ति को दुःखों से मुक्त रखने में असमर्थ है । बौद्धों की इसी उलझन के कारण उनके विभिन्न सम्प्रदायों में अनेक प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हो गईं । ऐसी मान्यताओं का विरोधमूलक स्वरूप निम्न विश्लेषण में देखा जा सकता है—

वैभाषिकः प्रत्यक्षवादी संसार सत्य निर्वाण सत्य ।
सौत्रान्तिकः बाह्यार्थनुमेयवादी संसार सत्य निर्वाण असत्य ॥

योगाचार: विज्ञानवादी संसार असत्य निर्वाण सत्य।
माध्यमिक: शून्यवादी संसार असत्य निर्वाण असत्य ।।

अतः बौद्ध दर्शन कर्म काण्ड का विरोध करने के लिए कर्म-भावना को समाज में संचारित करने के लिए उदित हुआ। यदि गौतम बुद्ध 'ईश्वर' तथा 'आत्मा' जैसे स्थिर तत्त्वों को मानकर ब्राह्मणवाद का विरोध करते तो उन परिस्थितियों में यह सब असम्भव था। अतः बौद्ध दर्शन का स्वरूप तत्कालीन परिस्थितियों का अनुपम प्रतिबिम्ब है।

बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय

बुद्ध की शिक्षाओं को लेकर बौद्ध दर्शन की चार शाखाएँ प्रचलित हुईं, जिनका यहाँ संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है—

1. **वैभाषिक**—बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा का सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय वैभाषिक नाम से जाना जाता है। अशोक के राज्यकाल में आचार्य व सुमित्र की अध्यक्षता में पाँच सौ भिक्षुओं की बौद्ध संगित ने आर्य कात्यायनी-पुत्र द्वारा रचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर एक टीका लिखी थी, जिसे 'विभाषा' नाम दिया गया। 'विभाषा' के मतानुयायियों को वैभाषिक नाम से पुकारा गया। वैभाषिकों में आचार्य वसुमित्र तथा संघभद्र नामक प्रमुख आचार्य हुए हैं। वसुमित्र का ईसापूर्व तीसरी शती तथा संघभद्र का समय चौथी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। मनोरथ नामक आचार्य भी सर्वास्तिवादी हुए हैं। इनका समय भी ईसा की चौथी शताब्दी निर्धारित है। सर्वास्तिवाद में सभी तत्त्वों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। अतः बौद्ध दर्शन का यह सम्प्रदाय गौतम बुद्ध के मूल सिद्धान्त का विरोध करके आगे बढ़ा है।

2. **सौत्रान्तिक**—बुद्ध के उपदेश के अन्तिम भाग को या सूत्र के अन्त वाले भाग को अपनाने के कारण सौत्रान्तिक मत प्रचलित हुआ। इन्होंने समस्त पदार्थों का ज्ञान अनुमानजनित स्वीकार किया है। पदार्थों को नाशवान् मानकर भी इन्होंने संसार को सत्य माना है। सौत्रान्तिक ने निर्वाण को असत्य बतलाया है। बाहरी पदार्थों को अनुमान द्वारा गृहीत मानने के कारण सौत्रान्तिकों को बाह्यार्थानुमेय-वादी भी कहा गया है।

3. **योगाचार**—महायान सम्प्रदाय की पहली शाखा दार्शनिक धरातल पर 'योगाचार' नाम से विख्यात हुई। इस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा का श्रेय आचार्य मैत्रेयनाथ को है। इनका स्थिति काल तीसरी शताब्दी माना जाता है। इनके परवर्ती आचार्यों में चौथी शताब्दी में आचार्य असंग, पाँचवीं शताब्दी में आचार्य स्थिरमति, छठी शताब्दी में आचार्य दिङ्नाग, सातवीं शताब्दी में आचार्य धर्मकीर्ति योगाचारवादी हुए हैं। इन आचार्यों के अतिरिक्त योगाचारवादी कुछ अन्य विचारक भी हुए हैं। योग के द्वारा बोधिसत्व की प्राप्ति को मानने के कारण इन्हें योगाचारवादी कहा जाता है। योगाचारवादी विज्ञान या विशिष्ट विचारों के कारण ही सांसारिक पदार्थों की प्रतीति स्वीकार करते हैं, इसलिए इन्हें विज्ञानवादी भी कहा जाता है। विज्ञानवादियों के अनुसार संसार असत्य है तथा निर्वाण सत्य

है। योगाचारवादी आचार्य दिङ्नाग को बौद्ध-न्याय का पिता माना जाता है। दिङ्नाग ने सांसारिक पदार्थों को असत्य सिद्ध करके ज्ञान को भी असत्य सिद्ध कर दिया है। विज्ञानवादियों के अनुसार ज्ञान तीन प्रकारका होता है—1. कल्पकाश्रित या परिकल्पित ज्ञान 2. सापेक्ष्य या परतन्त्र ज्ञान तथा 3. सत्याश्रित या परिनिष्पन्न ज्ञान। विज्ञानवादी सत्याश्रित ज्ञान के आधार पर ही निर्वाण को सत्य मानते हैं।

4. माध्यमिक—माध्यमिकों को शून्यवादी भी कहा जाता है। दूसरी शताब्दी में आचार्य नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' नामक ग्रन्थ की रचना की। आचार्य नागार्जुन का शून्यवाद सभी वस्तुओं के धर्मो को शून्य-स्वभावयुक्त मानता है। आचार्य नागार्जुन के अनुसार शून्य एक अनिर्वचनीय परम तत्त्व है। इसी तत्त्व को लेकर शंकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना की है। नागार्जुन के पश्चात् तीसरी शताब्दी में आचार्य आर्यदेव, पाँचवीं शताब्दी में स्थविर बुद्धपालित तथा भावविवेक, छठी शताब्दी में आचार्य चन्द्रकीर्ति तथा सातवीं शताब्दी में आचार्य शान्तिदेव नामक शून्यवादी प्रमुख रूप से प्रतिष्ठित रहे हैं। नागार्जुन की कृतियों के चीनी तथा तिब्बती भाषाओं में अनुवाद हुए हैं। सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से शून्यवाद एक महान् दार्शनिक विचारधारा है। नागार्जुन ने आर्य सत्य, अष्टांग मार्ग तथा क्षणिकवाद एवं दुःखवाद जैसे सभी सिद्धान्तों को शून्यधर्मासिद्ध करके असत्य सिद्ध कर दिया है। शून्यवादी संसार और निर्वाण दोनों को ही असत्य मानते हैं।

उपर्युक्त चारों सिद्धान्तों को बौद्ध दर्शन में सांकेतिक रूप में निम्नरूपतः व्यक्त किया है—

अर्थो ज्ञानचितो वैभाषिकेण बहुमन्यते।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्ष ग्राह्यार्थो न बहिर्मतः॥
आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता।
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यते माध्यमाः पुनः॥

जैन दर्शन

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में वर्धमान या महावीर स्वामी ने जैन दर्शन का प्रवर्तन किया। जब वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड की प्रबलता ने समाज को अन्धविश्वासों का घर बना रखा था तथा मानव समाज धार्मिक कट्टरताओं से दूर हट कर रक्षा का मार्ग अपनाने के लिए व्याकुल था, उसी समय बुद्ध एवं महावीर का उदय हुआ। पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की परम्परा में विकसित होने वाले जैन धर्म को एक वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय वर्धमान को ही है। वर्धमान ने बारह वर्ष तक उग्र तपस्या करके समस्त वासनाओं को जीता। केवल ज्ञान प्राप्त कर लेने पर संसार के उद्धारार्थ जैन दर्शन को समाज के मंच पर प्रस्तुत किया। महावीर का सम्बन्ध बिहार के वैशाली नामक नगर से रहा।

महावीर के शुभ्र वेश के आधार पर जैनियों का श्वेताम्बर सम्प्रदाय विकसित हुआ। महावीर ने नग्नावस्था में रहकर पूर्ण त्याग का उदाहरण प्रस्तुत किया था

और उसी को लक्ष्य करके जैनियों में दिगम्बर सम्प्रदाय का सूत्रपात हुआ। इन दोनों ही सम्प्रदायों में जैन दर्शन के सिद्धान्तों का पूर्णतया आदर किया गया है। जैनदर्शन के साहित्य का वृहद् विकास हुआ है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों ने विभिन्न सभाएँ आयोजित करके बारह आगमिक ग्रन्थों का संग्रह किया। इन ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—1. 'आचारांगसूत्र', 2. 'सूत्रकृतांग', 3. 'स्थानाँग', 4. 'समवायांग', 5. 'भगवतीसूत्र', 6. 'ज्ञानधर्म-कथा', 7. 'उपासक-कथा', 8. 'अंतकृतदशा', 9. 'अनुत्तरौपपादिक दशा', 10. 'प्रश्नव्याकरणानि', 11. 'विपाकश्रुत', तथा 12. 'दृष्टिवाद'। दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों में स्वामी कार्तिकेय का 'उत्प्रेक्षा' नामक ग्रन्थ जैन धर्म के अंग विशेष श्रावक धर्म को प्रतिष्ठित करने वाला सिद्ध हुआ है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'चरित्रपाहुड़' नामक ग्रन्थ की रचना करके श्रावक धर्म को प्रतिष्ठित किया। उमास्वामी का 'तत्वार्थसूत्र' दार्शनिक प्रतिभा का ग्रन्थ है। स्वामी समंतभद्र का 'रत्नकरण्ड' जैन धर्म और दर्शन को प्रतिपादित करने वाला सिद्ध हुआ है। जैन दर्शन को परिलक्षित करने वाले जैन साहित्यकारों ने भी जैन दर्शन को विकसित करने में योगदान दिया। नवम शताब्दी में महाकवि धनंजय ने 'राघव-पाण्डवीय' नामक महाकाव्य की रचना की। विमलसूरि का 'पउमचरिउ' प्राकृत भाषा का प्रसिद्ध कथा-साहित्य-स्वरूप ग्रन्थ है। जैन दर्शन को विकसित करने वाले आचार्यों में भद्रबाहु, शाकटायन, स्वयंभु आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

जैन दर्शन का स्वरूप

'जिन' शब्दों में 'अण' प्रत्यय लगाने से जैन शब्द निष्पन्न हुआ है। वासनाओं को जीतने वाले व्यक्ति को जैन कहा जाता है। वर्धमान वासनाओं को जीतने के कारण जैन बने। जैन दर्शन का तात्विक विश्लेषण उदार रहा है! यहाँ हम जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षिप्त विश्लेषण कर रहे हैं।

जैन दर्शन में सात तत्त्वों का विश्लेषण किया गया है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष को सात तत्त्वों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जैन दर्शन में जीव के स्वरूप का विवेचन करते समय मनोविज्ञान का भी ध्यान रखा गया है। तीर्थंकर की स्थिति को प्रकट करने के लिए चौदह गुणों का वर्णन किया गया है। संसार के जीव सत्य सिद्धान्तों में विश्वास न रखने का कारण 'मिथ्यात्व' के शिकार होते हैं। जब कोई व्यक्ति असत्य मार्ग को ग्रहण करता है तो उसे 'सासादन' नामक गुण से युक्त माना जाता है। मनुष्य की सत्यासत्य दृष्टि को 'मिश्र' नामक लक्षण के रूप में रखा गया है। जब व्यक्ति सत्संगति को पाकर सत्य सिद्धान्तों को जान जाता है, परन्तु वह वासनाओं के वशीभूत रहता है तो उसे 'असंयत सम्यक्दृष्टि' गुण स्थान वाला बताया जाता है। जब व्यक्ति संयम की ओर बढ़ता है तो उसे 'संयतासंयत' गुण स्थान वाला माना जाता है। जब व्यक्ति काम, क्रोध जैसे विकारों को जीतने की सामर्थ्य वाला होता है तो उसे 'प्रमत्तसंयत' लक्षण वाला माना जाता है। वासनाओं पर सहज विजय की भूमिका 'अप्रमत्तसंयत' गुणस्थान कहलाती है। 'अपूर्वकरण' के माध्यम से महापुरुष के कर्मोदय का शमन होने लगता

है। इच्छाओं और वृत्तियों के विनाश को 'अनिवृत्तिकरण' के रूप प्रस्तुत किया गया है। अन्तरंग से इच्छाओं को उन्मूलित करने के गुणस्थान को 'सूक्ष्मान्तराय' कहा गया है। कर्मशमन से मिली आत्म-शान्ति 'अपशांतकपाय' गुणस्थान कहलाती है। भावावेगों को नष्ट करने को 'क्षीणकपाय' कहा गया है। मन, वचन और शरीर पर पूर्ण विजय को 'संयोग केवली' गुणस्थान कहा गया है। सिद्धावस्था या कैवल्य की स्थिति को 'अयोग केवली' नाम दिया गया है। जीव को कैवल्य दिखाने वाले उपर्युक्त गुणस्थानों का क्रम विकासपरक अवतारवाद के मनोवैज्ञानिक रूप को सुपुष्ट करता है।

जीव के स्वरूप का विवेचन जैन दर्शन की तर्कवादिता को प्रस्तुत करता है। जीव को संसरण और मुक्त दोनों रूपों में रखकर उसके आठ लक्षणों की ओर निर्देश किया गया है। जीव का 'उपयोगमय' रूप उसे प्रकृति से पृथक् रूप प्रदान करता है। ज्ञान जीव का धर्म या लक्षण है, प्रकृति का नहीं। जड़ प्रकृति को कथमपि ज्ञाता नहीं माना जा सकता। जीव का स्वरूप सूक्ष्म है। अतः वह अदृश्य होने के कारण 'अमूर्तिक' कहा गया है। जीव शरीर में स्थित होकर शुभाशुभ का कर्त्ता बनता है। अतएव वह 'कर्त्ता' कहलाता है। जीव जिस शरीर को धारण करता है, उसी के आकार का हो जाता है। जैन दर्शन का यह विश्लेपण प्रत्यक्ष सिद्धान्त के ऊपर आधारित है। शुभ कार्य करने के कारण जीव सुखी होता है और अशुभ कार्य करने के कारण दुःखी। जब जीव को कर्त्ता कह दिया गया है तो उसे 'भोक्ता मानना स्वतः तर्कसंगत हो जाता है। जीव विषयों से विरक्त होना चाहता है तथा वह सदैव आनन्द की ओर अग्रसर रहता है, अतएव जीव 'ऊर्ध्वगामी' कहलाता है। जब तक जीव मिथ्या चरित्र, मिथ्या ज्ञान तथा मिथ्या दर्शन के वशीभूत रहता है, तब तक वह 'संसारी' कहलाता है। संसारी जीव जन्म-मरण के चक्र में घूमने के लिए विवश हो जाता है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र वाला जीव मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है। वही तीर्थंकर कहलाता है। उसी को सिद्ध कहा जाता है।

जैन दर्शन में दूसरा तत्त्व 'अजीव' बताया गया है। अजीव तत्त्व के पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल। रूप रस तथा गन्ध से युक्त तत्त्वों को पुद्गल कहा है। जीवों तथा पुद्गल तत्त्वों की गति में सहायक तत्त्व धर्म है तथा तत्त्वों के ठहराव में सहायक तत्त्व ही अधर्म है। चेतन-अचेतन तत्त्वों के आधारभूत तत्त्व को 'आकाश' कहा है। स्वतः गतिशील तत्त्व विशेष को काल कहा गया है। काल अपने यथार्थ रूप में गतिशून्य भी कहा गया है।

जैन दर्शन का तीसरा तत्त्व 'आस्रव' है। शुभाशुभ कर्मों के उदय को आस्रव कहा गया है। आत्मा का कर्मों में लिप्त हो जाना 'बन्ध' कहलाता है। कर्मों के उदय को रोकने की आत्म-शक्ति को 'संवर' तत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। व्यक्ति के संचित कर्मों को फलीभूत करके अपने आप दूर हो जाने वाली स्थिति को

'निर्जरा' कहा गया है। कर्मों तथा कर्म के कारणों को आत्मा से पृथक् करके प्राप्त होने वाली विशुद्धावस्था को 'मोक्ष' कहा गया है।

जैन दर्शन में प्रमाण-विवेचन को सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया गया है। जैन दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क तथा आगम नामक प्रमाणों को स्वीकार किया है। प्रत्यक्ष प्रमाण में चार तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष से वस्तु का प्राथमिक ज्ञान 'अवग्रह' कहलाता है, यथा–किसी वस्तु के रंग का ज्ञान। अवग्रह के उपरान्त वस्तु का सम्बन्ध विशेष जानने की इच्छा को 'ईहा' नाम दिया गया है। श्वेत रंग की वक-पंक्ति की सम्भावना को ईहा के अन्तर्गत ही रखा जाएगा। ईहा के उपरान्त निर्णयात्मक ज्ञान की भूमिका उपस्थित होती है, जिसे 'अवाय' कहा गया है, यथा–बगुलों या वकों के पंखों की फड़फड़ाहट का ज्ञान। अवाय के पश्चात् यह धारणा बन जाती है कि वह श्वेत पंक्ति वकों की ही पंक्ति है। इस स्थिति को 'धारणा' कहा गया है। जैन दर्शन में पूर्ण पवित्र ज्ञान के प्रत्यक्षीकरण को 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' नाम से अभिहित किया गया है।

जैन दार्शनिकों ने अनुमान प्रमाण का विवेचन करते समय नैयायिकों तथा बौद्धों की अनुमान प्रमाणपरक धारणाओं का खण्डन किया है। अनुमान को व्यक्तिगत सन्दर्भ में 'स्वार्थानुमान' तथा समष्टिगत सन्दर्भ में 'परार्थानुमान' कहा गया है। नैयायिकों ने अनुमान प्रमाण के पंच अवयव—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन को तथा बौद्धों के अनुमान प्रमाण के तीन अवयवों को आड़े हाथों लिया है–

अन्यथानुपपन्नतत्त्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः॥

जैन दार्शनिकों के प्रमाण-विवेचन के इतिहास में व्याप्ति सम्बन्ध की अटूटता पर बल देकर एक नया अध्याय अवश्य जोड़ दिया है। फिर भी बौद्धों तथा नैयायिकों के अनुमान प्रमाण को स्पष्टता की दृष्टि से उल्लेखनीय मानना चाहिए। जैन दर्शन में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क तथा आगम प्रमाणों का स्वातन्त्र्य भी तर्कसंगत रूप में प्रस्तुत किया गया है।

जैन दर्शन ज्ञान को अनेक रूपों में प्रतिफलित मानता है। इसीलिए अनेकान्तवाद का सिद्धान्त प्रचलित है। 'स्यात्' का अर्थ है–संभवतः तथा 'वाद' का अर्थ है–विचारधारा का ज्ञान। यदि किसी वस्तु का ज्ञान अनेक रूपों में हो सकता है तो ऐसी ज्ञान प्रक्रिया को स्याद्वाद कहा जाएगा। यहाँ स्याद्वाद का सांकेतिक वर्णन किया जा रहा है। स्याद्वाद के सात रूप मानने का आधारभूत मन्त्र निम्न है—

भङ्गाः सत्त्वादयः सप्त, संशया सप्त तद्गता।
जिज्ञासाः सप्त, सप्त स्युः प्रश्नाः सप्तोत्तराण्यदि॥

अर्थात् भंग या रूप सात हैं, उन सात रूपों से सम्बद्ध सात संशय हैं, सात प्रकार की ही जिज्ञासाएँ हैं, सात ही प्रकार के प्रश्न तथा सात ही प्रकार के उत्तर हैं।

ये सात रूप या वाक्य इस प्रकार हैं—1. स्यादस्ति, 2. स्यान्नास्ति, 3. स्यादस्ति नास्ति च, 4. स्यादस्ति अवक्तव्यश्च, 5. स्यान्नास्ति अवक्तव्यश्च, 6. स्यादवक्तव्य तथा 7. स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च। अतः किसी दृष्टि से कोई चीज है और दूसरी दृष्टि से वही चीज उस रूप में नहीं भी है। यह स्थिति अनिर्वचनीय होने से सात प्रकार की हो जाती है। इसी सन्दर्भ में जैन दार्शनिकों ने सांख्य तथा बौद्ध मतों का खण्डन किया है।

जैन मुनि विशुद्ध अहिंसावादी होने के नाते अपने मुँह पर पट्टी तक बाँधे रहते हैं, ताकि उनके मुँह में कीटादि जाकर हिंसित न हो सकें। यह सम्पूर्ण पृथ्वी जीव-जन्तुओं से भरपूर है। अतः इसमें जान-बूझकर हिंसा करने वाले व्यक्ति पापी हैं तथा अपने स्वार्थ को छोड़कर सात्विक भावना से कर्मपरायण व्यक्ति नितान्त अहिंसावादी होते हैं। अहिंसा के स्वरूप को जानने के लिए हिंसा का स्वरूप जानना भी आवश्यक है। जैन दर्शन में सांकल्पिकी तथा असांकल्पिकी नाम से हिंसा के दो भेद किए गए हैं—मन,व चन तथा तन द्वारा अनुमोदित हिंसा को सांकल्पिकी हिंसा कहा जाता है क्योंकि ऐसी हिंसा में हिंसक का संकल्प विद्यमान रहता है। असाकल्पिकी हिंसा संकल्पहीन होती है। इनके तीन प्रकार हैं—आरम्भी, उद्योगी तथा विरोधी। चक्की, चूल्हा, स्नानघर आदि में जो हिंसा होती है, वह 'आरम्भी' कहलाती है। जीविका चलाने के लिए न्याय पथ पर चलते समय जो हिंसा होती है, उसे 'उद्योगी' हिंसा कहते हैं। यथा कृषक के खेत में कीड़े-मकौड़ों की हिंसा। जब सामर्थ्यवान् व्यक्ति न्याय की रक्षा के लिए विरोधी को हानि पहुँचाते हैं तो उसे 'विरोधी' हिंसा कहा जाता है। अतः हमें सांकल्पिकी हिंसा का त्याग करके न्याय पथ पर चलकर अहिंसा का पालन करना चाहिए। अहिंसा की महिमा निम्न श्लोकों में दर्शित है—

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च।
अहिंसा लक्षणो धर्मः अधर्मस्तद् विपर्ययः॥

अर्थात् सभी कालों तथा सभी शास्त्रों में अहिंसा को धर्म का लक्षण बतलाया गया है। अहिंसा का विरोध अधर्म कहलाता है। इसी प्रकार—

अहिंसैव जगन्माता अहिंसैवानन्दपद्धतिः।
अहिंसैव गतिःसाध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती॥

अर्थात् अहिंसा ही संसार की माता है, अहिंसा ही आनन्द प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है, अहिंसा ही श्रेष्ठ गति या प्रगति है तथा अहिंसा ही अविनाशी धन है।

जैन दार्शनिकों ने जातिवाद की कटु आलोचना की है। जैन दर्शन ने सहज ज्ञान की समीक्षा के आधार पर मनुष्यतत्व, पशुत्व आदि को मानव तथा पशु-जातियों के रूप में ग्रहण किया है। मानव जाति कर्मप्रधान जाति है। इस मानव जाति को आचरण के आधार पर अनेक वर्गों में विभाजित किया गया है। ब्राह्मण, ब्राह्मण वर्ण के गुणों को धारण करने से ही ब्राह्मण कहलाता है, न कि ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से। अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी मानव जाति से सम्बद्ध हैं।

मानव को मानव समझने की शक्ति 'रत्नत्रय' की सिद्धि में सहायक है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैन दर्शन में वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया गया है। यथा—

"कम्मुणा बंभणोहोइ कम्मुणा होइ खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो होइ कम्मुणा॥" –जैनदर्शनसार, पृ.150

जैन दर्शन में जाति और वर्ण की पृथकता निर्दिष्ट करके मानवतावाद को संपुष्ट किया गया है। जैनाचार्यों ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाकर आडम्बरों को दूर करने का जो प्रयास किया है, वह वास्तव में ही स्तुत्य है।

यथार्थतः जैन दर्शन में उपवास, व्रत, अहिंसा, ध्यान आदि को विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया गया है। अत इस दर्शन के व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों ही पक्ष प्रबल हैं। जैन दर्शन का इतिहास बौद्ध दर्शन के इतिहास की भाँति विवृद्ध होता चला गया, परन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यही है कि जैन धर्म का बौद्ध धर्म की भाँति पतन नहीं हुआ।

आस्तिक और नास्तिक दर्शन

'नास्तिको वेदनिन्दकः' सूत्र को आधार मानकर वेदवादी दर्शनों को आस्तिक तथा वेदविरोधी दर्शनों को नास्तिक कहा गया है। इस आधार को लेकर सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त को आस्तिक दर्शन सिद्ध किया गया है और चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शनों को नास्तिक दर्शन कहा गया है। वस्तुतः आस्तिक दर्शनों में सांख्य, योग न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा ईश्वर को या तो महत्त्व ही नहीं देते और यदि महत्त्व किसी ने दिया भी है तो वह नाममात्र है। मीमांसा दर्शन ने वेद मन्त्रों की बड़ी दुहाई दी है। अन्य दर्शनों ने वेद-वाक्यों का पूरा परीक्षण करके ही उन्हें शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत रखा है। बौद्धों में त्रिपिटक ग्रन्थों का महत्त्व शब्द प्रमाण के रूप में ही है तथा जैन दर्शन तो 'आगम' प्रमाण को स्वीकार ही करता है। यह दूसरी बात है कि जैन दर्शन में वैदिक साहित्य को आगम प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है।

जैन तथा बौद्ध दर्शन समाज में फैले आडम्बरों को दूर करने के लिए वेदों की निन्दा तो करते रहे परन्तु उन्होंने सहज ज्ञान या वेद को कभी अस्वीकार नहीं किया। चार आर्य सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि का प्रतिपादन वेद ही है, ज्ञान ही है। आस्तिक दर्शनों द्वारा मान्य निर्वाण को बौद्धों ने प्रबल रूप में स्वीकार किया है। जैन दर्शन में जीव को स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। सृष्टि-रचना के विषय को लेकर जो अनेक मत-मतान्तर चले हैं, उनकी दृष्टि से भी आस्तिक और नास्तिक दर्शनों में कोई विशेष भेद मालूम नहीं पड़ता। यद्यपि इन दर्शनों के वास्तविक अन्तर को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, तथापि यहाँ इनके साम्य और वैषम्य की ओर इंगित करना उचित होगा।

आस्तिक और नास्तिक दर्शनों में साम्य

1. निर्वाण को सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है।
2. आचरण की पवित्रता को सभी दर्शनों ने महत्त्व दिया है।

3. सृष्टि का निर्माण प्रकृति या चेतना-स्वरूप ईश्वर की ही देन है।
4. जीव चेतनापूर्ण तत्त्व का नाम है।
5. अपने-अपने साहित्य में सभी की श्रद्धा रही है।
6. दुःखतत्त्व' को सभी दर्शनों ने महत्त्व दिया है।
7. प्रमाण-विवेचन में चार्वाक को छोड़कर पर्याप्त समता रही है।
8. सभी दर्शनों में सामाजिक हित को प्रधानता दी गई है।
9. मत-मतान्तर सभी दर्शनों में हैं।

आस्तिक और नास्तिक दर्शनों में वैषम्य

1. आस्तिक दर्शन वेदवादी हैं तथा नास्तिक दर्शन वेदविरोधी।
2. चार्वाक दर्शन भौतिकवादी है तथा अन्य दर्शन आध्यात्मवादी।
3. चार्वाक दर्शन में आशावाद तथा प्रत्यक्षवाद की प्रधानता है तथा अन्य दर्शन दुःखवाद के चक्कर में पड़कर निराशावादी-से लगते हैं।
4. चार्वाक दर्शन स्थूल है तथा अन्य दर्शन सूक्ष्म हैं।
5. कुछ दर्शन ईश्वरवादी है तथा कुछ अनीश्वरवादी।

यथार्थतः बौद्ध, जैन, सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन कोई बड़ा भेद लेकर भी बहुत कुछ समता रखते हैं। भारतीय दर्शन में आस्तिकता तथा नास्तिकता के आधार पर जो अन्तर दिखलाई पड़ता है, वह केवल चार्वाक दर्शन तथा अन्य दर्शनों के बीच ही मानना चाहिए। बौद्ध तथा जैन दर्शन तो निर्वाण या कैवल्य को मान लेने पर प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः ईश्वर, जीव, वेदादि सभी को स्वीकार ही कर लेते हैं। यथार्थतः निर्वाण की प्राप्ति को परम पुरुषार्थ मान लेने पर आस्तिकता की कोई कड़ी नहीं बच जाती। 'वेद' ज्ञान है और ज्ञान के रहस्य को चार्वाक के अतिरिक्त सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया हैं।

भारतीय दर्शन और निराशावाद

भारतीय दर्शन वेदवादी एवं वेदविरोधी दृष्टि से क्रमशः आस्तिक और नास्तिक कहा गया है। आस्तिक दर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त दैहिक, दैविक तथा भौतिक दुःखों को दूर करने के लिए निवृत्तिमार्ग की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते जान पड़ते हैं। नास्तिक दर्शनों में बौद्ध तथा जैन दर्शन भी निवृत्तिमार्ग के संपोषक सिद्ध हुए हैं। चार्वाक दर्शन के सुखवाद को उक्त सभी दर्शनों ने अमान्य ठहराकर प्रवृत्तिमार्ग की अपेक्षा निवृत्तिमार्ग को ही अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय सिद्ध किया है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर डॉ. राधाकृष्णन् ने भारतीय दर्शन के निराशावाद की ओर इंगित करते हुए लिखा है—"भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के प्रायः प्रत्येक समीक्षक ने इसे एक स्वर से निराशावादपरक बताया है।[1]" चैले ने भारतीय दर्शन को आलस्य और शास्वत विश्राम की भावना से उत्पन्न बताया है।[2] अतः प्रवृत्तिमार्ग को आशावाद निवृत्तिमार्ग को निराशावाद के नाम से पुकारने की परम्परा है।

1 डॉ. राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन (भाग 1) पृ. 43.
2 चैले : एडमिनिस्ट्रेटिव प्रॉब्लम्स, पृ. 67.

प्रवृत्ति मार्ग भौतिक जगत् के कार्य-व्यापार पर बल देता है। हम अपना कार्य करते हुए संसार के सुख और उपभोगमय मानकर वैभव-सम्पन्न हो सकते हैं। इसी दृष्टिकोण के आधार पर बड़ी-बड़ी राजसत्ताएँ स्थापित होती हैं। परन्तु जब हम संसार की असारता, मिथ्यात्व तथा दुःखरूपता का अनुभव करके इन दुखों से बचने का मार्ग ढूंढ़ते हुए निवृत्ति पथ की ओर अग्रसर हो जाते हैं तो हमारा जीवन निराशा से परिपूर्ण हो जाता है। इसी तथ्य को उजागर करने के लिए डॉ० राधाकृष्णन् यहाँ तक कह डालते हैं—"भारतीय विचारक निराशावादी इन अर्थों में हैं कि वे इस जगत् की व्यवस्था को बुराई व मिथ्या रूप देखते हैं।[1]" सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में निराशावाद की प्रधानता का एकमात्र आधार निवृत्तिमार्ग का प्राबल्य ही है, जिसे हम निम्न बिन्दुओं के आधार पर देख सकते हैं—1. बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद, 2. जैन दर्शन में अहिंसा और त्याग, 3. वेदान्त का मायावाद, 4. योगदर्शन का योग एवं कैवल्य, 5. सांख्य का पुरुष एवं मोक्ष 6. न्यायदर्शन का अपवर्ग तथा 7. वैशेषिक एवं मीमांसा का धर्म।

1. बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद

बौद्ध दर्शन में संसार को क्षणिक सिद्ध करने के लिए 'द्वादशायतन' को प्रतिपादित किया गया है। द्वादशायतन में तृष्णा, भव, जरा, मरण आदि को स्थान देकर यही बताया गया है कि यह संसार दुःख का स्वरूप है। संस्कार हमारे पुनर्जन्म के कारण हैं। सांसारिक संसरण के रूप में अविद्या को प्रधान कारण माना गया है। वस्तुतः संसार की क्षणिकता का अनुभव करने के कारण ही बौद्ध दर्शन का आविर्भाव हुआ। जिस प्रकार से प्याज की पर्तों को छीलते जाने से अन्ततः कुछ भी शेष नहीं रहता, उसी प्रकार अविद्या एवं तृष्णा का उच्छेद कर देने से पुनर्जन्म बन्ध निर्बन्ध हो जाता है अथवा निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

बौद्ध दर्शन ने सम्पूर्ण जगत् को तृष्णा का विलास कहकर व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा पर कुठाराघात किया। इस दर्शन की मान्यता के कारण महत्त्वकांक्षा के मोती को कठोरता की सीपी में पल्लवित करने का अवसर ही न मिला सका। समाज के द्वन्द्वात्मक रूप से त्राण पाने के लिए बौद्ध दर्शन का अष्टांग योग कोई सुकर एवं व्यावहारिक दर्शन प्रस्तुत नहीं कर सका। वासनाओं के शासन के लिए भिक्षुओं और भिक्षुणियों के समूह आगे बढ़े, परन्तु वासना के वेग ने उनके त्याग और वैराग्यमय जीवन को भोग और रागमय बना दिया। बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद के आधार पर वीरता का विलोप-सा होता चला गया तथा शान्ति के नन्दन वन को बर्बर जातियों ने प्रचण्ड मद्विपों के रूप में मानो मर्दित कर डाला। अतः बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध समाज को निवृत्तिमार्ग की ओर अभिप्रेरित करने वाला सिद्ध हुआ। केवल इतना ही नहीं, अपितु बौद्ध दर्शन में योगाचारवादियों ने विज्ञानवाद के आधार पर तथा माध्यमिकों ने शून्यवाद के आधार पर सृष्टि के अस्तित्व तक को नकार दिया। जो बौद्ध संसार के अस्तित्व तक को अस्वीकारते

1 डॉ. राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन, पृ. 44

रहे, उनकी भौतिकवादी प्रवृत्ति में आशावाद कैसे पाया जा सकता है ? अतः बौद्ध दर्शन में निराशावाद का अतिरेक है।

2. जैन दर्शन में अहिंसा और त्याग

जैन दर्शन में छः प्रकार के जीवों–पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रस-जीवों के प्रति संयमपूर्ण व्यवहार को अहिंसा कहा गया है।[1] जैन धर्म के अनुयायियों ने अहिंसा को इसी आधार पर हास्यास्पद रूप तक दे डाला। इस विषय में विमलचन्द्र पाण्डेय का यह कथन द्रष्टव्य है—"जहाँ कुछ अनुयायियों ने अहिंसा के इस व्यापक सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप देने का प्रयास किया, वहाँ वह उपहासास्पद बन गया। उदाहरणार्थ, इस भय से कि कहीं कोई कीटाणु सांस लेते समय वायु के साथ भीतर जाकर न मर जाय, कुछ जैन अपने नाक-मुँह पर पट्टी बांधने लगे।"[2]

जैन दर्शन में अस्तेय और अपरिग्रह के साथ अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य को स्थान देकर त्याग की चरम सीमा प्रस्तुत की गई है। जीव के भौतिक तत्व का दमन करने के लिए काया-क्लेश को भी आवश्यक माना गया है।[3] जैन दर्शन कैवल्य की प्राप्ति के लिए तपस्या, व्रत तथा अनशन आदि का पक्षधर रहा है। इस निवृत्ति मार्ग के आधार पर जैन दर्शन का भौतिकता के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है।

3. वेदान्त का मायावाद

वेदान्त में संसार के अस्तित्व को मिथ्या सिद्ध करने के लिए 'अध्यारोप' को प्रस्तुत किया गया। जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में रस्सी को साँप समझकर व्यक्ति डर जाय तो उस व्यक्ति को भय-ग्रसित कहा जाएगा। उसी प्रकार यह संसार हमें अज्ञान के कारण नितान्त भयावह एवं दुःखात्मक दिखलाई पड़ता है। परन्तु, यथार्थतः संसार का अस्तित्व उसी प्रकार है, जैसे रस्सी रूपी सर्प। इसी तथ्य को विवर्त या मायावाद नाम भी दिया गया। वेदान्तसार में इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

> सत्तत्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
> अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

वेदान्त में समस्त संसार को मायिक कहा गया है। सूक्ष्म शरीर में निवमित संस्कारों के विनाश के लिए यौगिक क्रियाओं के साथ-साथ आत्मज्ञान को विशेष महत्त्व दिया गया है। जब व्यक्ति मुमुक्षा को अपनाकर अपने मन को विषय वासनाओं की ओर ले जाने से पूर्णतः अवरुद्ध हो जाता है तो उसे आत्म प्रसाद की प्राप्ति होती है। निर्विकल्प समाधि के द्वारा संस्कारों का क्षय हो जाता है। संचित कर्मों

1 दस वैकालिक सूत्र, 6/9

2–3 विमलचन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 295.

के भोग के लिए शरीर कुछ काल तक उसी प्रकार बना रहता है, जिस प्रकार धनुष से छूटा बाण शक्ति के अनुसार दूरी पर जाकर ही गिरता है। अन्ततः सिद्ध व्यक्ति अपने शरीर का त्याग करके अनन्तः प्रकाश और आनन्द के धाम परमात्मा में विलीन हो जाता है।

शंकराचार्य ने जगत् को मिथ्या कहा तथा ब्रह्म को सत्य। उनका निम्न श्लोक दर्शन जगत् में अत्यधिक प्रसिद्ध है—

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः।
ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

जगद् गुरु ने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' औपनिषदिक सिद्धान्त की पुष्टि में अद्वैतवाद को एक नया रूप दिया। रामानुज ने जगत को सत्य मानकर भी भक्ति-तत्त्व पर इतना जोर दिया कि सब कुछ ईश्वर के लिए समर्पित करने का ही सिद्धान्त बना दिया। वीरता-धीरता जैसे गुणों को छोड़कर समाज को दासता की ओर मोड़ने में विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि भक्तिमार्गी वेदान्त दर्शन के विभिन्न रूपों का हाथ रहा है। यथार्थतः वेदान्त में संसार के अस्तित्व को नकारने के लिए ब्रह्म की विचित्र कल्पनाएँ हुईं और जब संसार को सत्य मानने के लिए उसी धारा में आगे बढ़ा गया तो दार्शनिकों ने अपने आपको ईश्वर का दास मानकर ही संतोष की श्वासें लीं। वेदान्त दर्शन मोक्ष की उस स्थिति को स्वीकार नहीं सका, जिसमें मुक्त व्यक्ति ईश्वर के समान शक्तिमान होकर दुष्टों का विनाश करने के लिए अपने हाथ में शस्त्र धारण करता है। अवतारवाद की उल्टी गंगा बहाकर जन-जीवन में दासता और निराशा का मन्त्र फूंकने का श्रेय वेदान्त दर्शन को ही है।

4. योगदर्शन का योग एवं कैवल्य

योगदर्शन में चित्त की वृत्तियों का निरोध[1] करने का योगोपदेश दिया गया है। सभी व्यक्तियों को दुःख के समुद्र में गिरा देखकर दुःखों से मुक्ति एक वैज्ञानिक मार्ग प्रदान करना योगदर्शन की सबसे बड़ी देन है। योगदर्शन में समस्त वैभवों को प्राप्त करने के साधन बताये गये हैं। परन्तु साथ ही उन सभी वैभवों में विरक्त या अनासक्त रहने का भी उपदेश और अनुदेश दिया गया है। कैवल्य की प्राप्ति को चरमोन्नत पुरुषार्थ बतलाया गया है। कैवल्य को पाने के लिए उद्यत पुरुष या जीव संसार का उपकार करने की बात प्रायः नहीं सोचता, वह तो कैवल्य में अनन्त आनन्द को पाने के लिए विलीन हो जाना चाहता है। धर्ममेघ समाधि के द्वारा वह कैवल्य में भी प्रवेश कर जाता है। योगदर्शन का ईश्वर भी संसार के सामने कोई उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए लीला नहीं करता। चित्त की शुद्धि के लिए जो उपाय बतलाये हैं, वे सभी दुःख-जनित निराशा को दूर करने वाले अवश्य हैं, परन्तु योगदर्शन से यह आशा नहीं की जा सकती कि योगसिद्ध व्यक्ति अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त तेज को पाकर संसार को सुव्यवस्थित करें। अतः

1 योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ —योगदर्शन, 1/2

योगदर्शन दुःखों से मुक्ति दिलाने का एक आशावादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, परन्तु उस वैज्ञानिकता और विभूतिमत्ता को संसार के उद्धार के लिए प्रयुक्त करने का निर्देश नहीं करता।

5. सांख्य का पुरुष और मोक्ष

सांख्य प्राचीनतम दर्शन है। इस दर्शन के अनुसार सृष्टि सत्य है। सभी पदार्थ जीव के उपभोग हेतु बने हैं, ऐसा भी माना गया है। परन्तु सांख्य दर्शन ने 'पुरुष' को मूलतः निर्बन्ध घोषित कर दिया है। जीव अन्धा है और प्रकृति पंगु। अतः जीव अपने ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रकृति को चेतनामय बनाकर मोक्ष की प्राप्ति करने में समर्थ होता है। पुरुष यथार्थतः बंधा न था, प्रकृति ही बँधी थी, पुरुष स्वतः मुक्त था, प्रकृति रूप जीव ही प्रकृति में बँधा था, पुरुष संसार चक्र में नहीं घूम रहा था, प्रकृति ही घूम रही थी—

तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बद्धयते मुच्यति च नानाश्रयाः प्रकृति॥

—सांख्यकारिका

वस्तुतः सांख्य दर्शन की इस अवधारणा ने वेदान्त दर्शन के मायावाद को अच्छा रास्ता दे दिया। सांख्य ने सृष्टि को सत्य मानकर भी प्रवृत्ति मार्ग पर ऐसा अंकुश लगाया कि पुरुष को उसके विशुद्ध रूप में लाने का प्रयास करके भी संसार की सुव्यवस्था का कोई प्रवृत्ति मार्गी उपाय नहीं सोचा।

6. न्याय दर्शन का अपवर्ग

न्याय दर्शन में सृष्टि को सत्य और असत्य या नित्यानित्य रूप में बड़े तर्क विवेचन के पश्चात् ग्रहण किया गया। नैयायिकों ने दुःखों से मुक्ति पाने के लिए 16 तत्त्वों को स्वीकारा, जिनके विषय में न्यायदर्शन के सन्दर्भ में प्रकाश डाला गया है। न्यायदर्शन ने धार्मिक कार्यों को भी महत्त्व दिया। पूर्ण दुःख-विमुक्ति को मोक्ष या अपवर्ग तक कह डाला—'तदत्यन्तविमुक्तिर्मोक्षोऽपवर्गः॥' परन्तु न्यायदर्शन ने संसार को ऐसा कुछ नहीं सुझाया कि त्रिविध दुःख में जो भौतिक दुःख है, जिसमें मारकाट, साम्प्रदायिक संघर्ष, अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि तक को गिना जाता है, उससे जूझने के लिए कोई ठोस उपाय सामने नहीं रखा। नैयायिक जीव के दुःख को दूर करने के लिए चरम सीमा पर अवश्य पहुँचे, परन्तु वे प्रवृत्ति मार्ग के पक्ष पर चलता-सा ही विचार कर पाये।

7. वैशेषिक एवं मीमांसा का धर्म

वैशेषिक दर्शन में धर्म को मोक्ष का कारण बताया गया है तथा मीमांसा में भी। ये दोनों ही दर्शन साधारण बुद्धि वाले लोगों के लिए बनाये गये। इनमें धर्म की व्याख्या भी वैज्ञानिक रूप में की गई। समाज को व्यवस्थित करने का एक सुन्दर उपाय भी इन दर्शनों में दर्शनीय है। परन्तु मीमांसा दर्शन तो यज्ञवाद में उलझा हुआ प्रतीत होता है, जो प्रवृत्ति मार्ग का विशुद्ध पक्ष नहीं कहा जा सकता। यज्ञ

जाता है वैशेषिक दर्शन, जो निःश्रेयस की सिद्धि के लिए दार्शनिक गहराइयों का स्पर्श करता हुआ व्यक्ति को मोक्ष के द्वार पर ले जाकर खड़ा कर देता है। मीमांसा दर्शन का कर्मवादी दृष्टिकोण भी वेद पर आधारित होने के कारण पूर्ण स्वतन्त्रता के वातावरण को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहता है।

जब हम निराशावाद की ओर देखते हैं तो ऐसा लगता है कि 'खाओ-पीओ मौज करो' या 'ऋणं कृत्वापि घृतं पिबेत' सिद्धान्त भी निराशा से शून्य नहीं है। जब हम दुःखी रहेंगे तो किस प्रकार से ठीक तरह से मौज कर सकेंगे? अतः त्रिविध दुःख का निराकरण करने के लिए जितने भी दर्शनों का उदय हुआ, वह एक आशावादी कदम ही है। वेदान्त का अवतारवाद विशुद्ध आशावादी कदम है, परन्तु अवतार की बराबरी अन्य कोई व्यक्ति नहीं कर सकता, यह पराजय की स्वीकृति है तथा दासता को निरन्तर बनाये रखने की संस्तुति है। फिर सामाजिक व्यवस्थाओं के विषय में स्वच्छन्द विचार-विमर्श के अभाव में भी प्रवृत्ति मार्ग का कोई विशेष पहलू नहीं रखा गया। वैदिक साहित्य में भोग और योग का समन्वय विशुद्ध प्रवृत्ति मार्ग के रूप में सामने आया था। परन्तु आगे के विकासशील शास्त्रों में उस प्रत्यक्षवाद को बहुत कम महत्त्व दिया गया और हमारे सामने रह गये तीनों दुःख और मोक्ष। यहाँ यह संकेत कर देना भी उचित है कि भारतीय दर्शन में शैव-दर्शन को भी स्थान मिला है। परन्तु प्रायः शैव-दर्शन को नास्तिक एवं आस्तिक दर्शनों में स्थान नहीं दिया जाता। शैव-दर्शन वेदान्त दर्शन की भाँति बहुमुखी तथा गहन दर्शन है। शैव सृष्टि को आनन्दमय मानते हैं। वे भोग और योग को समन्वित महत्त्व देते हैं। दुःख को शिव की ओर बढ़ाने का प्रेरक-तत्त्व स्वीकार करते हैं। अत शैव-दर्शन में सर्वत्र आनन्दवादिता को महत्त्व देकर प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का समन्वय करके एक आशावादी ही नहीं, अपितु विश्दासवादी दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है। प्रसाद ने कामायनी में इसी रहस्य को प्रकट करते हुए लिखा है—

काम मंगल से मण्डित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम।
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल, बनाते हो असफल भव धाम।।

—श्रद्धा सर्ग

धर्मशास्त्र
(Dharam Shastra)

धर्मशास्त्र शब्द एक व्यापक अर्थ का बोधक है। धर्मशास्त्र के अन्तर्गत राजा-प्रजा के अधिकार एवं कर्त्तव्य, सामाजिक आचार-विचार एवं व्यवस्था, वर्णाश्रमधर्म, नीति, सदाचार और शासन-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख किया जाता है। 'श्रुति' शब्द से वैदिक साहित्य का बोध होता है तथा 'स्मृति' शब्द से स्मृति-साहित्य का। आज सीमित रूप में स्मृति-साहित्य को ही 'धर्मशास्त्र' कहा जाता है। पी. वी. काणे ने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' पुस्तक में वैदिक साहित्य से लेकर पुराण-साहित्य पर्यन्त धर्मशास्त्र का उल्लेख किया है। उसका संक्षिप्त रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

रचना		रचना-काल
1. वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थ।	—	चार हजार ई. पू. से एक हजार ई. पू. तक
2. श्रौतसूत्र (आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन, सत्याषाढ़) गृह्यसूत्र (आपस्तम्ब एवं आश्वलायन)		आठ सौ ई. पू. से पांच सौ ई. पू. तक
3. जैमिनि का पूर्व मीमांसा सूत्र	—	पांच सौ ई. पू. से दो सौ ई. पू. तक
4. भगवद्गीता	—	पांच सौ ई. पू. से दो सौ ई. पू. तक
5. कौटिल्य का अर्थशास्त्र	—	तीन सौ ई. पू.
6. मनुस्मृति	—	दो सौ ई. पू. से सौ ई. पू. तक
7. याज्ञवल्क्य स्मृति	—	सौ ई. उ. से तीन सौ ई. उ. तक
8. विष्णु धर्मसूत्र	—	सौ ई. उ. से तीन सौ ई. उ. तक
9. नारद स्मृति	—	सौ ई. उ. से चार सौ ई. उ. तक
10. पुराण (वायु, विष्णु, मार्कण्डेय मत्स्य, कूर्म)	—	तीन सौ ई. उ. से छः सौ ई. उ. तक

काणे साहब ने वैयाकरणों के समय तथा उनकी रचनाओं का उल्लेख भी उसी सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः धर्मशास्त्र का युक्तियुक्त इतिहास उपर्युक्त रूप में ही जाना जाता है। प्राचीनकाल में भी धर्मशास्त्र का व्यापक अर्थ ही स्वीकार किया गया है। यथा—

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनमतिबुद्धिना ॥

—महाभारत, आदिपर्व

हम वैदिक तथा पौराणिक साहित्य के सन्दर्भ में पहले ही कह चुके हैं। अतः हम यहाँ केवल स्मृति-साहित्य के सन्दर्भ में ही विवेचन करेंगे।

प्रमुख स्मृति-ग्रन्थ—पुराणों की भांति स्मृतियां भी मुख्यत अठारह ही मानी जाती हैं—(1) मनुस्मृति, (2) याज्ञवल्क्य स्मृति, (3) अत्रि स्मृति, (4) विष्णु स्मृति, (5) हारीत स्मृति, (6) उशनस् स्मृति, (7) अंगिरा स्मृति, (8) यम स्मृति, (9) कात्यायन स्मृति, (10) बृहस्पति स्मृति, (11) पराशर स्मृति, (12) व्यास स्मृति, (13) दक्ष स्मृति, (14) गौतम स्मृति, (15) वशिष्ठ स्मृति, (16) नारद स्मृति, (17) भृगु स्मृति तथा (18) आपस्तम्ब स्मृति।

स्मृतियों का रचना-काल—स्मृति-ग्रन्थों में 'मनुस्मृति' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (300 ई. पू.) में मनु के नाम का उल्लेख है। कौटिल्य ने कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों का भी उल्लेख किया है। परन्तु हमें यही मानना चाहिए। कि वे सभी राजनीति शास्त्र के विचारक थे, स्मृतिकार नहीं। महाकवि भास के नाटक में केवल राजनीति शास्त्र के निर्माता प्राचेतस मनु की चर्चा है। अतः मनुस्मृतिकार का समय निर्धारित करने के लिए हमें प्रथम शताब्दी में होने वाले

महाकवि अश्वघोष की ओर जाना पड़ता है। अश्वघोष ने मनुस्मृति के श्लोकों को उद्धृत किया है। अतः मनुस्मृति की रचना प्रथम शती पूर्व ही माननी पड़ेगी। हमें इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि मनुस्मृति पौराणिक 'मनु' के नाम पर रचित है, अतः वह हजारों वर्ष ईसा पूर्व की रचना होनी चाहिए। 'मनु', 'वशिष्ठ' 'भृगु' आदि शब्द उपाधिमूलक हैं। अतः इन उपाधिमूलक नामों के साथ रचनाकारों के मूल नामों का लोप होने से एक भ्रम उत्पन्न हो जाता है। यथार्थतः सूत्रकाल के पश्चात् ही स्मृतिकाल प्रारम्भ होता है। अत; स्मृतियों की पूर्व सीमा दो सौ ई. पू. ही माननी चाहिए। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पौराणिक सिद्धान्तों से प्रभावित होकर स्मृतिकारों ने अपनी स्मृतियों का नामकरण भी पौराणिक ऋषियों के नाम पर ही किया है।

स्मृतिग्रन्थों की परम्परा आगे भी विकसित रही है। तेरहवीं शताब्दी में रेवणभट्ट ने 'स्मृतिचन्द्रिका', चौदहवीं शताब्दी में चण्डेश्वर ने 'स्मृतिरत्नाकर', पन्द्रहवीं शताब्दी में वाचस्पति ने 'चिन्तामणि', सोलहवीं शताब्दी में प्रताप रुद्रदेव ने 'सरस्वती-विलास' तथा सत्रहवीं शताब्दी में कमलाकर भट्ट ने 'निर्णयसिन्धु' की रचना की। अत: स्मृति-ग्रन्थों का रचना-काल दो सौ ई. पू. से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक रहा है। स्मृति-ग्रन्थों की टीकाओं के आधार पर स्मृतियों के रचना-काल की सीमा में और भी वृद्धि हो जाती है।

धर्मशास्त्र का प्रतिपाद्य

धर्मशास्त्र में मुख्यत: निम्नलिखित विषयों पर प्रकाश डाला गया है—
1. सृष्टि-रचना का वर्णन, 2. वर्ण-व्यवस्था, 3. आश्रम-व्यवस्था, 4. राजधर्म, 5. सामाजिक व्यवस्थाएँ।

1. सृष्टि रचना का वर्णन—स्मृतिग्रन्थ वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर लिखे गए हैं। वेदों में सृष्टि-रचना का सविस्तार वर्णन है, जिसका प्रमाण ऋग्वेद का 'पुरुष-सूक्त' है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में ईश्वर की इच्छा को सृष्टि-रचना का कारण सिद्ध किया गया है। मनुस्मृति में भी ईश्वर की इच्छा से ही सृष्टि-निर्माण की बात कही गई है। सृष्टि-निर्माण का वर्णन करते समय पंचमहाभूतों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के गुणों का भी विवेचन किया गया है। पृथ्वी में गन्ध, जल में तरलता या रस, अग्नि में रूप, वायु में स्पर्श या वहनशीलता तथा आकाश में शब्द गुण विद्यमान है। मनुस्मृति में ऋग्वेद की रचना अग्नि के द्वारा, यजुर्वेद की रचना वायु के द्वारा आंगिरस ने की थी। यथा—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु; सामलक्षणम्।
अध्यापयामास पितृन् शिशुरांगिरस: कविः॥

इस स्मृति-प्रदत्त पहेली का रहस्य यह है कि अग्नि, वायु और सूर्य नामक तीन ऋषि थे, जो प्राचीनकाल की विभूति समझे जा सकते हैं। 'ब्रह्म' शब्द ज्ञान का

वाचक है। अतः ज्ञान के विस्तारकों को ब्रह्मा कहा गया। अतएव वेदों की रचना ब्रह्म या ब्रह्माओं ने की, यह परम्परा विकसित हो गई। उपर्युक्त तीन ब्रह्माओं की परवर्ती पीढ़ी में अंगिरा हुए। उन्होंने अपने अनुसन्धान को अथर्ववेद के रूप में प्रस्तुत किया। अंगिरा ने अथर्ववेद का प्रामाणिक ज्ञान उपर्युक्त तीनों ब्रह्माओं को भी कराया। अतः यह प्रसिद्ध हो गया कि ब्रह्मा जैसे पिता को उसके पुत्र अंगिरा ने पढ़ाया। पुराणों में ब्रह्मा के अनेक मानस-पुत्रों की चर्चा है। मानस-पुत्र' शिष्य के रूप में ग्रहण करना चाहिए। अतः मनुस्मृति में भी पौराणिक शैली को अपनाया गया है।

2. वर्ण व्यवस्था—स्मृतियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों की व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख है। मनुस्मृति में ब्रह्माण्डों के छः कार्यों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। ब्राह्मणों के षड् कर्म इस प्रकार हैं—अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान एवं प्रतिदान। यथा—

अध्ययनं अध्यापनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणस्य कर्म स्मृतम्॥

क्षत्रिय वर्ण का कार्य समाज-रक्षण, वैश्यों का कार्य व्यापार तथा शूद्रों का कार्य सेवा है। स्मृति-ग्रन्थों में वर्ण-व्यवस्था पर अत्यधिक बल दिया गया है। हमारे धर्मशास्त्र में शूद्रों के प्रति न्याय नहीं हुआ। शूद्रों को पूजा के अधिकार से वंचित रखा गया है। शूद्र दूर से ही ईश्वर की प्रतिमा का दर्शन कर सकता है। हाँ, धर्मशास्त्र में एक बड़ी अच्छी बात कही है कि वयोवृद्ध शूद्र भी नमस्करणीय होता है। यह अभिवादन उच्च वर्णों द्वारा देय माना गया है।

3 आश्रम-व्यवस्था—धर्मशास्त्र में चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास की व्यवस्था है। मनुष्य की आयु को चार भागों में विभाजित किया गया है। अतः सौ वर्ष की आयु में से प्रत्येक आश्रम के लिए 25 वर्ष की आयु-सीमा निर्धारित की गई है। ब्रह्मचर्य आश्रम 25 वर्ष की अवस्था तक माना गया है। ब्रह्मचारी कभी कामुकता की बातें नहीं करता, काम-वासना के विषय में नहीं सोचता तथा स्पर्शादि क्रियाओं से सर्वथा दूर रहकर विद्याध्यन करता है। केवल इतना ही नहीं, अपितु उसका भोजन हल्का होना चाहिए, सात्त्विक होना चाहिए। ब्रह्मचारी प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में उठकर शौचादिक क्रियाओं से निवृत्त होकर ध्यान करने वाला होना चाहिए। उसे 'ॐ' का जप करना चाहिए। ब्रह्मचारी को अपने शरीर को बलिष्ठ बनाने के लिए प्राणायाम तथा व्यायाम का भी नित्य अभ्यास एवं क्रिया करनी चाहिए। वस्तुतः यही आश्रम निर्माण-काल है।

जब ब्रह्मचारी 25 वर्ष की अवस्था को पाकर शारीरतः तथा मनसा परिपक्व हो जाता है तो उसके गुरु उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा देते हैं। एक सद्गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने योग्य युवती से विवाह करे। गृहस्थ में रहता हुआ व्यक्ति भी इतना सदाचारी रहे कि वह अपनी पत्नी को भी छींकती हुई, जंभाई लेती हुई, वस्त्र-धारण करती हुई आदि अवस्थाओं में न देखने

की कोशिश करे। एक सद्गृहस्थ को सोलह संस्कार सम्पन्न करने चाहिएँ। उसे पंच महाव्रतों का पालन करना चाहिए। धनार्जन की प्रक्रिया में पूर्ण कर्मठता तथा ईमानदारी का परिचय देना चाहिए। मनुस्मृति में गृहस्थ को सबसे बड़ा आश्रम बतलाया है।

सर्वेषां आश्रमाणां गृहस्थाश्रम विशिष्यते ।। —मनुस्मृति

जब गृहस्थी व्यक्ति पचास वर्ष का हो जाए तथा उसके पुत्र-पुत्री समर्थ एवं सुव्यवस्थित हो जाएँ तो उसे गृहस्थ का कार्यभार अपने पुत्रों के ऊपर छोड़कर घर-त्याग करना चाहिए। वह इधर-उधर विचरण करता हुआ, उपदेश देता, समाज-सेवा भी करे। ऐसे अतिथियों की सेवा गृहस्थियों को ही करनी होती है। वानप्रस्थ में ध्यान और आत्म-चिन्तन की प्रधानता कही गई है।

पचहत्तर वर्ष की अवस्था में व्यक्ति को समाज से भी संन्यास लेकर एकान्त-वास करना चाहिए। संन्यासी वासनाओं का त्याग करने से ही ज्ञानमार्ग पर चलकर मोक्ष का भागी होता है।

4. **राजधर्म**—धर्मशास्त्र में राजा को सर्वगुण-सम्पन्न घोषित करके एक आदर्श स्थापित किया गया है। यूनानी विचारक प्लेटो की यह धारणा कि 'राजा दार्शनिक होना चाहिए' को धर्मशास्त्र में व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है। मनुस्मृति में राजा को इन्द्र के समान पराक्रमी, कुबेर के समान धनाढ्य तथा यम के समान न्यायप्रिय घोषित किया गया है। राजा को मुख के समान होना चाहिए, जिससे कि प्रजा को समुचित न्याय मिल सके। यदि राजा ही अपनी प्रजा को न्याय नहीं दे पाएगा तो अराजकता का बोलबाला हो जाएगा। इसीलिए धर्म में साम, दाम, दण्ड तथा भेद नामक चार राजनीतिक चरणों की व्यवस्था भी रखी गई। दंड के विषय में मनुस्मृतिकार की यह धारणा मनोवैज्ञानिक जान पड़ती है—

दण्डेन शास्ति प्रजा दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।।

एक राजा कितना ही सक्षम क्यों न हो, उसे अपने शासन-सूत्र को संचालित करने के लिए सुयोग्य पार्षदों किंवा सांसदों की आवश्यकता रहती ही है। राजकार्य की व्यवस्था के लिए सन्धि-विग्रह को विशेष महत्त्व दिया।

5. **सामाजिक व्यवस्थाएँ**—स्मृतियों में आठ प्रकार के विवाहों की ओर संकेत करके वैवाहिक पद्धति पर युक्तिसंगत प्रकाश डाला गया है। ब्राह्म दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य जैसे विवाहों को वैधानिक तथा गांधर्व, पैशाच, आसुर एवं राक्षसी विवाहों को उत्पात एवं कलहमूलक सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार वृद्ध माता-पिता के निर्वाह के लिए मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में सेवा-भाव का प्रतिपादन किया है। यदि एक व्यक्ति सौ वर्ष तक भी माता-पिता की निरन्तर सेवा करे तो भी वह माता-पिता के ऋण से उऋण नहीं हो सकता। यदि कोई द्विज विद्याध्ययन एवं गृहस्थ के कार्यों की अवहेलना करके मोक्ष-धर्म को अपनाकर अपने जीवन को सार्थक बनाने की चेष्टा प्रदर्शित करता है तो उस व्यक्ति को धर्मशास्त्र ने पतनोन्मुख ही सिद्ध किया है, यथा—

अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य सुतानपि।
अनिष्टवा शक्तितो यज्ञैर्मोक्षमिच्छन् पतत्यधः ।। —मनुस्मृति

धर्मशास्त्र से नारी-उद्धार की चेतना भी आंशिक रूप में झलकती है। मनु ने नारी-सम्मान की बात युक्तियुक्त रूप में प्रस्तुत की है। वे स्त्री को पति और पुत्रों के अधीन बतलाकर भी उसकी पूजा या सम्मान की बात पर सहमत जान पड़ते हैं।

यत्र नार्स्यंतु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

नारी को गृहिणी का रूप प्रदान करके भी हमारा धर्मशास्त्र इस आधार पर विवेचन करने में असमर्थ रहा है कि नारी भी पुरुष के समान स्वतन्त्र होकर आश्रम-धर्म का निर्वाह कर सकती है।

धर्मशास्त्र में एक-दूसरे के कार्यों में सहयोग करने के लिए आर्थिक लेन-देन पर भी विचार किया गया हैं। जहाँ तक हो सके बिना ब्याज ही ऋण देना चाहिए। यदि बहुत ही आवश्यक समझा जाए तो ऋण की व्यवस्था साधारण ब्याज पर भी करनी चाहिए। अधिक ब्याज की व्यवस्था को अधर्ममूलक कहा गया है।

धर्मशास्त्र के अनुसार पापों के प्रायश्चित के लिए अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ हैं। निष्कर्षत: धर्मशास्त्र व्यक्ति और समाज से सम्बद्ध सभी विधानों पर प्रकाश डालने वाला शास्त्र है।

मनुस्मृति
(दो सौ ईसा पूर्व)

स्मृति ग्रन्थों में मनुस्मृति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। वैदिक काल में मनु नामक कोई राजर्षि हुए हैं। मनु की संतान को मानव कहा जाता है। 'मनु' एक उपाधिमूलक शब्द है। इसीलिए अनेक मनुओं का पुराणों में पढ़ा और देखा जा सकता है। जिस प्रकार से महाभारत का बीज रूप 'जय' काव्य में ही मिल जाता है, उसी प्रकार हमें सूर्यवंश के आदि राजा मनु के विचारों को किसी स्मृति के रूप में वैदिक युग की ही उपज मानना होगा। जिन विचारों से वेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् प्रभावित हैं तथा जिन विचारों की वृद्धि कल्पसूत्रों तथा पुराणों में हुई हैं, वे ही विचार मनुस्मृति में दर्शनीय हैं। अत: मनुस्मृति का वर्तमान स्वरूप भले ही दो सौ वर्ष ई. पू. में निर्धारित हुआ है. परन्तु उसका मूल रूप प्राचीनकाल से ही किसी न किसी भाषायी माध्यम के रूप में सुरक्षित रहा होगा। मनुस्मृति के निर्माता के रूप में भृगु का नाम भी लिया जाता है।[1] परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रामक है, क्योंकि 'भृगु स्मृति' तो एक पृथक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ है। 'नारदस्मृति' में मनुस्मृति को किसी भार्गव की कृति माना है। यह तो सम्भव है कि मनु के विचारों को पुस्तक का रूप देने में किसी भार्गव ब्राह्मण का योगदान रहा हो। यथार्थत: मनु के नाम पर अनेक धर्माचार्यों ने मिलकर मनुस्मृति की रचना की है। फिर

1 वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 745.

भी पौराणिक विस्तार के युग में मनुस्मृति की रचना हुई है। विभिन्न विद्वानों ने इसी निष्कर्ष पर मनुस्मृति का रचना-काल दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व स्वीकार किया है।[1]

'मनुस्मृति' में बारह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सृष्टि-रचना का वर्णन हुआ है। ब्रह्मा ने अहंकार तथा महतत्त्व को अपने अधीन करके इस विशाल सृष्टि का निर्माण किया। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक पांच तत्त्वों को क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द नामक तन्मात्राओं से युक्त बताया गया है। सृष्टि के निर्माण के पीछे ईश्वर की कामना को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसी अध्याय में सृष्टि के चार युगों सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग की कालावधि का निर्णय किया गया है। सम्पूर्ण सृष्टि में मानव को सर्वश्रेष्ठ जैविक रचना माना गया है। यथा—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥

—मनुस्मृति, 1/96

दूसरे अध्याय में अभिवादन पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। माता को पिता की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया है। माता-पिता से अधिक गुरु को आदर दिया गया है। ब्राह्मण की श्रेष्ठता ज्ञान से होती है। क्षत्रिय का श्रेष्ठत्व बल के ऊपर निर्भर होता है। वैश्यों को धन-धान्य के आधार पर श्रेष्ठ माना जाता है। शूद्रों में श्रेष्ठता का निर्धारण अवस्था के आधार पर होता है। आचार्य और गुरु के पावन सम्बन्धों को भी इसी अध्याय में स्पष्ट किया है। सहनशीलता, वेदाभ्यास की महिमा, नित्य स्नान तथा तर्पण आदि को भी सम्यक् स्थान दिया गया है। माता-पिता के आदर के विषय में मनु के विचार दर्शनीय है—

यं माता पितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

—मनुस्मृति, 2/226

'मनुस्मृति' के तीसरे अध्याय में आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन किया गया है। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच नामक विवाहों के विषय में युक्तियुक्त प्रकाश डाला गया है। राक्षस तथा पैशाचिक विवाह की निन्दा की गई है। क्षत्रियों के प्रसंग में राक्षस तथा पैशाचिक विवाह का समर्थन किया गया है।[2] वेदज्ञ ब्राह्मण वर को बुलाकर तथा उसकी पूजा करके, कन्या एवं वर को वस्त्रों एवं आभूषणों से सुसज्जित करके विवाह सम्पन्न होने को 'ब्राह्म' विवाह का लक्षण कहा गया है। ज्योतिष्टोम जैसे यज्ञ में विधिपूर्वक कर्म करते हुए ऋत्विक के लिए कन्यादान करना 'दैव' विवाह का लक्षण माना गया है।

1 सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सीरीज, भूमिका, पृ. 97-98.
2 मनुस्मृति, 3/26

आर्ष विवाह वर पक्ष से गाय अथवा बैल को लेकर धर्म-कर्म सम्पादित कराकर कन्यादान कर दिया जाता है। वर-वधू को धर्माचरण का उपदेश देकर विवाह सम्पन्न कराना 'प्राजापत्य' विवाह की विधि मानी गयी है। कन्या पक्ष को यथासम्भव धन देकर कन्या को स्वीकार करना 'आसुर' विवाह माना जाता है। प्रेमपूर्वक या इच्छापूर्वक विवाह को 'गान्धर्व' विवाह का नाम दिया गया है। कन्या पक्ष को पीड़ित करके या कन्या के साथ बलपूर्वक विवाह 'राक्षस' विवाह कहलाता है। छलपूर्वक किसी कन्या के साथ विवाह करना 'पैशाचिक' विवाह माना गया है। इस अध्याय में गृहस्थ के ऊपर विशद् प्रकाश डाला गया है।

मनुस्मृति के चौथे अध्याय में गृहस्थाश्रम के विधि-निषेध का रोचक वर्णन किया गया है। भोजन, वस्त्र-धारण तथा यात्रा आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त नियम-निर्देशन हुआ है। दान लेने तथा दान देने के विषय में भी पर्याप्त विचार किया गया है। यम-नियमादि की भी सविस्तार चर्चा की गई है। चारों वर्णों के अन्न का स्वरूप भी बतलाया गया है। यज्ञादि इष्ट कर्मों का तथा तालाब, कूप, बावड़ी, प्याऊ आदि पूर्त कर्मों की विधियों का उल्लेख किया है।

पंचम अध्याय में मृत्यु, भक्ष्य, अभक्ष्य, आदि का विचार किया है। जो व्यक्ति मांस नहीं खाता है, वह लोकप्रिय होता है तथा व्याधियों से पीड़ित नहीं होता।[2] 'मांस' शब्द की एक रोचक व्युत्पत्ति भी हो गई है। 'मा'—अर्थात् मैं जिसके मांस को यहाँ खाता हूँ, 'सः'—अर्थात् वह मेरे मांस को परलोक में खाएगा। अतः मांस खाना निषिद्ध है। किसी पारिवारिक सदस्य की मृत्यु हो जाने के कारण शुद्धि के समस्त विधानों का भी वर्णन किया गया है। स्त्रियों के अशौच के विषय में भी तर्कसंगत प्रकाश डाला गया है। चतुवर्ण के शुद्धिकाल में भी पर्याप्त विषमताएँ प्रदर्शित की गई हैं। यथा—

शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पंचदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति ।।

—मनुस्मृति, 5/82

मनुस्मृति के छठे अध्याय में वानप्रस्थ आश्रम के कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। जब गृहस्थी व्यक्ति अपने पौत्र का मुख देखले तथा अपने पुत्रों को कार्य में समर्थ देखे तो उसे वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। वानप्रस्थी यज्ञ की आवश्यक सामग्री लेकर ग्राम से बाहर रहे। पंचमहायज्ञ का विधिपूर्वक निर्वाह वानप्रस्थी के लिए आवश्यक है। वानप्रस्थी मृगचर्म, चीर तथा जटा धारण करे।[2] वेदाभ्यास करना, मान-अपमान में समान रहना तथा सभी जीवों पर दया करना वानप्रस्थी के प्रमुख धर्म-कृत्य हैं। वानप्रस्थी के लिए भिक्षान्न पर आश्रित रहना

1 वही, 5/50
2 मनुस्मृति, 6/6

आवश्यक माना गया है। अल्पाहार के आधार पर इन्द्रियों का निग्रह भी आवश्यक माना गया है।

सातवें अध्याय में राजधर्म का विवेचन किया गया है। राजा में इन्द्र, वरुण, अग्नि, कुबेर आदि देवताओं का निवास माना गया है। राजापमान का निषेध मनुस्मृति की महान् देन है। दण्ड से प्रजा को शासित रखना आवश्यक बतलाया गया है। दण्ड के विधान से सोये हुए लोग जागते हैं तथा दण्ड विद्वानों के लिए धर्म रूप होता है। दूत के कार्यों का सविस्तार उल्लेख भी किया है। न्यायोचित वेतन तथा कर-विधान को मनुस्मृति में महत्त्व मिला है। राजमन्त्र की रक्षा के उपायों पर भी विचार किया गया है।

अष्टम अध्याय में सभा के नियमों का वर्णन किया गया है। न्यायालय के नियमों को भी सविस्तार बनाया गया है। असत्य साक्षी देने वाले व्यक्ति को नरक गामी बतलाया गया है। गवाह सत्य से पवित्र होता है। सत्य से धर्म की वृद्धि होती है। अतः गवाहों को सत्याचरण करना चाहिए। यात्रा किराया, क्रय-विक्रय आदि के विषय में भी नियम-निर्देशन किया गया है।

नवम् अध्याय में स्त्री-पुरुष के धर्म की चर्चा की गई है। स्त्रियों के विषय में कहा गया है कि स्त्री की रक्षा बचपन में पिता करता है, युवावस्था में पति करता है तथा वृद्धावस्था में पुत्र करते हैं। अतः स्त्री स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है। यथा—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

—मनुस्मृति, 9/3

स्त्रियों के छः दोष[1] इस प्रकार हैं—मादक द्रव्यों का पान, दुष्टों का संसर्ग पति का वियोग, इधर-उधर विचरण, असामयिक शयन तथा परगृह में निवास। दत्तक पुत्र आदि का विधान भी तर्कपूर्वक विवेचित हुआ है। पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के सभी नियमों का भी प्रतिपादन किया गया है। इस अध्याय में दण्ड-विधान का भी वर्णन हुआ है।

दशम अध्याय में ब्राह्मणों के कार्य तथा क्षेत्र और बीज का वर्णन किया गया है। वर्णसंकट की निन्दा की गई है। धर्मयुक्त धनागम की सात विधियों का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो: लाभ: क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सप्तप्रतिग्रह एव च ॥

—मनुस्मृति, 10/115

शूद्र को मन्त्रहीन धर्मकार्य करने का निर्देश किया गया है। शूद्र को धन-संचय करने का अधिकार नहीं दिया गया है। सेवक शूद्र के लिए जूठे अन्नादि को देना उचित माना गया है।

1 वही, 9/14

ग्यारहवें अध्याय में स्नातकों के धर्म का यथाविधि उल्लेख हुआ है। कन्या, विवाहित युवती, अल्पज्ञ व्यक्ति, मूर्ख, रोगी और यज्ञोपवीत संस्कार से हीन व्यक्तियों को अग्निहोत्र करने का अधिकार नहीं दिया गया है। यदि कोई ब्राह्मण अग्निहोत्र नहीं करता है तो उसे चान्द्रायण व्रत धारण करने से ही शुद्धि प्राप्त होती है। सभी प्रकार के प्रायश्चितों का वर्णन विधिपूर्वक किया गया है। यदि कोई व्यक्ति सूकर का वध करता है तो उसे घी से भरा घड़ा दान करना चाहिए। तीतर का वध हो जाने पर एक सेर तिल दान करना चाहिए। तोते का वध कर देने पर दो वर्ष का बछड़ा और क्रौंच पक्षी का वध होने पर तीन वर्ष का बछड़ा दान में देना चाहिए। यथा—

घृत कुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ।
शुके द्विहायनं वत्सं क्रौंचं हत्वा त्रिहायनम् ।।

—मनुस्मृति, 11/134

चान्द्रायण व्रत[1] में त्रिकाल स्नान करना आवश्यक माना गया है। कृष्ण पक्ष में व्यक्ति प्रतिदिन 1-1 ग्रास भोजन घटाता जाए तथा शुक्ल पक्ष में 1-1 ग्रास भोजन बढ़ाया जाए। चारों वर्णों के तप का भी सम्यक् वर्णन किया गया है।

बारहवें अध्याय में सत्व, रज तथा तम नामक त्रिगुण का विवेचन किया[2] गया है। वेदाभ्यास, ज्ञान, पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, धर्मकार्य और आत्मचिन्तन सतोगुण के लक्षण हैं। कर्म में अरुचि होना, अधीरता, शास्त्रवर्जित कर्म का आचरण तथा विषयों में आसक्ति होना रजोगुण के लक्षण हैं। लोक, निद्रा, अधैर्य, क्रूरता, नास्तिकता, नित्य कर्म का त्याग, माँगने का स्वभाव होना तथा प्रमाद तमोगुणी लक्षण हैं। स्वर्ग नरक, मोक्ष तथा आत्मा के विषय में संक्षिप्त विचार किया गया है।

यथार्थतः मनुस्मृति एक महान् धर्म शास्त्रीय ग्रन्थ है। परन्तु इस ग्रन्थ में ब्राह्मणवाद का एक छत्र राज्य है। आधुनिक युग के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के सम्मुख मनुस्मृति का नारी-पारतन्त्र्य तथा शूद्र-धर्म नहीं ठहर सकता। सृष्टि-रचना के प्रसंग में कुछ अवैज्ञानिकता भी दिखलाई पड़ती है। फिर भी मनुस्मृति में राजदण्ड, शिक्षा, गृहस्थ इत्यादि विषयों पर युक्तियुक्त विचार हुआ है। इसी कारण से मनुस्मृति का आज भी आदर किया जाता है।

अर्थशास्त्र
(Arathshastra)

'अर्थ' वित्त या धन का वाचक शब्द है। जो शास्त्र धन पर शासन या व्यवस्था करना सिखाता है, उसे अर्थशास्त्र का नाम दिया गया है। संस्कृत साहित्य का अर्थशास्त्र आधुनिक 'इकॉनोमिक्स' से अत्यधिक भिन्न है। आधुनिक अर्थ-शास्त्र का केन्द्र-बिन्दु धन है, परन्तु प्राचीन अर्थशास्त्र का केन्द्र-बिन्दु शासन-व्यवस्था है।

1 मनुस्मृति, 11/216
2 वही, 12/31-33

हमारे देश में अर्थशास्त्रियों या राजनीत्याचार्यों की कमी तो नहीं रही, परन्तु दुस्संयोगवश राजनीति के विचारों के प्रामाणिक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। अंग्रेजों ने भारतीय साहित्य को विनष्ट करने का एक और सुन्दर एवं आश्चर्यजनक अभियान चलाया कि समस्त भारतीय वाङ्मय कल्पित है। यहाँ के राम, कृष्ण, चाणक्य, शंकराचार्य आदि सभी कल्पना-पात्र हैं। परन्तु आधुनिक अनुसन्धानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारा प्राचीन साहित्य कल्पित नहीं है। हमें वैदिक साहित्य को रूपक शैली के आधार पर, पौराणिक साहित्य को अतिशयोक्तिपूर्ण शैली के आधार पर तथा ज्योतिष को स्वभावोक्तिपूर्ण शैली के आधार पर ही परखना चाहिए। वस्तुतः गवेषणापूर्ण दृष्टिकोण से यथार्थ की जानकारी हो सकती है।

महाभारत के शान्ति पर्व में 'वैशालाक्ष' नामक ग्रन्थ की चर्चा हुई है। इस ग्रन्थ के प्रणेता आदि देव शंकर थे। 'वैशालाक्ष' ग्रन्थ केवल अर्थशास्त्र न होकर, धर्मशास्त्र भी है। आचार्य पुरन्दर ने 'वहुदन्तक' नामक अर्थशास्त्र की रचना थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बृहस्पति को एक महान् अर्थशास्त्रकार के रूप में याद किया गया है। पौराणिक युग में नारद, शुक्राचार्य एवं बृहस्पति मूर्धन्य अर्थशास्त्रकार हुए हैं। महाभारतकाल में विदुर तथा भीष्म महान् अर्थशास्त्री हुए हैं। भरद्वाज ऋषि को भी महान् अर्थशास्त्री बतलाया गया है। पौराणिक साहित्य में राजनीति की व्यापक चर्चा है। हमारा अर्थशास्त्र राजतन्त्र का ही पक्षधर रहा है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र

इतिहास-पुरुष विष्णुगुप्त ही अपनी कुटिल या पेचीदी नीति के कारण कौटिल्य कहलाए। विष्णुगुप्त के पिता का नाम चणक था, अतएव विष्णुगुप्त को चणक-पुत्र होने के नाते चाणक्य भी कहा गया। आजकल 'चाणक्य' नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य की कूटनीति का एक चमत्कार प्रदर्शित किया गया है। अतः चाणक्य या कौटिल्य कोई कल्पित व्यक्ति न होकर चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु विष्णुगुप्त ही है। चाणक्य ने मगध वंश के राजा नन्द का उन्मूलन करके चन्द्रगुप्त को मगध-सम्राट् बनाया था। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधानमन्त्री था।[1] चन्द्रगुप्त मौर्य का समय 325ई.पू. है। अतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र का रचना-काल तीसरी शती ई.पू. निर्धारित किया जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पण्डित शाम शास्त्री ने कौटिल्य-अर्थशास्त्र को सानुवाद प्रकाशित कराकर उद्धरित किया। आचार्य वात्स्यायन (300 ई.) के 'कामसूत्र' में कौटिल्य को महान् अर्थशास्त्रकार के रूप में आदर दिया गया है। 200 ई.पू. तक अथवा सूत्रकाल की समाप्तिपर्यन्त अर्थशास्त्र (कौटिल्य) समादृत हो चुका था। अतः कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक प्रामाणिक रचना है।

अन्य अर्थशास्त्रकार

नवम शताब्दी में 'बृहस्पति-सूत्र' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ अपने मूल

1 मुद्राराक्षस, अन्तिम अध्याय

रूप में प्राचीन रहा होगा। दशम शताब्दी में आचार्य सोमदेव ने 'नीतिवाक्यामृत' नामक अर्थशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। ग्यारहवीं शताब्दी में धारा नरेश राजा भोज ने 'युक्तिकल्पतरु' तथा चण्डेश्वर ने 'नीतिरत्नाकर' तथा 'नीतिप्रकाशिका' नामक अर्थशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की। बारहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने 'लघ्वर्हनीति' नामक ग्रन्थ की रचना की। इन अर्थशास्त्रकारों के पश्चात् चन्द्रशेखर ने 'राजनीतिरत्नाकर' नामक ग्रन्थ की रचना की। मित्र मिश्र ने 'वीरमित्रोदय' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसका प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत सीरीज (काशी) से हो चुका है। नीलकण्ठ ने 'राजनीतिमयूख' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसकी एक प्रति स्व. बाबू गोविन्ददास, काशी के पुस्तकालय में सुरक्षित है। लक्ष्मीधर ने 'राजनीति कल्पतरु' नामक ग्रन्थ की रचना की। इन अर्थशास्त्रियों के अतिरिक्त अनेक ऐसे अर्थशास्त्रकारों का उल्लेख मिलता है, जिनकी रचनाओं का कोई पता नहीं है। वस्तुतः भारतीय राजनीतिशास्त्र-साहित्य बहुत ही धनी रहा है। परन्तु दुर्भाग्य का विषय यह है कि राजनीति विज्ञान के विचारकों में कौटिल्य और गांधी के अतिरिक्त अभी तक किसी भारतीय राजनीतिक विचारक को विश्व के राजनीतिक विचारकों की शृंखला में स्थान नहीं दिया गया।

अर्थशास्त्र का वर्ण्य-विषय

अर्थशास्त्र के प्रमुख विवेच्य विषय इस प्रकार हैं— 1. राजा तथा मन्त्रियों का स्वभाव, 2. मन्त्रि-परिषद् का निर्माण, 3. मन्त्रणा कक्ष की स्थिति, 4. विधान-रचना, 5. सन्धि-विग्रह।

1. राजा तथा मन्त्रियों का स्वभाव—राजा का धीर, वीर एवं गम्भीर होना आवश्यक माना गया है। कौटिल्य ने राजमन्त्रि-मण्डल के लिए यह आवश्यक माना है कि वह सभी व्यक्तियों की बातों को सुने एवं किसी की अवमानना न करे। किसी बच्चे के भी अर्थपूर्ण वाक्य को कार्य में लेने वाले राजनीतिविद् ही पण्डित या चतुर होते हैं। यथा—

न कतिचदवमन्येत सर्वस्य श्रणुयान्मतम्।
बालस्याप्यर्थवद् वाक्ययुपयुञ्जीत पण्डित ॥

कौटिल्य ने यह भी आवश्यक माना है कि राजनीतिविद् स्वभावतः महापारखी होना चाहिए। उसे मित्र को भी पूर्ण विश्वास की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। यदि मित्र कभी कुपित हो जाएगा तो वह समस्त रहस्य को स्पष्ट कर देगा। मन्त्रियों में राष्ट्र के लिए समर्पणशीलता अपरिहार्य है। मन्त्रियों के लिए राष्ट्र आत्मा के समान होता है तथा उन्हें राष्ट्र-आत्मा के हित के लिए सब कुछ त्याग करने के लिए तत्पर रहना चाहिए—'आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत।' आचार्य शुक्र ने शत्रु का प्रतिकार न करने वाले कायर राजा की भर्त्सना करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार सर्प चूहों को निगल जाता है तथा जैसे प्रवास न करने वाला ब्राह्मण भ्रष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कदर्य-स्वभाव का राजा नष्ट हो जाता है—

1 आश्वलायन गृह्यसूत्र, 3, 12, 16

द्वावेव ग्रसते भूमिः सर्पो विलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धरं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥

अतः राजा को नितान्त निर्भीकमना होना चाहिए। मनुस्मृति में उन सभासदों को मृतकप्राय बताया गया है, जो धर्म को धर्म तथा अधर्म को अधर्म नहीं कह सकते। धर्म की रक्षा करने वाले व्यक्ति की रक्षा धर्म द्वारा होती है तथा अधर्मी व्यक्ति अपने अधर्म के भार से ही नष्ट हो जाता है। राजा तथा उसके मन्त्रियों को धर्मपरायण, विवेकशील तथा सहज निर्भीक होना चाहिए।

2. **मन्त्रि-परिषद् का निर्माण**—कौटिल्य ने राज्य के विकास के लिए कुछ विभाग बनाए। मन्त्रि-परिषद् में कितने मन्त्री होने चाहिएँ, इस समस्या का समाधान भी युक्तिपूर्वक किया गया है। आचार्यमनु ने मन्त्रि-परिषद् में बारह मन्त्रियों की संख्या निर्धारित की। आचार्य बृहस्पति ने मन्त्रिमण्डल की सदस्य संख्या सोलह निर्धारित की। आचार्य शुक्र ने इस संख्या को बीस तक पहुँचा दिया है। आचार्य कौटिल्य ने सर्वाधिक युक्त संगत मत प्रस्तुत करके मन्त्रि-परिषद् की सदस्य संख्या के निर्धारण हेतु केवल यही कहा कि मन्त्रियों की संख्या यथा सामर्थ्य या यथावश्यकता होनी चाहिए। यथा—

'मन्त्रि-परिषदं द्वादशामात्यान् कुर्वीत' इति मानवाः ।
'षोडश' इति बार्हस्पत्याः ।
'विंशतिम्' इत्यौशनसाः ।
'यथासामर्थ्यम्' इति कौटल्यः । —कौटिलीय अर्थशास्त्र

कौटिल्य ने राजा को अकेले ही निर्णय लेने से विनाशोन्मुख सिद्ध किया है। यदि राजा मन्त्रि-परिषद् में से भी कुछ मन्त्रियों को साथ लेकर मन्त्रणा करता है तो उससे मन्त्र की गोपनीयता बनी रहती है। राजा के लिए यह भी आवश्यक है कि वह मन्त्रियों की योग्यता के अनुसार उन्हें विभाग सौंपे।

3. **मन्त्रणा-कक्ष की स्थिति**—कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि राजा की योजना का भेद पशु-पक्षियों के आचरण से भी स्पष्ट हो सकता है—अर्थात् मन्त्रणा करने वाले मन्त्री अपने व्यवहार में कभी-कभी प्रमादवश अपनी गुप्त नीति को प्रकट कर बैठते हैं। अतः मन्त्रणा-कक्ष ऐसे स्थान पर होना चाहिए, जहाँ अन्य कोई भी व्यक्ति न कुछ सुन सके और न कुछ देख सके। जिस प्रकार एक कच्छप अपने अंगों को अपनी कमठ में ही छिपा लेता है, उसी प्रकार सभी मन्त्री मन्त्रणा-कक्ष में छिप जाने चाहिएँ। जिस प्रकार एक अवेयज्ञ ब्राह्मण श्राद्ध-भोग के लिए अनुपयुक्त रहता है, उसी प्रकार राजनीति को न जानने वाले अपने पक्ष के व्यक्ति से मन्त्रणा करना तथा उसे मन्त्रणा के विषय में सुनाना अनुपयुक्त होता है। यथा—

नास्य गुह्यं परे विद्युः छिद्रं विद्यात्परस्य च ।
गूहेत् कूर्म इवांगानि यत्स्यात् विवृतमात्मनः ॥
यथा ह्यश्रोत्रियः श्राद्धं न सतां भोक्तुमर्हति ।
एवमश्रुतशास्त्रार्थो न मन्त्रे श्रोतुमर्हति ॥

4. **विधान-रचना**--कानून का निर्माण करने के लिए प्रजाहित की जानकारी अति आवश्यक है। राजा को उपस्थित या निकटवर्ती व्यक्तियों के साथ कार्यों को देखकर मन्त्र या कानून-रचना के विषय में सोचना चाहिए। जो व्यक्ति अनुपस्थित या दूर हैं, उनके विषय में अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से पत्राचार द्वारा जानकारी प्राप्त करके विधान बनाना चाहिए। विधान बनाते समय पाँच तत्त्वों को ध्यान में रखना चाहिए। सर्वप्रथम वैधानिक कार्य-प्रारम्भ करने के उपायों के विषय में सोचना चाहिए। द्वितीय अपनी सैन्य-शक्ति तथा धन को ध्यान में रखकर ही कानून बनाना चाहिए। तृतीय स्थान और समय के अनुसार ही कानून निर्मित करना चाहिए। चतुर्थ विघ्नों के विनाश की सम्भावनाओं का अनुमान करके ही विधान विनिर्मित करना चाहिए। पंचम कार्य सिद्धि को ध्यान में रखकर ही कानून को अन्तिम रूप देना चाहिए। राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह मन्त्र-सिद्धि के पाँचों अंगों के विषय में अपने मन्त्रियों से विचार-विमर्श करे। किसी भी कानून को बनाते समय विधिवेत्ताओं से विचार-विमर्श करना चाहिए। कानून-रचना के परिप्रेक्ष्य में निर्धारित समय का ध्यान रखना चाहिए। मन्त्रणा के समय शत्रु-पक्ष को कमजोर करने का ध्यान रखना चाहिए। कौटिल्य ने मन्त्रियों को या सांसदों को अथवा राजा के प्रतिनिधियों की आँखों को राजा की ही आँखें बतलाया है। उदाहरण के लिए इन्द्र की सभा में पाँच सौ सभासद थे, अतएव इन्द्र सहस्राक्ष था। यथा—

"इन्द्रस्य मन्त्रिपरिषदृषीणां सहस्रम्। तच्चक्षुः। तस्मादिमं द्वयक्षं सहस्राक्षमाहः।"

—कौटलीय अर्थशास्त्र

मन्त्रणा के समय राजा कम से कम दो-तीन मन्त्रियों को साथ ले। अधिक मन्त्रियों को साथ लेने से बहुमत का प्रश्न उठता है। यदि राजा अकेला ही मन्त्र-सिद्धि का प्रयास करता है तो वह तानाशाह बन सकता है। मन्त्र-चिन्तन के लिए अपने पक्ष के चिन्तन के साथ प्रतिपक्ष का चिन्तन आवश्यक है।

5. **सन्धि-विग्रह**—कौटिल्य ने सन्धि-विग्रह के सम्बन्ध में अपना अनुभव व्यक्त किया है। कौटिल्य ने नन्द का उन्मूलन करने के लिए अनेक राजाओं से सन्धि की थी, परन्तु चन्द्रगुप्त को एक महान् सम्राट् बनाने के लिए उसने विग्रह या संघर्ष का पथ अपना लिया था। कौटिल्य ने अपने भागुरायण जैसे विनीत शिष्यों को राजा पर्वतक के पुत्र मलयकेतु के राज्य में भेज दिया था। ये सभी सेनापति कम वेतन मिलने का आरोप लगाकर मलयकेतु की शरण में चले गए थे—यह कौटिल्य की कुटिल नीति थी। नन्द का प्रधान मन्त्री राक्षस भी चाणक्य से बदला लेने के लिए कमर कसे हुए था। परन्तु चाणक्य ने अपनी कूटनीति का प्रयोग करके मलयकेतु को सहायता देने वाले राजाओं में ही विग्रह करा दिया। मलयकेतु और राक्षस पकड़े गए तथा चन्द्रगुप्त को एक महान् सम्राट् घोषित कर दिया गया। चाणक्य ने सिल्यूकस को पराजित करने के लिए भी सन्धि-विग्रह की नीति का सफल परिचय दिया। राजा को अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए सामन्तों की संख्या में वृद्धि करनी चाहिए। अपने पड़ोसी महाप्रतापी राजा से सन्धि करना सफल राजनीति है। राजा

की दृष्टि में जो प्रतिपक्षी राजा कंटक-तुल्य चुभता है, उसको समूल नष्ट करने के लिए विग्रह-नीति को अपनाना चाहिए। जब शत्रु के साथ विग्रह शुरू हो जाए तब तक विग्रह-नीति का भेद नहीं खुलना चाहिए। अतः राजा की चिकीर्षा की जानकारी केवल कार्यरूपता द्वारा ही मिलनी चाहिए। यथा—

तस्मान्नास्य परे विद्युः कर्म किंचिच्चिकीर्षितम्।
आरब्धारस्तु जानीयुरारब्धं कृतमेव वा॥

गुप्त-साम्राज्य के महान् सम्राट् समुद्रगुप्त की नीति उत्खात-स्थापन की थी। समुद्रगुप्त जिस राजा को पराजित करता था, उसे या उसके प्रतिनिधि को ही सन्धिबद्ध करके तद्राज्य का शासन-सूत्र सौंप देता था। अतः इस नीति के माध्यम विग्रहजन्य असन्तोष को दूर करने का श्रेय सन्धि-स्थापक को मिलता था। कौटिल्य के परवर्ती अर्थशास्त्रकारों ने दुर्बल राजा को सिंहासनच्युत करने की नीति पर भी विचार किया है।

भारतीय अर्थशास्त्रकारों ने जनमत को पक्ष में रखने की नीति पर भी विशेष बल दिया। भारतवर्ष में केन्द्रीय शक्ति की स्थापना के प्रयास अनेक अर्थशास्त्रकारों की कृतियों में सुस्पष्ट हैं। राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञ केन्द्रीय शक्ति की संस्थापना के ही राजकार्य थे। चाणक्य नीति में केन्द्रीय शक्ति के निर्माण की स्वस्थ धारणा का उल्लेख है—

त्यजेदेकं कुलार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

अलंकार शास्त्र
(Poetics)

ईसा की छठी शताब्दी में भामह तथा दण्डी जैसे आचार्यों की अलंकार-परम्परा का प्रवर्तन हुआ। इस परम्परा में अलंकारों का इतना विवेचन हुआ कि काव्य की आत्मा के रूप में अलंकार प्रसिद्ध हो गए। सभी सम्प्रदायों के आचार्यों ने अलंकार-तत्त्व का विवेचन किया। इन सभी कारणों के फलस्वरूप काव्य-शास्त्र को अलंकार शास्त्र नाम से जाना गया। अलंकार में छः सम्प्रदाय भी प्रवर्तित हुए। काव्य-शास्त्र के छः सम्प्रदायों—1. रस-सम्प्रदाय, 2. ध्वनि-सम्प्रदाय, 3. अलंकार-सम्प्रदाय, 4. रीति-सम्प्रदाय, 5. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय तथा 6. औचित्य-सम्प्रदाय के आधार पर अलंकार शास्त्र का इतिहास भी सरलतापूर्वक जाना जा सकता है।

1. रस-सम्प्रदाय—रस के रहस्य की चर्चा छान्दोग्योपनिषद् में ही कर दी गई है—'सर्वेषां भूतानां पृथिवी रसः।''''ऋचः साम रसः। साम्नः उद्गीथो रसः।' रस-सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय आचार्य भरत को है। भरत का समय द्वितीय शताब्दी निर्धारित है। इनका 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ रस-विवेचन के लिए पहला प्रामाणिक ग्रन्थ है। आचार्य भरत ने नाटक के आठ रसों की चर्चा की है—

शृंगार हास्य करुणा रौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्सादभुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः॥

आचार्य भरत के रस-निष्पत्ति विषयक सूत्र को लेकर भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त जैसे आचार्यों ने रस की दार्शनिक व्याख्याएँ भी कीं। आचार्य भरत का उल्लेख्य सूत्र यह है—'विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रस निष्पत्तिः।' अर्थात् विभाव, अनुभव तथा संचारी भावों के संयोग से रस व्युत्पन्न होता है। आचार्य भट्टलोल्लट, जिनका कि रसवादी आचार्यों के ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है, कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इन्होंने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के परिप्रेक्ष्य में रसोद्रेक पर विचार किया है। इन्होंने भावोत्पत्ति तथा रस की प्रतीति या आरोप पर बल दिया है। इनके रसवादी सिद्धान्त को 'उत्पत्तिवाद' या 'आरोपवाद' नाम दिया गया है। इन्होंने रस का प्रेक्षक की दृष्टि से विचार नहीं किया।

आचार्य शंकुक ने रस की व्याख्या-न्यायदर्शन के सन्दर्भ में की। इनका रस-सिद्धान्त 'अनुमतिवाद' के नाम से जाना जाता है। आचार्य शंकुक ने रस को विचित्रानुभूति सिद्ध किया। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार रस की विचित्रता का उल्लेख शंकुक की मान्यताओं के फलस्वरूप आरम्भ हुआ। शंकुक ने रस की व्याख्या करते समय 'चित्रतुरंगन्याय' की कल्पना की है। शंकुक ने रस के इतिहास में सामाजिकों की अनुभूति को भी महत्त्व दिया। यथा—

'रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशंकुकः।'

शंकुक का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' तथा आचार्य अभिनवगुप्त के 'अभिनव भारती' ग्रन्थ में शंकुक को रस का आचार्य बताया है। यदि शंकुक का ग्रन्थ उपलब्ध होता तो रस को कोई नई दिशा अवश्य मिलती है।

रस के तीसरे महान् व्याख्याकार भट्टनायक हुए हैं। भट्टनायक ने रस-सम्प्रदाय में साधारणीकरण नामक विशिष्ट तत्त्व को सम्मिलित किया। इन्होंने सांख्य दर्शन के आधार पर 'भुक्तिवाद' का प्रवर्तन किया। रस की आनन्दमयता को स्पष्ट करने के लिए भट्टनायक ने रस को सतोगुण से उत्पन्न माना। इन्होंने रस के इतिहास में 'व्यंजना' के स्थान पर 'भावकत्व व्यापार' को तथा रसानुभूति या उत्पत्ति के स्थान पर 'भुक्ति' का प्रयोग किया। भट्टनायक दशवीं शताब्दी से पूर्व के आचार्य माने जाते हैं।

दशवीं शताब्दी में आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' नामक ग्रन्थ लिखकर रस के स्वरूप को स्पष्ट किया। इनका रस-सिद्धान्त 'अभिव्यक्तिवाद' के नाम से जाना जाता है। रस अभिव्यक्त होता है, उत्पन्न नहीं। अभिनवगुप्त ने रसास्वाद के वैचित्र्य का उल्लेख करते समय उसे 'पानक रस' की संज्ञा दी। प्रत्यभिज्ञा या शैव दर्शन के आधार पर रस को अभिव्यक्त सिद्ध किया गया। इन्होंने रस को निर्विघ्न प्रतीतिग्राह्य' माना है। अभिनवगुप्त को रस के क्षेत्र में सर्वाधिक सम्मान मिला है।

आचार्य धनंजय ने दशवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अभिनवगुप्त की रसवादी मान्यता का खण्डन करके भट्टनायक की मान्यता का कुछ मण्डन किया। ये ध्वनि

विरोधी आचार्य थे। इनका 'दशरूपक' नाट्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में रस के विषय में भी विचार किया गया है। इनके रसास्वाद की मान्यता का स्वरूप द्रष्टव्य है—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः।।

—दशरूपक, 4/1

एकादश शती के उत्तरार्द्ध में आचार्य मम्मट ने ध्वनि के सन्दर्भ में रस पर भी विचार किया। इन्होंने शान्त रस को रस नहीं माना। इसकी लोकोत्तरता को सिद्ध करने के लिए आचार्य मम्मट का विशेष योगदान है। काव्यप्रकाश के आधार पर रस के चार आचार्यों—लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त की धारणाओं पर प्रकाश डालने का अद्भुत श्रेय मम्मटाचार्य को ही है।

बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आचार्य हेमचन्द्र के दो शिष्यों—रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र ने रस को सुख-दुःखात्मक सिद्ध किया। इनका 'नाट्य दर्पण' ग्रन्थ उल्लेखनीय है। 'नाट्यदर्पण' में अन्ततः रस के वैचित्र्य को स्वीकार किया गया है। यथा—कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते।। —हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ. 292

14वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' नामक काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। विश्वनाथ ने रस को महत्त्व देने के लिए रस की परिभाषा देते समय रसपूर्ण वाक्य को ही काव्य कहा—'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्।' आचार्य विश्वनाथ ने रसास्वाद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सहृदयों के अन्तःकरण के रति जैसे स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के द्वारा व्यक्त होकर रसरूपता को प्राप्त करते हैं—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्।। —साहित्य दर्पण

साहित्य दर्पणकार ने रस के वैचित्र्य को सिद्ध करने के लिए पूर्ववर्ती रसवादी आलोचकों के मत का निष्कर्ष इस प्रकार दिया है—

सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।

उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर रस का स्वरूप बिन्दुतः इस प्रकार जाना जा सकता है—

1. रस सतोगुण के उद्रेक से आस्वाद्य होता है।
2. रस अपने आप में अखण्ड होता है।
3. रस स्वयं प्रकाशित रहता है, अर्थात प्रकाश स्वरूप होता है।
4. रस का चैतन्य रूप में अनुभव होता है।

5. रसानुभूति के समय अन्य सभी भाव विलीन हो जाते हैं।
6. रसास्वाद ब्रह्मानन्द की भांति मधुर होता है।
7. रस अलौकिक एवं मूलतः चमत्कारी होता है।
8. रस सहृदयों के द्वारा आत्माकार के रूप में अनुभूत किया जाता है।

सत्रहवीं शताब्दी में पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रस-गंगाधर' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रंथ में रस की विस्तारपूर्वक मीमांसा की गई है। जगन्नाथाचार्य ने अद्वैतवाद के सन्दर्भ में रस की व्याख्या की। इनका मत सारांशतः इस प्रकार हैं—"काव्य और नाटक में कवि और नट के द्वारा विभावादि के रूप में व्यंजना शब्द-शक्ति के व्यापार से दुष्यन्त एव शकुन्तला आदि प्रकाशित किए जाते हैं या प्रस्तुत किए जाते हैं। उन्हीं विभावादी को देखकर सहृदय अपने हृदय के विशेष भाव रूपी दोष के महत्त्व द्वारा कल्पित दुष्यन्तादि में चितवृत्ति की तल्लीनता के आवार पर स्वात्मा के ऊपर अन्य ज्ञान का आवरण न होने पर साविभाष्य के द्वारा रत्यादि भावों के अनिर्वचनीय रूप में उत्पन्न होने से रसरूपता को प्राप्त करते हैं।"

अतः आचार्य जगन्नाथ ने चित्तवृत्ति की तल्लीनता के आधार पर रस के वैचित्र्य को अधिक स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने 'साविभाष्य' के आधार पर यह भी स्पष्ट करना चाहा है कि जिस प्रकार सीपी में रजत की अनिर्वचनीय प्रतीति होती है, उसी प्रकार कल्पित विभावादि के प्रस्तुतीकरण के आवार पर अनिर्वाच्य रस की प्रतीति होती है। जगन्नाथ ने अद्वैतवाद के आधार पर काव्यानुभूति को भी अज्ञान रूप माना है। इनके रसवाद का सारांश यह है—

'भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः।'—अर्थात् अज्ञान-रूप आवरण से मुक्त शुद्ध चैतन्य का विषयगत रत्यादि स्थायी भाव ही रस है।

रस-सिद्धान्त

आचार्य भरत के 'विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र के आधार पर रस-सिद्धान्त परिपक्वता को प्राप्त हुआ है। रस के अवयवों को लेकर साधारणीकरण को आधार बनाकर रस-निष्पत्ति का निरूपण रस-सिद्धान्त का प्रमुख विषय रहा है। आचार्य भरत के पश्चात् लोलट्ट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त जैसे आचार्यों ने रस-निष्पत्ति को आधार बनाकर रस-सिद्धान्त का विकास करने में जो योगदान दिया, उसका वर्णन हम रस-सम्प्रदाय के सन्दर्भ में कर चुके हैं। यहाँ हम रस-सिद्धान्म की प्रमुख सामग्री पर ही संक्षिप्त प्रकाश डाल रहे हैं।

रस के अवयव

विभाव, अनुभाव, संचारीभाव तथा स्थायी भाव रस के अवयव कहलाते हैं। विभाव को रस की उत्पत्ति का मूल कारण बताया जाता है। विभाव विषयीगत तथा विषयगत नामक दो रूपों में देखा जाता है। रस का अनुभव करने वाले विभाव को 'आश्रय' कहा जाता है। यदि दुष्यन्त को शकुन्तला के सौन्दर्य को देखकर प्रेम का अनुभव करता बताया जाए तो हम दुष्यन्त को रस का आश्रय कहेंगे। विषयगत

रूप में विभाव दो प्रकार का होता है। प्रथम भेद आलम्बन कहा जाता है तथा द्वितीय भेद उद्दीपन नाम से जाना जाता है। भक्त के लिए भगवान् का सौन्दर्य एवं अनुपम चरित्र भक्ति-रस के क्षेत्र में आलम्बन ही कहा जाएगा। राम के लिए सीता की छवि आलम्बन ही कहा जा सकता है। हृदय के स्थायी भाव को उद्दीप्त करने वाले कारण को उद्दीपन विभाव कहा जाता है। प्रेमी के उर में एकान्त स्थान प्रेम को उद्दीप्त करता है।

प्रेम या रति की अनुभूति शारीरिक चेष्टाओं से स्पष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अन्य स्थायी भावों के सन्दर्भ में जानना चाहिए। रसानुभूति की पहचान कराने वाले भाव अनुभाव कहे जाते हैं। सात्विक अनुभाव स्वेद, रोमांच, वैवर्ण्य, कम्पन आदि के रूप में होते हैं तथा समस्त शारीरिक चेष्टाएँ कायिक अनुभाव के रूप में गिनी जाती हैं। अनुभाव रस की अभिव्यक्ति के तत्काल पश्चात् उत्पन्न होते हैं।

जो भाव थोड़ी देर तक व्यक्त होकर विलीन हो जाते हैं, उन्हें संचारी भाव कहते हैं। संचारी भावों की संख्या 33 कही गई है। निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, अवहित्था, गर्व, दैन्य, अमर्ष, वितर्क, मति आदि संचारी भाव हैं। विभिन्न रसों से विभिन्न संचारी भावों का पृथक्-पृथक् सम्बन्ध रहता है।

जो भाव हृदय में सदैव विद्यमान रहते हैं, स्थायी भाव कहलाते हैं। रसों के क्रम से स्थायी भावों का रूप इस प्रकार हैं—

	रस	स्थायी भाव
1.	शृङ्गार	रति
2.	हास्य	हास
3.	करुण	शोक
4.	रौद्र	क्रोध
5.	वीर	उत्साह
6.	भयानक	वीभत्स
7.	वीभत्स	जुगुप्सा
8.	अद्भुत	विस्मय
9.	शान्त	शम
10.	भक्ति	भगवद् रति
11.	वात्सल्य	संतान रति

रस निष्पत्ति–रसास्वाद को लेकर जो शास्त्रार्थ चला, उसकी एक ऐतिहासिक झाँकी प्रस्तुत की जा चुकी है। रस-निष्पत्ति के क्षेत्र में सबसे अधिक महत्त्व साधारणीकरण को मिला। यहाँ साधारणीकरण का संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है–राम तथा दुष्यन्तादि विशेष पात्रों के अनुभव को जनसाधारण का अनुभव बना देने की कला का नाम साधारणीकरण है। भट्टलोलट्ट ने साधारणीकरण के विषय में नायक, कवि तथा श्रोता या पाठक के अनुभव की एकाकारता को महत्त्व

दिया है—'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।' हिन्दी काव्यशास्त्र में इसी सिद्धान्त को लेकर डॉ. नगेन्द्र ने कवि की अनुभूति के साथ तालमेल को ही साधारणीकरण का मूल केन्द्र बताया है। वस्तुतः कवि या साहित्यकार अपने पात्रों को जिन-जिन रूपों में जिस-जिस प्रकार से व्यक्त करेगा, पाठकों को तदनुसार अनुभूति होगी। यही अनुभूति साधारणीकरण के द्वारा होती है। अतः साधारणीकरण रस की पीठिका है। संस्कृत अलंकारशास्त्र में साधारणीकरण के विषय में इतना विचार हुआ है कि उससे रसास्वाद की आनन्दमयता सुस्पष्ट हो जाती है।

करुण रस की आनन्दमयता—करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। शोक दुःखजन्य होता है, परन्तु उससे साहित्य के क्षेत्र में आनन्द प्राप्त होता है, यही रस का वैचित्र्य है। आचार्य विश्वनाथ ने इस विषय में बहुत ही स्पष्ट लिखा है—

करुणादावपि जायते यत परमं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥—साहित्य दर्पण

करुण रस के आस्वाद के सन्दर्भ में पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भय और दया के सन्तुलन पर बल दिया गया है। हिन्दी काव्यशास्त्र में जीवन की संतुलित संवेदना को काव्य में चित्रित होने के फलस्वरूप करुण रस को भी आनन्दमय सिद्ध किया है। इस सन्दर्भ में डॉ. नगेन्द्र के विचार द्रष्टव्य हैं—

"जीवन के कटु अनुभव भी काव्य में, अपने आधारभूत संवेदनों के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते हैं।"

—डॉ. नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका (तृ. सं.) पृ. 64

रस-संख्या—संस्कृत साहित्य की धारा में ग्यारह रसों को मान्यता मिली है। ये ग्यारह रस इस प्रकार हैं—1. शृङ्गार, 2. हास्य, 3. करुण, 4. रौद्र, 5. वीर, 6. भयानक, 7. वीभत्स, 8. शान्त, 9. अद्भुत, 10. वात्सल्य तथा 11. भक्ति-रस। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में शान्त रस को छोड़ कर अन्य प्रारम्भिक आठ रसों को मान्यता मिली। दशवीं शताब्दी में धनन्जय ने 'दशरूपक' ग्रंथ लिखकर काव्य की दृष्टि से शान्त रस के अस्तित्व को नवम रस के रूप में स्वीकार किया। 14वीं शती में आचार्य विश्वनाथ ने अपने सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' में 'वात्सल्य' को दशम रस के रूप में स्वीकार किया। हिन्दी साहित्य की कृष्ण-भक्ति शाखा के कवि सूरदास ने वात्सल्य रस का अनूठा चित्रण किया है। आचार्य मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में भक्ति के सन्दर्भ में केवल इतना ही कहा है कि देवादि से सम्बद्ध रति केवल एक संचारी भाव है—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः।
भावः प्रोक्तः॥

आगे चलकर महाप्रभु चैतन्य द्वारा प्रचारित भक्ति-सिद्धान्त को गौड़ीय वैष्णवों ने समर्थन प्रदान किया। कालान्तर में वैष्णवों ने भक्ति-रस को आदिरस के रूप में प्रतिष्ठित किया। श्रीरूप गोस्वामी के 'भक्तिरसामृत सिन्धु' तथा 'उज्ज्वल

नीलमणि' नामक ग्रन्थों में भक्ति-रस का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। भक्ति-रस का स्थायी भाव भगवत्‌विषयक रति है। अतः 'भक्ति-रस' ग्यारहवाँ रस है। इन ग्यारह-रसों के अतिरिक्त कुछ अन्य रसों की उद्‌भावना भी की गई है। नवम शताब्दी में आचार्य रुद्रट ने 'प्रेयान' रस की कल्पना की। गौड़ीय वैष्णवों ने 'मधुर-रस' की भी कल्पना की है। अतः रसों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

रसराज

रसराज के प्रश्न पर अत्यधिक विवाद रहा है। रसराज की समस्या से सम्बद्ध प्रमुख विवाद निम्नलिखित हैं—

भवभूति और करुण रस का रसराजत्व—आचार्य कवि भवभूति ने सप्तम शताब्दी में 'उत्तररामचरित' नामक नाटक की रचना करके करुण रस को मूल रस के रूप में मान्यता देकर उसका उदाहरण भी उक्त नाटक के रूप में प्रस्तुत किया। आचार्य भवभूति के ये शब्द द्रष्टव्य है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त बुदबुद-तरंगमयान् विकारान्
अम्भो यथा, सलिलमेव तु तत् समग्रम्॥

—उत्तररामचरित, तृतीय अंक

अर्थात् मुख्य रस करुण ही है। अन्य शृङ्गारादि रस कारणों–विभावादि के भेद से उसी प्रकार पृथक्-पृथक् रूप में प्रतीत होते हैं, जिस प्रकार जल की मूल धारा में तरंगें, भँवर तथा बुलबुले जल के ऊपर होने पर भी अलग-अलग प्रतीत होते हैं।

यद्यपि करुण रस के रसराजत्व को लेकर पर्याप्त आलोचना हुई है।[1] परन्तु हमें करुण रस के रसराजत्व की पुष्टि में बौद्ध दर्शन के आधार पर बहुत कुछ कहने में संकोच नहीं करना चाहिए। करुण रस को रस-सम्राट् घोषित करने के कुछ तर्क इस प्रकार दिए जा सकते हैं—

1. संसार में करुणा की प्रधानता निर्विवाद है।
2. साहित्यिक संवेदना का अटूट सम्बन्ध करुणा से ही है।
3. करुणा सहानुभूति का मूल स्रोत है।
4. सभी रसों का मार्मिकता से स्पष्ट सम्बन्ध है।
5. साहित्यिक करुण रस सहानुभूति के ही कारण आनन्दजन्य होता है।

शान्त रस का रसराजत्व—दशवीं शताब्दी में आचार्य अभिनवगुप्त ने रस को दार्शनिक कसौटी पर कसा। उन्होंने अपने ग्रंथ 'अभिनव भारती' में शान्तरस को प्रधान या अंगी तथा मूलरस घोषित किया है। दूसरी शताब्दी में आचार्य भरत ने शान्तरस की महिमा पर जो प्रकाश डाला था, उसी को अभिनवगुप्त ने शान्तरस

1 अलौकिक-विभावत्वं नीतेभ्यो रतिलीलया।
सदुत्पत्या च सुखं तेभ्यः स्यात् स व्यक्तमिति स्थितिः॥
—श्रीरूप गोस्वामी : भक्तिरसामृतसिंधु, 2/5/106

के रसराजत्व का प्रमुख आधार बनाया। आचार्य भरत ने शान्त रस को मूल रस कहा है तथा सभी रस व्यक्त होकर उसी में विलीन हो जाते हैं। यथा—

स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्ताद् भावः प्रवर्तते।

पुनर्निमित्ता पाये च शान्त एवोपलीयते ।।—नाट्यशास्त्र, अध्याय 6

अभिनवगुप्त ने शैव दर्शन के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि शान्त रस का सम्बन्ध संवित् सागर शिव से है। समूचे विश्व के दर्शन में इस तत्त्व से बढ़कर कोई खोज नहीं हो सकी है। शिव-तत्त्व आनन्द का अखण्ड और अनन्त समुद्र है। वही तत्त्व या महाशान्ति अन्य रसों के रूप में विभिन्न निमित्तों को पाकर प्रतिविम्बित हो जाती है। प्रत्यभिज्ञावादी शैव दार्शनिक हृदय को अष्टदल कमल की उपमा द्वारा सम्बोधित करते हैं। आठों स्थायी भाव—रति, हास, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा तथा विस्मय रस हृदय-कमल के आठ दल हैं। शान्त रस का स्थायी भाव 'शम' है। जहाँ 'रति' नामक स्थायी भाव समरसता को प्राप्त हो जाता है, वह शान्तरस अद्वितीय रस है। इस पुस्तक के लेखक ने भी शान्त रस को रसराज घोषित करते हुए लिखा है—

शान्त रस-धारा केवल मूल
अन्य रस ऊर्मि तरंग समान;
होकर प्रकट क्षिप्र तिरोहित
मिलते मूल धारा में अम्लान। —शिवचरित, पृ. 13

महाकवि जयशंकर प्रसाद ने समरसता की दुहाई देते हुए, शान्त रस की अनिर्वचनीय स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था। —कामायनी, आनन्दसर्ग

दार्शनिक आधार पर शान्तरस को रसराज घोषित करने में किसी विद्वान् को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यथार्थतः सभी रस आनन्दानुभूति की दृष्टि से समान हैं।

शृङ्गार रस का रसराजत्व—शृङ्गार रस के संयोग तथा विप्रलम्भ नाम से दो पक्ष होते हैं। इसका स्थायी भाव रति है। संसार की सृष्टि का कारण रति ही है। इसलिए बारहवीं शताब्दी में आचार्य भोजराज ने 'शृङ्गारप्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना की तथा तर्क के आधार पर यही सिद्ध किया कि शृंगार रस ही रसराज है। यथा—

शृङ्गार वीर करुणाद्भुत रौद्रहास्य
वीभत्सवत्सल भयानक शान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः ॥

आधुनिक युग में 'काम' को महत्त्व देकर शृङ्गार रस का रसराजत्व सिद्ध किया गया है। शृङ्गार के पक्षधर एक मूल चीज को भूल जाते हैं। मूल विन्दु यह है कि 'रति' नामक भाव का आनन्द भी आनन्दधारा का अंशमात्र है। शान्त रस का केन्द्र ईश्वर ही मूल रस है। अतः 'रसो वै सः' जैसी उक्तियों को विस्मृत करके हम इधर-उधर के नगण्य तत्त्वों के आधार पर शृङ्गार रस को रसराज सिद्ध करने की हठ करते हैं। हिन्दी के आचार्य कवि केशवदास ने शृङ्गार रस की मूर्ति कृष्ण में सभी रसों को देखने की सुन्दर कल्पना की है। परन्तु आचार्य केशव यह भूल गए हैं कि उनके कृष्ण शृङ्गार की मूर्ति न होकर मूलतः शान्तरस की ही मूर्ति हैं। अतः शृंगार शान्त रस की आंशिक अभिव्यक्ति मात्रा है। श्रीकृष्ण का दार्शनिक रूप शान्त रस का ही पोषक है। यथा—

> अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः ॥
> परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।
> नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
> मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
>
> —गीता, 7/24–25

अद्भुत रस का रसराजत्व—आचार्य विश्वनाथ के पूर्वज नारायण पण्डित ने अद्भुत रस को मूल रस माना है। रस अपने आप में अद्भुत है। अतः रसराजत्व के निर्धारण में अद्भुत रस की ओर ध्यान जाना बहुत कुछ युक्तिसंगत है। साहित्य से अद्भुत तत्त्वों के समावेश से ही कुतूहल उत्पन्न होता है। आचार्य कुन्तक (दशवीं शती) ने काव्य की परिभाषा देते समय विदग्धता को महत्त्व दिया है—'वैदग्ध्यभंगी भणितिः'। फिर भी अद्भुत ईश्वर का स्वरूप शान्त-प्रशान्त ही है। अतः दार्शनिक कसौटी पर शान्त रस के अतिरिक्त अन्य किसी रस का रसराजत्व त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है। अतः जो बात आचार्य भरत ने कही तथा जो दर्शन में मान्य है, उससे पीछे हटना मूर्खता मात्र है।

संस्कृत आलोचना में रस की उपयोग विधि

रस को काव्य की आत्मा मानने के कारण संस्कृत आलोचना में रस की उपयोग विधि को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। संस्कृत आलोचना में रस-समावेश के परीक्षण के प्रमुख विन्दु इस प्रकार हैं—

रसों का समावेश करने के सन्दर्भ में आचार्यों का यह मत है कि किसी महाकाव्य में शृंगार, वीर, शान्त जैसे रसों में से कोई रस अंगी रस होना चाहिए तथा अन्य रस अंगभूत रसों के रूप में प्रयुक्त होने चाहिएँ। नाटक में केवल शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत तथा वीभत्स नामक आठ रसों का प्रयोग ही सम्भव माना गया है। शान्त रस अभिनय का विषय नहीं हो सकता, अतः उसे नाटक में स्थान नहीं देना चाहिए।

किसी कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह शाश्वत सत्य को प्रकट करने के

लिए अपने भावों को इस रूप में प्रस्तुत करे कि पाठक या श्रोता उसके द्वारा प्रस्तुत पात्रों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करते हुए साधारणीकृत स्थिति में पहुँचकर काव्य का रसास्वादन करते रहे। इस विषय में कहा भी है—"नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।" रस अभिव्यक्ति में अलंकार का संतुलित प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण बिन्दु है।

विभिन्न रसों से विभिन्न अनुभावों, स्थायी भावों तथा संचारी भावों का सम्बन्ध रहता है। अतः उनका ध्यान रखकर ही काव्य में रस-सामग्री को स्थान दिया जाता है। यदि कवि वीर रस का समावेश करता है तो उसके लिए यह आवश्यक कि वह अपने काव्य में वीर हृदय के पात्रों को प्रस्तुत करके उनके हृदय के स्थायी भाव को जगाने के लिए समुचित प्रतिपक्ष को प्रस्तुत करे। यदि प्रतिपक्ष की उदात्तता का चित्रण नहीं होगा तो काव्य में वीर रस हास्यास्पद स्थिति को पहुँच जाएगा अथवा 'नहीं गजारि जरु वधे शृगाला' उक्ति चरितार्थ हो जाएगी। भारतीय आलोचनाशास्त्र में रूपक का प्रणेता तथा काव्य का रचयिता कवि ही माना जाता है। अतः कोई कवि किस प्रकार से अपने नाटक या काव्य को सरस बना पाता है, उसके लिए विशिष्ट स्थितियों का प्रतिपादन किया गया है।

रस-मैत्री तथा रस-विरोध नामक सिद्धान्त भी रस की उपयोगविधि का प्रमुख पहलू है। शृंगार और हास्य, वीर और रौद्र मित्र रसों के रूप में जाने जाते हैं। करुण और शान्त, वीर और भयानक रस विरोधी रसों के उदाहरण हैं। इसी प्रकार से कुछ संचारी भाव भी विशिष्ट रसों से ही सम्बद्ध रहते हैं। यदि कोई कवि रस के ऐसे उपयोग को भुलाएगा तो वहाँ उसके काव्य में रस-दोष उत्पन्न हो जाएगा। स्थायी भाव को व्यक्त न दिखाकर शब्दतः प्रस्तुत किया जाता है। तो 'स्वपदवाच्यत्व' दोष माना जाता है। देवता, माता-पिता आदि की रति को शृंगार की प्रतिवादिता का विषय बना देने से रस का व्याघात माना जाता है। अतः संस्कृत आलोचना में रस उपयोग विधि अत्यन्त विस्तृत है।

ध्वनि सम्प्रदाय

नवम् शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ की रचना द्वारा ध्वनि-सम्प्रदाय को जीवित करके ध्वनि-सिद्धान्त को मण्डित किया। आचार्य आनन्दवर्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे। 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ के ऊपर दशवीं शताब्दी में आचार्य अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक लोचन' नामक प्रामाणिक टीका की। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति यत्पूर्वैः सूरिभिः कथितः।'

प्रत्येक अक्षर की एक ध्वनि होती है। जब अनेक ध्वनियों के योग से शब्दों का निर्माण होता है तथा वे शब्द प्रतीयमानार्थ को प्रस्तुत करने में समर्थ सिद्ध होते हैं; तो वे ध्वनि कहलाते हैं। ध्वन्यालोककार ने लिखा भी है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरित सूरिभिः कथितः॥

अर्थात् 'जहाँ अर्थ या शब्द या दोनों अपने आपको प्रतीयमानार्थ के लिए समर्पित कर देते हैं तथा प्रतीयमानार्थ के माध्यम से जो काव्य व्यक्त होता है, उसी को विद्वानों ने ध्वनि या ध्वनि काव्य कहा है।' आचार्य आनन्दवर्धन ने 'सूरिभिः कथितः' पदबन्ध से यह स्पष्ट कर दिया है कि ध्वनि के विषय में आचार्य पहले ही से विचार कर रहे हैं। अतः प्रतीयमानार्थ ही ध्वनि है। शब्द से अर्थ स्फुटित होता है, अतः वह स्फोट ही ध्वनि है। इसीलिए ध्वनि-सम्प्रदाय का सम्बन्ध व्याकरण शास्त्र के स्फोटवाद से भी जोड़ा जाता है। 'स्फुटति अर्थः अस्माद् इति स्फोटः' शब्द से अर्थ का फूटना ही स्फोट है। स्फोटवाद शब्द को नित्य सिद्ध करके उसे अर्थाभिव्यक्ति में पूर्ण समक्ष सिद्ध करता है। पतंजलि के महाभाष्य में इस रहस्य पर तर्कपूर्वक प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः 'शब्द' शब्दायमान होने से ध्वनि का ही व्यंजक है। अतः ध्वनि व्यक्त होती है। वह नित्य है। वह प्रतीति का विषय है।

ध्वनि-विरोधी सिद्धान्त

ध्वन्यालोककार को मुख्यतः तीन प्रकार के मतवादी आचार्यों के विरोध का सामना करना पड़ा। ध्वनि-विरोधी तीन सिद्धान्त इस प्रकार हैं—1. अभाववादी, 2. भक्तिवादी तथा 3 अलक्षणीयवादी।

1. अभाववादी—छठी शताब्दी में अलंकारवादी आचार्य भामह ने 'शब्दार्थौ काव्यम्'—अर्थात् शब्दार्थ ही काव्य है, कहकर काव्य के रहस्य को प्रकट किया था। आगे चलकर अलंकारवादी आचार्यों ने इस सिद्धान्त के मण्डन हेतु अपनी मेधाशक्ति को समर्पित कर दिया। अतः अलंकारवादी आचार्यों ने काव्य के रहस्य को अलंकारों के माध्यम से ही व्यक्त करने का प्रयास किया। उन्होंने अलंकारों के विवेचन के साथ-साथ गुण, वृत्ति तथा रीति आदि काव्य-तत्त्वों पर भी प्रकाश डाला। ऐसे अलंकारवादी आचार्यों ने 'ध्वनि' नामक किसी काव्य-तत्त्व की सत्ता को स्वीकार तक नहीं किया। अतः ध्वनि की सत्ता को स्वीकार न करने के कारण उनके ध्वनि-विरोधी सिद्धान्त को 'अभाववादी' नाम मिला।

दूसरे परम्परावादी अलंकाराचार्यों ने अलंकारों को ही आनन्द-दायक सिद्ध किया। इनका मत यह है कि जब से काव्य-धारा प्रवाहित है, तभी से अलंकार सहृदयों को आनन्द-विभोर करते आ रहे हैं। अतः ऐसे आनन्ददायी अलंकार-तत्त्व से पृथक् किसी 'ध्वनि' नामक काव्य-तत्त्व की कल्पना करना मूर्खता मात्र है।

तीसरे अभाववादी आचार्यों ने छठी शताब्दी के आचार्य दण्डी के मत को प्रमाण-स्वरूप मानकर यही कहा कि अलंकारों का क्षेत्र असीम है। अलंकारों की रहस्यात्मकता का पूर्णरूपेण विवेचन असम्भव है—

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षेत।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्येंन वक्ष्यति॥ —काव्यादर्श

ऐसे आचार्यों ने अलंकारों को सर्वाधिक महत्त्व देकर उनके समक्ष किसी काव्य-सम्प्रदाय को प्रकाशित होने से रोकना चाहा। ऐसे आचार्य ध्वनि को अलंकारों में ही अन्तर्भूत मानते हैं। इनका मत है कि या तो ध्वनि है ही नहीं, यदि वह है

भी तो उसका अन्तर्भाव अलंकारों में ही हो जाता है, क्योंकि अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे अलंकारों में प्रतीयमानार्थ की प्रधानता रहती है।

भक्तिवादी—'भक्ति' शब्द लक्षणा का वाचक है। भक्ति शब्द का अर्थ-तोड़ना या पृथकता भी है। जब किसी शब्द को तोड़कर या दूसरे ही रूप में लिया जाता है तो लक्षणा शब्द-शक्ति मानी जाती है। यथा—'भो रक्तपेन्ट ! अत्रागच्छ।' वाक्य में किसी लाल पेन्ट को आने के लिए कहा गया है। लाल पेन्ट तो किसी की बात सुनने में असमर्थ है, परन्तु लालपेन्टधारी व्यक्ति उससे जुड़ा रहने के कारण उसको समझ लेता है। अतः यही लक्षणा शब्द शक्ति है। लक्षणा दो प्रकार की होती है—रूढ़िवती तथा प्रयोजनवती। प्रयोजनवती लक्षणा का क्षेत्र बहुत ही व्यापक माना गया है। अतः प्रयोजनवती लक्षणा में भी गूढ़ार्थ को प्रकट करने की शक्ति विद्यमान रहने से लक्षणा से भिन्न किसी 'ध्वनि' नामक तत्त्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। यह भक्तिवादियों का मत है।

अलक्षणीयवादी—अलक्षणीयवादियों का कहना है कि 'ध्वनि' नामक तत्त्व को परिभाषित नहीं किया जा सकता। वह केवल अनुभवगम्य है। उसका शब्दों के द्वारा वर्णन असम्भव है। अतः ध्वनि को अनिर्वचनीय मानकर उसके काव्य-तत्त्व की मान्यता को ही संदिग्ध मान लिया गया है।

आधुनिक काव्यशास्त्र के इतिहास में उपर्युक्त तीनों ही मतों का युक्तियुक्त खण्डन करके ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः अलंकारवादी परम्पराप्रेमी या रूढ़िवादी होने के कारण आगे विचार नहीं कर सके। लक्षणा ही शब्द-शक्ति की सीमा नहीं है, अतः व्यंजना शब्द-शक्ति ध्वनि का स्रोत है। अलक्षणीयवादियों का यह कथन भी ठीक नहीं है कि ध्वनि अनुभवगम्य ही है, वह शब्दों के द्वारा चित्रित नहीं हो सकती। क्योंकि अर्थालंकारों का सम्बन्ध भी अनुभव से ही है। स्वयं आनन्दवर्धन ने अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार को अलंकार न कहकर ध्वनि कहा है। ध्वनिवादियों के अनुसार ध्वनि के भेदों में एक भेद अलंकार ध्वनि भी है।

ध्वनि-विरोधी बारह सिद्धान्तों या तत्वों का विवेचन मिलता है, जिनका विश्लेषण इस प्रकार है—(1) तात्पर्य शब्द शक्तिवादी (अभिहितान्वयवादी मीमांसक, (2) अभिधावाद, (अन्विताभिधानवादी मीमांसक), (3) जहत्स्वार्थलक्षणा, (4) अजहत्स्वार्थालक्षणा, (5) स्वार्थानुमान, (6) परार्थानुमान, (7) अर्थापत्ति, (8) तन्त्र, (9) मासोशक्ति, (10) रसकार्यता (भट्टलोल्लट), (11) भोगवादी (भट्टनायक) तथा (12) व्यापारान्तर बाधन (अलक्षणीयवादी),

विरोधों की निराकृति—ध्वन्यालोककार ने ध्वनिवाद के विरोधियों को अपनी निम्न युक्तियों से शान्त करके ध्वनि-सिद्धान्त प्रतिपादित किया—

> बोद्धृ स्वरूप संख्या निमित्त कार्य प्रतीतिकालानाम्।
> आश्रय विषयादीनां भेदात् भिन्नोऽभिधेयतो व्यंग्यः॥

ध्वनि-सिद्धान्त व्यंग्य पर आधारित है। अतः व्यंग्यार्थ अभिधार्थ या वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से अग्रांकित कारणों के फलस्वरूप भिन्न है—

1. ज्ञाता—वाच्यार्थ का ज्ञाता व्याकरणविद् होता है, परन्तु व्यंग्यार्थ का ज्ञाता काव्य-मर्मज्ञ भी होता है। अतः बोद्धा या ज्ञाता के भेद के कारण ध्वनि का अस्तित्व है।

2. स्वरूप—वाच्यार्थ सकारात्मक होता हुआ भी व्यंग्य की प्रधानता के कारण नकारात्मक बन जाता है। इसका वैपरीत्य भी सम्भव है। अतः ध्वनि अलग ही तत्त्व है।

3. संख्या—वाच्यार्थ से केवल एक ही व्यक्ति को एक ही रूप में सम्बोधित किया जाता है, परन्तु प्रतीयमानार्थ विभिन्न वर्गों को एक साथ विभिन्न रूपों में प्रेरित करता है। यथा—'गतोऽस्तमर्कः'—'सूर्यास्त हो गया' प्रतीयमानार्थ विद्यार्थी, कर्मचारी, भक्त आदि को भिन्न-भिन्न रूपों मे प्रेरित करता है।

4. निमित्त—वाच्यार्थ का करण या साधन व्याकरण है, परन्तु व्यंग्यार्थ तो देश, काल, प्रकरण आदि भिन्न-भिन्न निमित्तों से प्रतीत हुआ करता है।

5. कार्य—वाच्यार्थ का कार्य अर्थ को स्पष्ट करना मात्र है, परन्तु व्यंग्यार्थ अर्थ की चमत्कारिक प्रतीति कराता है।

6. प्रतीतिकाल—वाच्यार्थ की प्रतीति तत्काल होती है, परन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति कुछ विलम्ब से होती है। अतः काल-भेद के कारण व्यंग्यार्थ भिन्न तत्त्व है।

7. आश्रय—वाच्यार्थ का आधार शब्द है, परन्तु व्यंग्यार्थ में शब्दार्थ की संघटना का सम्मिश्रण रहता है।

8. विषय—वाच्यार्थ का विषय एक होता है, परन्तु व्यंग्यार्थ एक ही साथ अनेक विषयों को संकेतित कर सकता है।

ध्वनि में सभी काव्य तत्त्वों का समावेश—आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि-तत्त्व के तीन भेद किए हैं—वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि तथा रस ध्वनि। इस त्रिभेदीय ध्वनि के अतिरिक्त गुणीभूत व्यंग्य तत्त्व का भी प्रतिपादन आचार्य मम्मट (11वीं शताब्दी) ने अपने काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ में किया है। अतः रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्य नामक सभी गूढ़ काव्य-तत्त्व ध्वनि में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। यहाँ हम संक्षेपतः ध्वनि-सम्प्रदाय के इतिहास के आधार पर ध्वनिवादी अलंकार शास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करना चाहते हैं।

वस्तु ध्वनि—आचार्य आनन्दवर्धन ने वस्तु-तत्त्व के प्रतिपादन में व्यंग्य की प्रधानता दिखाकर अभिधावादी मीमांसकों के मत का निराकरण कर दिया है।

यथा— भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छ कुञ्जवासिना हस्तसिंहेन ॥

यहाँ किसी चंचला ने किसी संन्यासी को हटाने के लिए यह व्यंग्य किया है कि अरे धार्मिक व्यक्ति! आप गोदावरी नदी के तटवर्ती कुंज में सानन्द विचरण करो, क्योंकि जो कुत्ता आपको परेशान करता था, उसे किसी खूँखार सिंह ने मार

दिया है। अतः सिंह के भय से संन्यासी तदुक्त कुंज को त्याग देगा, यही अभीप्सित है। इसीलिए अभिधावादी आचार्यों के मत का व्यंग्यार्थ के चमत्कारिक प्रतिपादन से निराकरण हो जाता है।

अलंकार ध्वनि—काव्यशास्त्र में शताधिक अलंकारों का विवेचन है। आचार्य आनन्दवर्धन ने आलंकारिक व्यंग्य के आधार पर अलंकारवादियों के मत को निराकृत करके ध्वनि-सिद्धान्त का मण्डन किया है। यथा—

यावन्नकोशविकासं प्राप्नोति ईषत् मालती कलिका।
मकरन्दपानलोभयुक्तभ्रमर ! तावदेव मर्दयसि ॥

अर्थात्— नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहकाल।
अलि, कली ही सों वँध्यो, आगे कौन हवाल ॥

—विहारी

यहाँ प्रस्तुत प्रेमी की ओर अप्रस्तुत भ्रमर तथा कली के सम्बन्ध से अप्रस्तुत प्रशंसा अथवा अन्योक्ति अलंकार-स्वरूप व्यंग्यार्थ ही चित्रित है। अतः यहाँ अलंकार ध्वनि व्यंग्यार्थ ही है, वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं।

रस ध्वनि—काव्यशास्त्रोक्त विभिन्न रसों का सम्बन्ध व्यंजना व्यापार से है, वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से नहीं। अतः रस ध्वनि के अन्तर्गत सभी रसों का समावेश हो जाता है। अतः रस ध्वनि ध्वनि-सम्प्रदाय का प्राण है, हमें यह भी विस्मृत नहीं करना चाहिए। दशम शताब्दी के आचार्य अभिनवगुप्त ने रस को काव्य की आत्मा माना था। वस्तुतः रस और ध्वनि दोनों ही तत्त्व अभिव्यक्त होने के कारण काव्य की आत्मा हैं। फिर भी ध्वनि-तत्त्व रस-तत्व की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अतः ध्वनि काव्य की आत्मा है।

प्रतीयमानार्थ का स्वरूप—ध्वनिवादियों ने प्रतीयमानार्थ को वाणी का विचित्र तत्त्व मानकर उसे इस रूप में कहा है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥

अर्थात् महाकवियों की वाणी में प्रतीयमानार्थ सभी प्रसिद्ध काव्य-तत्त्वों के होने पर भी कुछ अन्य ही तत्त्व है, जो स्त्रियों के लावण्य की भाँति विचित्र रूप में ही व्यक्त हुआ करता है। अतः शारीरिक गठन, आभूषण, रंग आदि से अलग लावण्य-तत्त्व कोई विचित्र तत्त्व ही है। जिस प्रकार लावण्य हमारे व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ में काव्य की रमणीयता व्यक्त रहती है। इसी प्रसंग में ध्वन्यालोककार ने समासोक्ति, आक्षेप, विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति तथा संकर आदि अलंकारों में वाच्यार्थ की प्रधानता सिद्ध करके प्रतीयमानार्थ का स्वरूप प्रतिपादित किया है। अतः प्रतीयमानार्थ व्यंग्यार्थ ही है।

एकादश शताब्दी में 'काव्यप्रकाश' के प्रणेता आचार्य मम्मट का उदय ध्वनिवादी आचार्य के रूप में हुआ। आचार्य मम्मट कश्मीर के निवासी थे। उन्होंने

काव्यप्रकाश में ध्वनि-भेदों का सविस्तार वर्णन किया है। उन्होंने ध्वनि अलंकार को निम्न बिन्दुओं के आधार पर विकसित किया है—

(1) व्यंजना शब्द-शक्ति की स्वतन्त्रता, (2) व्यंजना के भेदोपभेद, (3) ध्वनि का विस्तार।

आचार्य मम्मट ने मीमांसकों तथा बौद्धों आदि के मतों का खण्डन करके व्यंजना शब्द-शक्ति की स्वतन्त्रता मण्डित की है। उन्होंने 'गंगायां घोष:' उदाहरण के आधार पर लक्ष्यार्थ की सीमा निर्धारित करके व्यंजना शब्द-शक्ति का क्षेत्र निश्चित कर दिया है। 'गंगा में घोष' या घर' जैसे वाच्यार्थ की कोई संगति नहीं बैठती, क्योंकि गंगा के प्रवाह में किसी झोंपड़ी का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। अत: गंगा नदी के तट पर किसी का घर है, यही लक्ष्यार्थ है। परन्तु 'गंगायां घोष:' पदबन्ध में गंगा के तटवर्ती घर में उसकी शीतलता का व्यंग्यार्थ भी छिपा हुआ है। अत: लक्षणा लक्ष्य को प्रकट कर करती है, परन्तु तन्निहित व्यंग्य को नहीं। अत: लक्षणावादियों का यह भ्रम था कि वे लक्ष्य और प्रयोजन दोनों को ही लक्षणा से सिद्ध करके व्यंग्यार्थ को नहीं मानते थे। अतएव व्यंजना शब्द-शक्ति अर्थ प्रतिपादन की चरम सीमा है। इसीलिए आचार्य मम्मट ने तीन प्रकार का काव्य माना है—(1) उत्तम काव्य (ध्वनिकाव्य), (2) मध्यम काव्य (गुणीभूत व्यंग्य काव्य) तथा (3) अधम काव्य (चित्र काव्य)। अत: इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य मम्मट ने ध्वनि-सम्प्रदाय से सम्बद्ध समस्त आक्षेपों का प्रबल खण्डन किया है।

आचार्य मम्मट ने व्यंजना शब्द-शक्ति को शाब्दी व्यंजना तथा आर्थी व्यंजना के रूप में विभाजित किया है। यह वर्गीकरण शब्दार्थ के आधार पर किया गया है। अलंकारवादी आचार्य भी शब्द और अर्थ को लेकर अलंकारों का विवेचन करने के लिए आगे बढ़े हैं। व्यंजना के भेदोपभेद इस प्रकार हैं—

शब्द द्वारा व्यंग्य को प्रकट करना शाब्दी व्यंजना कहलाता है। शाब्दी व्यंजना के चौदह भेद किए गए हैं–(1) संयोग, (2) विप्रयोग, (3) सहाचर्य, (4) विरोध, (5) अर्थ, (6) प्रकरण, (7) लिंग, (8) शब्दान्तरसन्निधि, (9) सामर्थ्य, (10) औचित्य, (11) देश (12) काल, (13) व्यक्ति, (14) स्वर।

अर्थ-व्यंग्य को आर्थी व्यंजना कहा जाता है। इसके दश भेद हैं—(1) वक्तृ-वैशिष्ट्य, (2) बोद्धव्य-वैशिष्ट्य, (3) काकु-वैशिष्ट्य, (4) वाक्य-वैशिष्ट्य, (5) वाच्य वैशिष्ट्य, (6) अन्यसन्निधि, (7) प्रस्ताव, (8) देश, (9) काल तथा (10) अन्यविधि। आचार्य मम्मट ने शब्द एवं अर्थ के आधार पर व्यंजना के भेदोपभेदों को अच्छा विस्तार देकर व्यंजना का स्वतन्त्र अस्तित्व ही सिद्ध नहीं किया है, अपितु उसके क्षेत्र को भी अतिशय व्यापक सिद्ध कर दिया है। मम्मट का व्यंजना वर्णन तर्कसंगत है।

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रन्थ में ध्वनि के दस हजार चार सौ पचपन भेदों का उल्लेख किया है—'शरेषुयुगखेन्दव' मम्मट ने लक्षणामूलक ध्वनि

को अविवाक्षित वच्य-ध्वनि तथा अभिधामूलक ध्वनि को विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के नाम से पुकारा है। काव्यप्रकाशकार ने शब्द-शक्तिमूलक तथा अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि-भेदों को संकर और संसृष्टि जैसे अलंकार-व्यंग्यों से मिश्रित करके ध्वनि-भेदों को आशातीत विस्तार दे दिया है। अतः ध्वनि विस्तार की दृष्टि से आचार्य मम्मट ने ध्वनि-सम्प्रदाय को अभूतपूर्व योगदान दिया है।

गुणीभूत व्यंग्य—गौण व्यंग्य का नाम गुणीभूत व्यंग्य है। प्रधान व्यंग्य ध्वनि है तथा अप्रधान व्यंग्य गुणीभूत व्यंग्य। आचार्य मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य को आठ भेदों में विभाजित किया है—(1) अगूढ़ व्यंग्य, (2) अपरांग व्यंग्य, (3) वाच्यसिद्धयंग व्यंग, (4) अस्फुट व्यंग्य, (5) सन्दिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य, (6) तुल्य-प्राधान्य व्यंग्य, (7) काक्वाक्षिप्त व्यंग्य, (8) असुन्दर व्यंग्य। गुणीभूत व्यंग्य में वाच्यार्थ की प्रधानता रहती है।

आचार्य मम्मट का ध्वनि-सम्प्रदाय को योगदान—मम्मट का कीर्ति-केन्द्र एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' है। इस ग्रन्थ में आचार्य महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक ग्रन्थ के प्रबल ध्वनि-विरोधी तर्कों को युक्तिपूर्वक निराकृत किया है। महिमभट्ट ने ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत गिना था। परन्तु अनुमान तो ज्ञान का साधन है, जबकि ध्वनि प्रमाण से बढ़कर तत्त्व है या प्रमाण है। अतः आचार्य मम्मट ने ध्वनि को तर्क संगत रूप देकर ध्वनि-सम्प्रदाय को प्रामाणिक बना दिया। इसीलिए परवर्ती आचार्यों ने ध्वनि का सम्मान किया है।

आचार्य विश्वनाथ—'साहित्य दर्पण' ग्रन्थ में रस, ध्वनि, अलंकार, गुण, वृत्ति, रीति, शब्द-शक्ति आदि की युक्तियुक्त मीमांसा हुई। रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने ध्वनि की भी मीमांसा की है। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के आन्तरिक तत्त्व के रूप में ध्वनि को पर्याप्त सम्मान दिया है। वस्तुतः दशवीं शताब्दी में ही रस और ध्वनि को काव्य के आन्तरिक तत्त्व के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। इसीलिए रसवादी तथा ध्वनिवादी आचार्यों ने रस और ध्वनि को बिना किसी विवाद के समर्थन प्रदान किया है।

आचार्य जगन्नाथ—सत्रहवीं शताब्दी में शाहजहाँ से सम्मान प्राप्त आचार्य जगन्नाथ ने 'रस-गंगाधर' नाम से काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ ध्वनि-सम्प्रदाय का अन्तिम प्रौढ़ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में काव्य के सभी तत्त्वों की प्रौढ़ मीमांसा मिलती है। आचार्य जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा ध्वनि और रस के सन्दर्भ में ही दी है—'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'—अर्थात् रमणीयार्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है। वस्तुतः आचार्य आनन्दवर्धन का प्रतीयमानार्थ रमणियों के लावण्य की भाँति विचित्रता को लेकर अलंकार शास्त्र के मंच पर चमका था तथा आचार्य जगन्नाथ की काव्य-परिभाषा भी उसी रमणीयता को लेकर ध्वनि-पोषक रूप में साहित्य शास्त्र के मंच पर अवतीर्ण हुई है। रस गंगाधरकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जो ध्वनि अलंकारों के चमत्कार के रूप में इधर-उधर

ग्रस्त-व्यस्त थी ग्रथवा भटकी हुई थी, उसी को ग्राचार्य ग्रानन्दवर्धन ने ध्वनि के रूप में व्यवस्थित किया है—

"ध्वनिकृतामालंकारिक-सरणि-व्यवस्थापकत्त्वात् ।"

—रसगंगाधर

ध्वनि-विरोधी ग्राचार्य—कश्मीर निवासी ग्राचार्य मुकुलभट्ट ने ग्रपने 'ग्रभिधा वृत्तिमातृका' ग्रन्थ में ध्वनि के ग्रस्तित्व तक को झकझोर दिया है। ग्रापने ध्वनि को लक्षणा के ग्रन्तर्गत ही परिगणित किया है। प्रतिहारेन्दुराज ने ध्वनि को ग्रलंकार के ग्रन्तर्गत माना है। ग्राचार्य भट्टनायक ने रस को भावकत्व व्यापार से सम्बद्ध करके व्यंजना के ग्रस्तित्व को ही स्वीकार न करके ध्वनि का विरोध किया है। इनका ग्रन्थ 'सहृदय-दर्पण' है। ग्राप एक महान् रसवादी ग्राचार्य थे। ग्राचार्य कुन्तक (दशवीं शताब्दी) ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' ग्रन्थ में ध्वनि को वक्रोक्ति का ही रूप बतलाया है। ग्राचार्य महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ में ध्वनि को ग्रनुमान के ग्रन्तर्गत गिनने की पेशकश की गई है।

यथार्थतः ध्वनि-सम्प्रदाय ग्राज रस-सम्प्रदाय के समान संप्रतिष्ठित है। रस ग्रौर ध्वनि दोनों ही साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रख्यात रहे हैं। हिन्दी काव्यशास्त्र में ध्वनि को एक महान् काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय के रूप में सम्मनित किया गया है। ऐसा लगता है कि रस ग्रौर ध्वनि तत्त्वतः एक ही वस्तु के दो नाम हैं। रस ग्रौर ध्वनि दोनों ही व्यंजना के व्यापार हैं।

ग्रलंकार-सम्प्रदाय

'ग्रलंकार' शब्द का ग्रर्थ है—ग्राभूषण। जिस प्रकार शरीर की या व्यक्ति की शोभा ग्रलंकार को धारण करने से बहुगुणित होती है, उसी प्रकार काव्य-शरीर की शोभा ग्रलंकारों से ग्रनेक गुणी होती है। रसवादियों के ग्रत्रोक्त सिद्धान्त की परवाह न करके ग्रलंकारवादियों ने ग्रलंकार को काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है। यथार्थतः काव्य का तत्त्व ग्रलंकार शारीरिक ग्राभूषणों के समान नहीं है। ग्रलंकार शैलीगत तत्त्व है ग्रौर शैली में ग्रान्तरिक तत्त्व—व्यक्तित्व की प्रधानता होती है। 'स्टाल इज दा मैन हिमसेल्फ' सिद्धान्त ग्रलंकार सम्प्रदाय के ऊपर चरितार्थ होता है। इसीलिए ग्रालंकारिकों ने ग्रलंकार तत्त्व में सभी तत्त्वों का समावेश किया है। यहाँ हम ग्रलंकार सम्प्रदाय का इतिहास इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत कर रहे हैं।

भामह—ग्रलंकार-सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय ग्राचार्य भामह को ही है। ग्राचार्य भामह के पिताजी रक्रिल गोमी थे। भामह की जन्मभूमि कश्मीर मानी गई है। बौद्ध न्याय के ग्राचार्य धर्मकीर्ति के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर भामह ग्राचार्य दिङ्नाग (छठी शताब्दी) से प्रभावित जान पड़ते हैं। ग्रतः भामह छठी शताब्दी के ही ग्राचार्य थे क्योंकि धर्मकीर्ति सप्तमशती के ग्राचार्य मान्य हैं। ग्राचार्य भामह के सामने ग्राचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित चार ग्रलंकार थे—यमक, उपमा, रूपक तथा दीपक। ग्राचार्य भरत (द्वितीय शती) ने ग्रपने नाट्यशास्त्र में 36 लक्षणों की भी चर्चा भी है, उन्हें ग्राधार बनाकर भी ग्रलंकारों का विकास

किया गया। आचार्य भरत का रस-तत्त्व भी 'रसवत्' अलंकार बन गया। आचार्य भामह ने 'काव्यालकार' नामक आलकारिक ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने काव्य की परिभाषा देते समय 'शब्दार्थौ काव्यम्' कहा तो परवर्ती आचार्यों ने शब्द और अर्थ को आधार बनाकर ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति आदि सम्प्रदायों को ही प्रवर्तित कर दिया। भामह ने काव्यालंकार के दूसरे तथा तीसरे परिच्छेद में अलंकारों का परिचय दिया है। भामह ने भरत द्वारा वर्णित दश गुणों को काव्य के तीन गुणों-माधुर्य, ओज तथा प्रसाद में ही अन्तर्भाव कर दिया। परवर्ती आचार्यों ने भामह के सिद्धान्त का अनुगमन किया है। भामह अलंकार-सम्प्रदाय के ही प्रवर्तक न होकर अलंकार शास्त्र के स्वतन्त्र प्रवर्तक के रूप में भी सम्मान्य हैं। इन्होंने वक्रोक्ति को अलंकारों का प्राण माना है।

दण्डी—दण्डी का स्थितिकाल सप्तमी शताब्दी है। इन्होंने 'काव्यादर्श नामक आलंकारिक ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने काव्य की शोभा विवर्द्धित करने वाले तत्त्वों को अलंकार कहकर रसवाद, ध्वनिवाद आदि के लिए मार्ग साफ कर दिया। क्योंकि जब काव्य के शोभाकारी तत्त्व अलंकार हैं तो वे बाह्य तत्त्व ही रहे। अतएव काव्य का आन्तरिक तत्त्व तो कुछ और ही रहा। परन्तु आचार्य दण्डी ने अलंकारों की व्याप्ति को असीमता अवश्य प्रदान की।

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यपि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ।।

—काव्यादर्श

आचार्य दण्डी ने अलंकारों के साथ रीति-तत्त्व पर भी सुन्दर प्रकाश डाला है।

उद्भट—आचार्य उद्भट अलंकार शास्त्र के अलंकारवादी आचार्यों में उल्लेखनीय हैं। आप कश्मीर नरेश जयापीड की सभा के पण्डित थे। आपने 'काव्यालंकारसार संग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की। उद्भटाचार्य का स्थितिकाल अष्टमशती का उत्तरार्द्ध है। उद्भट ने अलंकारों का वैज्ञानिक विवेचन किया है। उद्भट के विशेष सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(1) अर्थभेद से शब्द-भेद की कल्पना, (2) शब्द-श्लेष तथा अर्थ-श्लेष को अर्थालंकारों में ही परिगणित करना, (3) अन्य अलंकारों के योग में श्लेपालंकार की प्रबलता का प्रतिपादन करना, (4) वाक्य का तीन प्रकार से अभिधा व्यापार, (5) अर्थ की दो प्रकार की कल्पना—विचारित-सुस्थ तथा अविचारित रमणीय, (6) काव्य-गुणों को संघटना का धर्म मानना। इनके अलंकार ग्रन्थ में अलंकारों का विशद विवेचन है। पहले उद्भटाचार्य को ही अलंकार-सम्प्रदाय का पहला प्रामाणिक आचार्य माना जाता था। वस्तुतः अलंकारों का इतना विस्तृत विवेचन पहले-पहल उद्भटाचार्य ही ने किया।

रुद्रट—आचार्य रुद्रट ने नवम् शताब्दी में 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में वक्रोक्ति नामक अलंकार की विचित्र उद्भावना की। इन्होंने 'वक्रोक्ति' को शब्दालंकार के

रूप में प्रस्तुत किया। इन्होंने पहली बार अलंकारों का वैज्ञानिक विभाजन किया। शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार नामक अलंकार-भेद के साथ ही अर्थालंकारों के भी अनेक तर्कमूलक भेद किये गये। आचार्य रुद्रट ने प्रतीयमानार्थ का विवेचन करने के लिए 'भाव' नामक नवीन अलंकार की कल्पना की। रुद्रटाचार्य ने वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष को अलंकार का मूल तत्त्व माना है। आचार्य रुद्रट का अलंकार-सम्प्रदाय को उनकी मौलिक उद्भावना का विशिष्ट योगदान है।

अग्निपुराण—11वीं शती में अग्निपुराण में अलंकारों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए यह बताया गया है कि जिस प्रकार अग्नि अनुष्ण नहीं हो सकती, उसी प्रकार काव्य का भी अलंकारों के बिना कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। यथा—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमलंकृती॥

परन्तु यह उक्ति अब जयदेव के चन्द्रालोक की ही मानी जाती है। अग्निपुराण में अलंकारों को विशेष महत्त्व दिया है। वस्तुतः अग्निपुराण एक विभिन्न विद्या कोष है।

रुय्यक—बारहवीं शताब्दी में कश्मीर नरेश राजा जयसिंह के समकालीन के रूप में रुय्यक का नाम उल्लेखनीय है। रुय्यक ने 'अलंकार-सर्वस्व' नामक आलंकारिक ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने 75 अर्थालंकारों तथा 6 शब्दालंकारों का वर्णन किया है। अतः अलंकार सर्वस्व में अलंकार संख्या 81 तक पहुँच गई है। रुय्यक ने विचित्र तथा विकल्प जैसे अलंकारों की उद्भावना करके अपनी मौलिक सूझबूझ का परिचय दिया है। परवर्ती आचार्य इस ग्रन्थ को आलंकारिक विवेचन का आधार बनाते रहे हैं। रुय्यक ने अलंकारों के विवेचन में वैज्ञानिकता का पुट देकर अलंकारों का मूल भेद प्रस्तुत करके अर्थालंकारों को निम्न रूप में विभाजित कर दिया है—

1. सादृश्य गर्भ अलंकार—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, प्रतीप आदि।
2. विरोधमूलक अलंकार—विभावना, विशेषोक्ति, विरोधाभास इत्यादि।
3. शृंखलामूलक अलंकार—एकावली, कारणमाला, सार इत्यादि।
4. तर्कन्यायमूलक अलंकार—अनुमान, काव्यलिंग इत्यादि।
5. वाक्यन्यायमूलक अलंकार—यथासंख्य, परिवृत्ति तथा परिसंख्या आदि।
6. लोकन्यायमूलक अलंकार—तद्गुण, मीलित, प्रत्यनीक, सामान्य, उत्तर आदि।
7. गूढार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार—सूक्ष्म, पिहित, गूढोक्ति इत्यादि।

आचार्य रुय्यक का अलंकार विभाजन आज भी सम्मान्य है।

जयदेव—13वीं शताब्दी में जयदेव ने 'चन्द्रलोक' नामक अलंकारवादी ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन है। सत्रहवीं शताब्दी के आचार्य अप्पय दीक्षित ने 'चन्द्रालोक' को अपने 'कुवलयानन्द' नामक अलंकार ग्रन्थ का आधार बनाया है। अलंकारवादी जयदेव गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव से

भिन्न रहे हैं, यह स्मरणीय है। राजा जसवन्तसिंह ने 'भाषा-भूषण' नामक आलंकारिक ग्रन्थ को 'चन्द्रालोक' के हिन्दी अनुवाद के रूप में प्रस्तुत किया है।

अप्पय दीक्षित— 17वीं शती में शैव दार्शनिक आचार्य अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने अलंकारों की संख्या सौ से भी ऊपर पहुँचा दी है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'कुवलयानन्द' के आलंकारिक वर्णन का अत्यधिक उपहास किया है। अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों में अप्पय दीक्षित अन्तिम आचार्य माने गये हैं।

अलंकारों के विवेचक अन्य आचार्य – आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ के दो अध्यायों में अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया है। कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' नामक ग्रन्थ में अलंकारों के लक्षणों तथा उदाहरणों के साथ-साथ अलंकार से सम्बद्ध अनेक सिद्धान्तों की समीक्षा भी की है। आजकल साहित्य दर्पण का दशम परिच्छेद अलंकारों के ज्ञान के लिए लोकप्रिय है। आचार्य विश्वनाथ ने स्वभावोक्ति अलंकार के सन्दर्भ में यह आपत्ति की है कि यदि वात्सल्य रस के चित्रण मे बच्चों की स्वाभाविक आदतों को स्वभावोक्ति अलंकार कहा जाएगा तो फिर विवेच्य क्या रह जाएगा ? अतः स्वभावोक्ति कोई अलंकार न होकर अलंकार्य-तत्त्व है। आचार्य विश्वनाथ ने अलंकारों के वर्णन में प्रवाहपूर्ण भाषा तथा सरस शैली को अपनाया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने अलंकारों का समीक्षात्मक विवेचन किया है। अतः ध्वनिवादी, रीतिवादी (वामन) तथा रसवादी आचार्यों ने अलंकारों को महत्त्व अवश्य दिया है। रसवादी तथा ध्वनिवादियों ने अलंकारों को काव्य का बाह्य तत्त्व ही स्वीकार किया है। इस दृष्टि से आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ के नाम उल्लेखनीय हैं। फिर भी अलंकारों का महत्त्व आज तक अक्षुण्ण है। आधुनिक युग में अलंकारों का पठन-पाठन की दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

रीति-सम्प्रदाय

रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय आचार्य वामन को है। आचार्य वामन का स्थितिकाल अष्टम शताब्दी मान्य है। आचार्य वामन कश्मीर के राजा जयापीड़ के मन्त्री थे। अलंकारवादी आचार्य उद्भट इनके समकालीन तथा अन्तेवासी थे। वामन का 'काव्यालंकार सूत्र' ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में रीति को काव्य की आत्मा स्वीकारा गया है—'रीतिरात्मा काव्यस्य।' इनका 'काव्यालकारसूत्र' ग्रन्थ सूत्र-शैली में रचित है। वामन ने स्वयं इन सूत्रों के ऊपर वृत्ति भी की है। वामनाचार्य ने रीति को परिभाषित करते समय यही स्पष्ट किया है कि 'रीति' विशेष पद-रचना का नाम है—'विशिष्ट पद-रचना रीतिः'।

वामन के पूर्ववर्ती आचार्य और रीति— आचार्य वामन से पूर्व छठी शताब्दी में आचार्य भामह ने अपने 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ में रीति का उल्लेख किया है। परन्तु भामह ने रीति पर बल न देकर काव्य गुणों पर बल दिया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य वामन ने रीति को सिद्ध करने के लिए गुणों के प्रयोग पर

अत्यधिक बल दिया है। भामह के पश्चात् छठी शताब्दी में ही आचार्य दण्डी का उदय हुआ। आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' के प्रथम परिच्छेद में वैदर्भी तथा गौडी रीति का विशेष उल्लेख किया है। आचार्य दण्डी के रीति-विधान में देश-भेद को लक्ष्य करके तत्त्व-प्रतिपादन हुआ है। इसीलिए दण्डी रीति-सम्प्रदाय के मार्गदर्शक के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

आचार्य वामन और रीति—आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानकर अलंकार शास्त्र विषयक अन्य प्रमुख सिद्धान्तों को इस क्रम में रखा है—

1. वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली रीतियों की स्थापना।
2. वक्रोक्ति को सादृश्यमूलक लक्षण मानना।
3. समग्र अर्थालंकारों को उपमा अलंकार का प्रपंच माना है।
4. आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित काव्य के दश गुणों को शब्द तथा अर्थ के आधार पर बीस रूपों में प्रस्तुत करना।

रीतियों का स्वरूप—वैदर्भी रीति में माधुर्य गुण तथा कोमल वर्णों की प्रधानता रहती है। विदर्भ देश से इस रीति का औपचारिक सम्बन्ध जोड़ा गया है। वस्तुतः कालिदास जैसे महाकवियों के काव्यों में वैदर्भी रीति की प्रधानता है। एक उदाहरण से इस रीति का स्वरूप स्पष्ट हो सकता है—

विललाप स बाष्पगदगदं सहजामप्यपहायधीरताम्।
अयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम्॥

—रघुवंश

प्रस्तुत उदाहरण में राजा अज को इन्दुमती के वियोग में विह्वल दिखाकर यह सिद्ध कर दिया गया है कि जिस प्रकार राजा का हृदय शोक-प्लुत होने से कोमल है, उसी प्रकार वैदर्भी रीति में वर्णों की कोमलता अर्थात् उपनागरिका वृत्ति तथा माधुर्य गुण की कोमलता भी देखते ही बन रही है। वामन ने वैदर्भी को सर्वगुण सम्पन्न कहा है।

गौडी रीति में ओज गुण की प्रधानता के साथ-साथ कठोर वर्णों का प्राधान्य भी रहता है। आचार्य भवभूति तथा भट्टनारायण के नाटकों में गौडी रीति के दर्शन किये जा सकते हैं। कठोर वर्णों में टकार की प्रधानता मानी जाती है। अतः आचार्य वामन ने ओज गुण को गौडी रीति के साथ जोड़कर काव्य के रस तत्त्व की ओर जो प्रस्थान किया है, वह सहज प्रशंस्य है। हमें यही बात अन्य रीतियों के सन्दर्भ में भी माननी चाहिए।

पाञ्चाली रीति में प्रसाद गुण तथा सुकुमार वर्णों की प्रधानता रहती है। आचार्य बाणभट्ट के ग्रन्थों में पाञ्चाली रीति की प्रधानता है। पंजाब क्षेत्र के कवियों ने इस रीति को मुख्य रूप में अपनाया, इसीलिए इसका नाम पाञ्चाली पड़ा।

रीति बनाम शैली—रीति-तत्त्व में कवि का व्यक्तित्व अवश्यमेव प्रतिबिम्बित रहता है। आचार्य वामन ने रीति को गुणों से सम्पृक्त करके शैली का क्षेत्र अवश्य

ही स्पष्ट और विस्तृत कर दिया है। आचार्य कुन्तक ने वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग नाम से पुकार कर शैली के रहस्य को स्पष्ट कर दिया है। परन्तु आधुनिक युग में शैली का स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हो गया है। फिर भी रीति और शैली का निकट का सम्बन्ध है।

रीति का विकास—आचार्य दण्डी ने वैदर्भी तथा गौडी नामक दो रीतियों को ही स्वीकार किया था। दण्डी ने वैदर्भी रीति की प्रशंसा की है तथा गौडी रीति की अपेक्षाकृत उपेक्षा की है। दण्डी के समय में बाणभट्ट जैसे महान् साहित्यकारों का उदय नहीं हुआ था, इसीलिए वे पाञ्चाली रीति की कल्पना न कर सके। आचार्य वामन ने उक्त दो रीतियों के साथ पाञ्चाली को भी जोड़ दिया, क्योंकि उनके सम्मुख मध्यम मार्ग आ चुका था। आचार्य वामन ने वैदर्भी रीति में श्लेष, समता, समाधि, ओज, प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति नामक दश गुणों को निहित माना है। गौडी रीति में ओज और कान्ति नामक गुणों की प्रधानता मानी है तथा पाञ्चाली रीति में माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों की सत्ता रहती है। आचार्य रुद्रट ने लाटदेशीय शैली के आधार पर चौथी वृत्ति लाटी की स्थापना की। भोजराज ने आवन्ती तथा मागधी को उक्त चार रीतियों में जोड़कर रीतियों की संख्या छः कर दी। भोजराज ने गुणों के तीन भेद—बाह्यगुण, आन्तरगुण तथा वैशेषिक गुण को मानकर गुणों की संख्या चौबीस तक पहुँचा दी है। परन्तु परवर्ती ध्वनिवादी एवं रसवादी आचार्यों ने रीति को काव्य का वाह्य तत्त्व मानकर आचार्य वामन की मान्यताओं को झकझोर दिया है। आचार्य मम्मट ने गुण-भेद की दृष्टि से आचार्य भामह के द्वारा प्रतिपादित तीन गुणों को ही स्वीकार किया है। मम्मट की निम्न मान्यता ध्यान देने योग्य है—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततोदश॥

—काव्यप्रकाश

आचार्य विश्वनाथ ने रीतियों का वर्णन तो अवश्य किया है, परन्तु वे रीति को साम्प्रदायिक महत्त्व न देकर काव्य का बाह्य तत्त्व मानते थे। अलंकारवादी आचार्यों ने रीति तत्त्व को कुछ महत्त्व अवश्य दिया है। यथार्थतः रीति काव्य का वाह्य तत्त्व ही है। फिर भी वह अलंकारों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

दशम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' ग्रन्थ प्रणीत करके वक्रोक्ति सम्प्रदाय को प्रवर्तित किया। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। कुन्तक ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है–'वैदग्ध्यभंगी-भणितिः'–अर्थात् वैदग्ध्यपूर्ण शैली ही वक्रोक्ति है। कुन्तकाचार्य ने काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते समय भी वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रस्तुत किया है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विताह्लादकारिणि ।।

कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्य और वक्रोक्ति—आचार्य भामह ने तो यह स्पष्ट कर दिया था कि अलकारों के लिए वक्रोक्ति अपरिहार्य है। इसीलिए अलंकारवादियों की ये उक्तियाँ अलकार शास्त्र-जगत् में बहुत प्रसिद्ध हो गई हैं—

"कोऽलंकारोऽनया विना"

"वाचांवक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते।"

रसवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति को प्रत्येक रूप में विचित्र माना है—

शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता।
लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम् ।।

आचार्य वामन ने वक्रोक्ति को सादृश्यलक्षणा माना है—

"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।" —काव्यालंकार सूत्र

वक्रोक्ति का स्वरूप—कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को एक अलंकार के रूप में तथा अलंकारों के मूल-तत्त्व के रूप में स्थान दिया। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का मूल ही सिद्ध कर दिया। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति के छः भेद हैं—

वर्ण-विन्यास वक्रत्वं पदपूर्वार्ध वक्रता।
वक्रतायाः परोप्यस्ति प्रकारः प्रत्याश्रयः ।।

—वक्रोक्ति जीवित, 1/12

(1) वर्ण-विन्यास वक्रता, (2) पद-पूर्वार्द्ध वक्रता, (3) पद-परार्द्ध वक्रता, (4) वाक्य-वक्रता, (5) प्रकरण-वक्रता, (6) प्रबन्ध वक्रता।

1. वर्ण-विन्यास वक्रता—आचार्य कुन्तक ने अनुप्रास अलंकार को वर्ण-विन्यास वक्रता का रूप दिया है। मनुज, गुरुजन आदि शब्दों के वर्गान्तियोगी स्पर्शी व्यंजन एक वक्रता प्रस्तुत करते हैं। वर्ण-द्वित्व को भी कुन्तक ने वर्ण-विन्यास वक्रता कहा है।

2. पद पूर्वार्द्ध वक्रता—प्रतिपदिक एवं धातु को लक्ष्य करके पद पूर्वार्द्ध वक्रता का स्वरूप निश्चित किया गया है। कुन्तक ने इसके आठ भेद किये हैं—

(1) रूढ़ि-वैचित्र्य वक्रता, (2) पर्याय वक्रता, (3) उपचार वक्रता, (4) विशेषण वक्रता, (5) संवृत्ति वक्रता (6) वृत्ति-वक्रता, (7) लिंग-वैचित्र्य, (8) क्रिया-वैचित्र्य।

3. पद-परार्द्ध वक्रता—प्रत्यय-वक्रता तथा निपात-वक्रता पदपरार्द्ध वक्रता के दो भेद हैं। आचार्य भवभूति के काव्य में निपात वक्रता का चमत्कार चरमसीमा का स्पर्श करता है—

वैदेही तु कथं भविष्यति हठा हा! देवि! धीरा भव!'

—उत्तररामचरित

4. वाक्य-वक्रता—सम्पूर्ण अलंकारों को वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत समाहित करके कुन्तक ने अलंकारों को वक्रोक्ति का एक अंगमात्र सिद्ध कर दिया है। हम यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार का एक प्रतिदर्श प्रस्तुत कर रहे हैं।

क्रोध संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावद् भवनेत्रजन्मावह्नि मदनं भस्मावशेषं चकार॥

—कुमारसम्भव

अर्थात् जब तक देवताओं की आवाजें आकाश और वायु में ही कुछ पहुँच पाई थीं, तब तक तो शंकर के तृतीय नेत्र से उत्पन्न अग्नि ने कामदेव को भस्मसात् कर दिया। उक्त छन्द में जो कुछ चमत्कार है, वह वाक्यगत चमत्कार होने के कारण वाक्य-वक्रता ही है। कुन्तक ने वाक्य-वक्रता के क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक बना दिया है।

5. प्रकरण-वक्रता—कभी-कभी प्रसंगगत वक्रता भी चमत्कार प्रस्तुत करता है। 'रघुवंश' के पंचम सर्ग में रघु और कौत्स का संवाद प्रकरण-वक्रता का उदाहरण है। कार्तिकेय तथा महामाया नामक दासी के संवाद में भी प्रकरण-वक्रता है। कार्तिकेय आध्यात्म-चिन्तन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे—

'कुछ स्व पाया स्व को खोकर' —शिवचरित

उनकी दासी महामाया या मधुबाला कार्तिकेय को अपना सर्वस्व अर्पित करके कहती है—'स्वयं को पाती स्व को देकर।'

6. प्रबन्ध-वक्रता—कुन्तक की मान्यता है कि रस का निरन्तर उद्गार करने वाली तथा अनेक रहस्यों से परिपूर्ण महाकवियों की वाणी केवल कथोल्लेख के आश्रित नहीं रहती अर्थात् वक्रोक्ति प्रधान ही रहती है। यथा—

निरन्तररसोद्गार गर्भ सन्दर्भनिर्भराः।
गिरः कवीनां न जीवन्ति कथामात्रमाश्रिताः॥

—वक्रोक्ति जीवित

आचार्य भवभूति का 'उत्तररामचरित' करुण रस या विप्रलम्भ शृंगार प्रधान होकर ही विचित्रता को पा सका है। भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक में वीर रस की प्रधानता ही उसे प्रबन्ध-वक्रता का उदाहरण बनाती है। 'कामायनी' का आनन्दवाद या शैवदर्शन उसे चमत्कारी प्रबन्ध काव्य बना देता है।

कुन्तक द्वारा प्रतिपादित काव्य-रचना के तीन मार्ग

कुन्तक ने वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली नामक तीन रीतियों को कवियों के स्वभाव के आधार पर कसकर सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग तथा मध्यम मार्ग के नाम से अभिहित किया। आचार्य कुन्तक की इस प्रतिपादना को सभी काव्यशास्त्रविदों ने सराहा है। इन तीन मार्गों का संक्षिप्त परिचय इस रूप में है—

सुकुमार मार्ग—'वक्रोक्ति जीवित' ग्रन्थ में सुकुमार मार्ग का सम्बन्ध वैदर्भी रीति से जोड़कर उसके सात लक्षण प्रस्तुत किए गए हैं—1. सहज प्रतिभा का स्फुरण, 2. स्वाभाविक सौन्दर्य, 3. आहार्य कौशल का {अभाव, 4. रसज्ञों के मन

के अनुरूप सरसता, 5. अलौकिक वैदग्ध्य, 6. शब्द और अर्थ का सहज चमत्कार, 7. अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग। यहाँ अलंकार के स्वाभाविक प्रयोग का महाकवि कालिदास का उदाहरण द्रष्टव्य है—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्वचाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुं दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ —रघुवंश

विचित्र मार्ग—विचित्र मार्ग का सम्बन्ध गौडी रीति से है। कुछ साहित्यकार साहित्य को चमत्कारिक बनाने के लिए भावपक्षीय तथा कलात्मक सौन्दर्य को संयोजित करने के लिए विचित्र प्रयास करते हैं। साहित्यकारों के इसी स्वभाव को विचित्र मार्ग का कारण बताया गया है। आचार्य कुन्तक ने इस मार्ग के प्रधान साहित्यकार बाणभट्ट, भवभूति तथा राजशेखर इत्यादि माने हैं। विचित्र मार्ग के प्रधान तत्त्व अधोलिखित हैं—

1. शब्द और अर्थ का प्रतिभाजात चमत्कार प्रस्तुत किया जाता है।

2. परिसंख्या, श्लेष, विरोधाभास प्रभृति अलंकारों की जगमगाहट नितान्त आवश्यक मानी जाती है। इस दृष्टि से बाणभट्टकृत कादम्बरी ग्रन्थ उल्लेख्य है।

3. उक्ति-वैचित्र्य का प्रस्तुतीकरण विचित्रता का कारण होता है। यथा—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति॥

—उत्तररामचरित

4. प्रतीयमानार्थ या ध्वनि का चमत्कार भी विचित्र मार्ग में प्रधानता पाता है। यथा भवभूति के उत्तररामचरित में सीता के वियोग में विह्वल राम की यह उक्ति दर्शनीय है—

"कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा! देवि! धीरा भव॥"

यहाँ 'रामोऽस्मि' पद में ध्वनि की प्रधानता दिखलाई पड़ रही है।

5. वक्रोक्ति की अतिरंजना या वक्रता की प्रधानता प्रदर्शित करना ही विचित्र मार्ग के साहित्यकारों का लक्ष्य होता है। यथा हर्षचरित तथा कादम्बरी में।

मध्यम मार्ग—सुकुमार तथा विचित्र मार्ग के बीच का मार्ग मध्यम मार्ग है। कुन्तक के अनुसार मातृगुप्त, मायुराज तथा मंजीर जैसे कवि मध्यम मार्ग के आधार पर ही चले हैं। इस मार्ग का सम्बन्ध समन्वय से है, पांचाली रीति से है।

कुन्तक द्वारा प्रतिपादित गुण—कुन्तक ने अलंकार शास्त्र को गुणों का मौलिक विवेचन करके विशिष्ट योगदान दिया। कुन्तक ने माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य गुणों को काव्य के प्रधान गुणों के रूप में माना है। उन्होंने औचित्य तथा सौभाग्य नामक गुणों को सामान्य गुणों के रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य कुन्तक का वक्रोक्ति-सम्प्रदाय आगे चलकर परम्पराविहीन सिद्ध हुआ। वस्तुतः आचार्य कुन्तक ने अलंकार तथा अलंकार्य का भेद स्पष्ट करके जिस वक्रोक्ति-तत्त्व की संस्थापना की वह ध्वनि तथा रस नामक काव्य-तत्त्वों की भाँति

सूक्ष्म है। हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक डॉ. नगेन्द्र ने 'वक्रोक्ति जीवित' की विशद भूमिका लिखकर वक्रोक्ति-सिद्धान्त को विशिष्ट महत्त्व दिया है।

औचित्य सम्प्रदाय

उचितस्य भावं औचित्यमिति अर्थात् उचित भाव का नाम ही औचित्य है। औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को है। क्षेमेन्द्र का समय एकादश शती का उत्तरार्द्ध निश्चित है। आचार्य क्षेमेन्द्र का जन्मस्थान कश्मीर माना जाता है। कश्मीर नरेश अनन्त के राज्यकाल में क्षेमेन्द्र ने दो ग्रन्थों की रचना की। 'औचित्य विचार-चर्चा' इनका पहला तथा प्रतिष्ठित ग्रन्थ है और 'कण्ठाभरण' द्वितीय ग्रन्थ है। इनका 'दशावतार चरित' अन्तिम ग्रन्थ है।

क्षेमेन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्य और औचित्य—आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में काव्य में औचित्य-विधान की चर्चा करते हुए लिखा है—

अदेशजो हि देशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव जायते॥

—नाट्यशास्त्र 23/68

अर्थात् अनुचित स्थान पर कोई वस्तु शोभा प्राप्त नहीं करती। यदि रशना को गले में पहना जाए तो वह केवल हास्यास्पद-तत्त्व ही सिद्ध होगी। अतः काव्य में अलंकार, गुण, पद, वाक्य, प्रकरण आदि का औचित्य आवश्यक है। यहाँ उल्लेख्य है कि आचार्य भरत औचित्य को काव्य का पोषक तत्त्व मानकर उसे रससिद्धि में ही आवश्यक मानते थे। उन्होंने औचित्य को काव्य का सर्वस्व नहीं माना। आचार्य आनन्दवर्धन ने औचित्य-विहीनता को रसभंग का मूल कारण स्वीकार किया है। उनकी मान्यता यह है कि औचित्य की स्थापना से ही रस का परिपाक सम्भव है। यथा—

अनौचित्याद् ऋते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

आचार्य अभिनवगुप्त ने औचित्यवादी उन आचार्यों को आड़े हाथों लिया है, जो औचित्य को काव्य का सर्वस्व मानकर ध्वनि का विरोध करते रहे। अभिनवगुप्त से आचार्य क्षेमेन्द्र भी प्रभावित हुए। परन्तु क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' को काव्य का सर्वस्वसिद्ध करने के लिए 'औचित्य विचार-चर्चा' नामक अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की।

औचित्य का स्वरूप—आचार्य क्षेमेन्द्र ने पूर्ववर्ती आचार्यों की चर्चा करते हुए औचित्य के स्वरूप को मण्डित किया है। उनके अनुसार जिस तत्त्व के लिए जो उचित या उपयुक्त है, उसी को प्राचार्यों ने औचित्य कहा है। अतः उचितता का स्वरूप ही औचित्य कहलाता है। यथा—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते॥

—औचित्य विचार चर्चा, कारिका, 7

आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस के चमत्कार को लक्ष्य करके स्वतन्त्र विचार करते हुए

यही निष्कर्ष निकाला कि रस का चमत्कार भी औचित्य के चमत्कार पर आश्रित है। अतः रसास्वादन की अद्भुत स्थिति का मूल औचित्य ही है। इसलिए रस को काव्य की आत्मा न मानकर औचित्य को ही काव्य का सर्वस्व मानना चाहिए। यथा—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्वणे।
रस-जीवितस्य-भूतस्य विचारं कुरुते अधुना॥

—औचित्य विचार चर्चा, कारिका, 7

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को अनेक भेदों में विभाजित किया है। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि का औचित्य प्रदर्शित करके यही सिद्ध किया गया है कि औचित्य काव्य का सर्वस्व है। जिस प्रकार आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का सर्वस्व सिद्ध किया, उसी प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य में ही समस्त काव्य-तत्त्वों को निबन्धित कर दिया है। यथार्थतः आचार्य आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में औचित्य के भेदों पर प्रकाश डाला गया है। अनेक आचार्यों ने काव्य के गुणों एवं दोषों की सविस्तार चर्चा भी है। अतः क्षेमेन्द्र का औचित्यवाद काव्य के दोषों को निकाल देने पर स्वतः सिद्ध हो जाता है। काव्य के च्युत-संस्कृति, अप्रतीतत्त्व, क्लिष्टत्व, निहितार्थत्व आदि जितने भी दोष कहे गए हैं, यदि उन सबका परिहार कर दिया जाए तो वह परिहार-तत्त्व के औचित्य के अतिरिक्त अन्य कुछ न होगा। रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि का औचित्य ही औचित्य है, अतः क्षेमेन्द्र ने सभी काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों को औचित्य की परिधि में विद्वतापूर्वक समायोजित किया है। क्षेमेन्द्र की औचित्य विषयक धारणा में सभी अलंकारशास्त्री सम्प्रदायों को देखा जा सकता है—

कण्ठे मेखलया, नितम्ब फलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूर पाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायन्ति के हास्यतां,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः॥

अर्थात् कण्ठ में करधनी बांधने से, कमर में हार धारण करने से, हाथों में पाजेब पहिनने से, चरणों में केयूर या भुजबन्ध पहिनने से, रणभूमि में वीरता प्रदर्शन के स्थान पर प्रेम करने वाले तथा शत्रु के ऊपर कृपा-दृष्टि करने वाले व्यक्ति हास्यास्पद ही होते हैं। अतः शृंगार में वीर रस को स्थान नहीं मिल सकता; करुण रस का शान्त रस से तादात्म्य नहीं बैठ सकता; हास्य और रौद्र रस की सन्धि नहीं हो सकती। अतः विरोधियों में औचित्य या तालमेल का प्रश्न ही नहीं उठता। हमें तो केवल औचित्य के निर्वाह पर बल देना चाहिए। ठठाका मारकर हँसना तथा क्रोधोन्मत्त मुद्रा को प्रस्तुत करना जैसे दोनों अनुभाव या कार्य एक साथ नहीं हो सकते।

दोउ कि होहिं एक समय भुआला।
हँसइ ठठाइ और फुलाउब गाला॥

—रामचरितमानस

इसलिए यही सिद्ध होता है कि औचित्य के बिना आलंकारिक वैचित्र्य तथा गुण-प्रयोग किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता। क्षेमेन्द्र के परवर्ती आचार्यों ने काव्य के दोषों का विवेचन करके औचित्य-निर्वाह पर पूर्ण बल दिया है। आचार्य विश्वनाथ तथा जगन्नाथ के नाम इस सन्दर्भ में विशेषत. उल्लेखनीय हैं। साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने औचित्य को स्वीकार करते हुए यहाँ तक कह डाला है—

रसालंकृति वक्रोक्ति रीतिध्वन्यौचिती क्रमाः।
साहित्यशास्त्र एतस्मिन् सम्प्रदाय इसे स्मृताः॥

अलंकारशास्त्र : एक दृष्टि

संस्कृत-अलंकारशास्त्र में रस, ध्वनि तथा वक्रोक्ति नामक तीनों सम्प्रदाय अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वों के सहारे आगे बढ़े हैं। आधुनिक युग में जब विभिन्न भाषाओं में काव्यशास्त्र का उदय हो रहा है तो हम इस निष्कर्ष पर सहजतया पहुँच जाते हैं कि कुन्तक जैसा विचारक अथवा तत्त्व-प्रतिपादक आज कठिनाई से ही मिल सकता है। यथार्थतः वक्रता-व्यापार के बिना साहित्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। वक्रता-व्यापार उच्चतम कलात्मकता का नाम है। सामान्यतः सभी व्यक्ति अपने भावों-विचारों को किसी न किसी प्रकार से अवश्य व्यक्त करते हैं, परन्तु साहित्यकारों की वह वाणी सुदुर्लभ है, जो निरन्तर चमत्कार को प्रस्तुत किया करती है। फिर भी हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि वक्रता-व्यापार काव्य का कलात्मक पक्ष ही है। वक्रता रूपी कला के माध्यम से जिस तत्त्व को प्रतिपादित किया जाता है, वह तत्त्व तो रस को हृदय की सत्ता माना जाता है। चैतन्य और आनन्द जैसे तत्त्वों का केन्द्र ईश्वर व्यक्ति के हृदय में ही अविष्ठित रहता है। यथा गीता के इन शब्दों को ही देखिए—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

काव्य-तत्त्व हृदय की वस्तु है। हृदय की द्रवीभूतता को बुद्धि-कौशल के द्वारा व्यक्त किया जाता है। अतः हृदय का तत्त्व भाव या आनन्द अथवा रस रीति, वक्रोक्ति तथा अलंकारों के प्रयोग द्वारा अभिव्यक्त होता है। रस की गूढ़ता या भाव संवेदना का रहस्य प्रायः अनकहा ही रहता है; क्योंकि उसे प्रकट करने के लिए हमारे पास शब्द नहीं होते। सभी कवि गहनता का संकेत करके मौन साधे ही रह गए हैं—

श्याम गौर किमि कहहुँ बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

—रामचरितमानस

अलंकार काव्य की शोभा के अधिष्ठाता हैं। परन्तु जिस सजीव तत्त्व की वे शोभा बढ़ाते हैं, वह तत्त्व रस ही है। अलंकारों का पूर्ण विवेचन भले ही सम्भव न हो, परन्तु अलंकारवादी आचार्य स्वयं अलंकारों का बाह्य तत्त्व मानते रहे हैं।

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते । —दण्डी

जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त ।

× × ×

भूषन बिनु न बिराजइ कविता बनिता मित्त ।। —केशव

रीति-तत्त्व भी काव्य गुणों और वर्णों का सहारा लेकर रस-तत्त्व को ही प्रकट करता है। ध्वनि-तत्त्व का प्रतीयमानार्थ या व्यंग्यार्थ एक रसात्मक प्रतीति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। औचित्य-तत्त्व तो काव्य के दोषों का परिहार-तत्त्व होने से रस परिपाक का ही साधन है। अतः 'रस' आनन्द-तत्त्व का नाम है। चैतन्य यथा आनन्दात्मक तत्त्व की अभिव्यक्ति वह सम्पूर्ण सृष्टि किसी रस-समुद्र का स्पष्ट संकेत है। इसीलिए तो पाश्चात्य काव्यशास्त्र भी त्रासदी के विश्लेषण में आनन्द की खोज में आगे बढ़ा है।

अलंकार शास्त्र का जनक भारत का नाट्यशास्त्र

द्वितीय शताब्दी में आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की। दूसरी शताब्दी तक मुख्यतः नाटकों की ही प्रधानता थी। अतः भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में ही अलंकारशास्त्र को समाहित करने की चेष्टा की। भरत से पूर्व भास, शूद्रक तथा अश्वघोष जैसे महान् नाटककार हो चुके थे। 'प्रतिमा' तथा 'मृच्छकटिक' जैसे लक्ष्य ग्रन्थों को सामने रखकर भरत ने लक्ष्य ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' की रचना की। भरत ने रूपक के विषय में विचार करते समय काव्य के तत्त्वों का भी विवेचन किया। भरत ने जिन-जिन काव्य-तत्त्वों की ओर संकेत किया, उन्हीं को प्रधानता देने के लिए अनेक काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों का उदय हुआ। इसीलिए 'भरत-नाट्यशास्त्र' को अलंकारशास्त्र का प्रेरणा-स्रोत माना जाता है। नाट्यशास्त्र ने नाटकीयशास्त्र को भी अनेक रूपों में प्रभावित किया तथा परिणाम यह हुआ कि कि नाट्यशास्त्र अलंकारशास्त्र का अंग बन गया। भरत के नाट्यशास्त्र से अलंकार-शास्त्र जिस रूप में प्रभावित होकर विकसित हुआ, उसका हम संक्षिप्त उल्लेख कर रहे हैं।

भरत नाट्य शास्त्र से रस-सम्प्रदाय का विकास

आचार्य भरत ने नाटक में आठ रसों को आवश्यक माना था। शान्त रस को छोड़कर शृङ्गार रस से लेकर अद्भुत रस तक आठ रसों का समावेश ग्यारहवीं शताब्दी तक चलता रहा। आचार्य मम्मट ने शान्त रस को स्वतन्त्र रस ही नहीं माना। अतः भरत का नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्र के ऊपर छाया रहा तथा रस के मर्म को जान लेने पर भी कई सौ वर्ष के अन्तराल में रस की संख्या में वृद्धि नहीं हुई।

भरत ने रस की उत्पत्ति के लिए 'विभानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' नामक सूत्र प्रस्तुत किया। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। प्रस्तुत सूत्र के 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' शब्दों को लेकर रस-सम्प्रदाय में शास्त्रार्थ का दौर आया। भट्टलोल्लट ने रस की उत्पत्ति का 'आरोपवाद' या 'उत्पत्तिवाद' सिद्धान्त प्रवर्तित किया। आचार्य शंकुक ने न्यायदर्शन के आधार

पर रस की उत्पत्ति के प्रसंग में 'अनुमितिवाद' को प्रतिपादित किया। सांख्य दर्शन का आधार लेकर आचार्य भट्टनायक ने 'भुक्तिवाद' का सूत्रपात किया। दशम शताब्दी में आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिव्यक्तिवाद' को शैवदर्शन के आधार पर मण्डित किया। आचार्य भरत के रसवाद का स्वागत परवर्ती सभी रसवादी आचार्यों ने किया।

रसराज के प्रसंग में आचार्य अभिनवगुप्त ने शान्त रस को आदि रस सिद्ध करने के लिए आचार्य भरत द्वारा मान्य शान्त रस के व्यापक एवं अनिर्वचनीय स्वरूप को ही आधार बनाया। आचार्य भरत ने शान्त रस को समझकर उसे नाटक के लिए उपयोगी नहीं माना था—

स्वं स्वं निमित्तिमादाय शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुर्नर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥

—नाट्यशास्त्र, अध्याय 6

रस-सम्प्रदाय के आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा कहा है। आचार्य भरत ने रस को काव्य की आत्मा ही माना था। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि रस के बिना कोई अर्थाभिव्यक्ति सम्भव नहीं है—

"न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।"

नाट्यशास्त्र का अलंकार-सम्प्रदाय पर प्रभाव

भरत के नाट्यशास्त्र में यमक, उपमा, रूपक और दीपक नामक चार अलंकारों का उल्लेख हुआ। यमक एक शब्दालंकार है तथा उपमा, रूपक, और दीपक अर्थालंकार हैं। इसलिए आचार्य भामह के पश्चात् अलंकार-सम्प्रदाय में शब्दालंकार तथा अर्थालंकारों को लेकर अलंकारिक विवेचन की गहनताएँ विवर्द्धित होती चली गईं। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में 36 लक्षणों को आधार मानकर अलंकारवादी आचार्यों ने अनेक अलंकारों का प्रवर्तन किया। भामह ने आशी; अलंकार को दण्डी ने हेतु और लेश अलंकार को तथा अन्य आचार्यों ने अन्य अनेक अलंकारों को प्रस्तुत किया। अलंकारवादी आचार्यों ने भामह द्वारा प्रतिपादित काव्य गुणों को भी किसी न किसी रूप में स्थान अवश्य दिया। भरत ने जिन अलंकारों के भेद प्रस्तुत किये उनके भेदोपभेदों का विकास अलंकारवादी आचार्यों ने किया।

नाट्यशास्त्र का रीति-सम्प्रदाय पर प्रभाव

भरत के 'नाट्यशास्त्र' में दश गुणों का उल्लेख हुआ है।[1] काव्य के दश गुण इस प्रकार हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति। अष्टम शताब्दी में आचार्य वामन ने भरत द्वारा प्रतिपादित काव्य-गुणों के आधार पर वैदर्भी, गौडी तथा पांचाली नामक रीतियों को प्रतिपादित किया। यद्यपि छठी शताब्दी में आचार्य दण्डी ने वैदर्भी और गौडी रीतियों के ऊपर पर्याप्त प्रकाश डाला था, परन्तु वामन ने भामह के त्रिकाव्यगुणों

1 नाट्यशास्त्र, 16/98

को आदर्श न मानकर रीतियों के सन्दर्भ में भरत द्वारा मान्य काव्य के दश गुणों को महत्त्व दिया। अतः रीति-सम्प्रदाय के ऊपर 'नाट्यशास्त्र' का प्रभाव अवश्य पड़ा।

नाट्यशास्त्र का औचित्य-सम्प्रदाय पर प्रभाव

भरत ने औचित्य की चर्चा काव्य के सन्दर्भ में की। भरत की मान्यता है कि यदि कोई रमणी अपनी मेखला को गले में पहन ले तो वह हास्यास्पद ही होगी। अतः कोई वस्तु अनुपयुक्त स्थान पर शोभा प्राप्त नहीं करती—

उदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव प्रजायते॥

—नाट्यशास्त्र, 23/68

11वीं शताब्दी में कश्मीरवासी आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य नामक काव्य-तत्त्व को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया। 'औचित्य विचार चर्चा' नामक ग्रन्थ को औचित्य के प्रतिपादन पर भरत के नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित औचित्य-तत्त्व का प्रभाव दर्शनीय है। जिस तथ्य को भरत ने केवल सांकेतिक रूप में प्रस्तुत किया, उसी को आचार्य क्षेमेन्द्र ने एक व्यापक रूप दे डाला। अथवा एक काव्य-सम्प्रदाय का विकास कर डाला क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' में भरत जैसे आचार्यों की ओर संकेत भी किया है—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते॥

—औचित्य-विचार-चर्चा, कारिका 7

आचार्य क्षेमेन्द्र ने भरत द्वारा प्रतिपादित उदाहरणों को भी विस्तृत रूप प्रदान किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि औचित्य को काव्य की आत्मा सिद्ध करने की पृष्ठभूमि में आचार्य भरत द्वारा मान्य औचित्य-तत्त्व अवश्य निहित है। इसके विषय में औचित्य-सम्प्रदाय के संदर्भ में चर्चा की जा चुकी है।

नाट्यशास्त्र का वक्रोक्ति एवं ध्वनि सम्प्रदायों पर प्रभाव

भरत ने काव्य के दश गुणों को मानकर तथा रस-तत्त्व को काव्य का प्रधान तत्त्व स्वीकार करके वक्रोक्ति एवं ध्वनि सम्प्रदायों को भी अंशतः प्रभावित किया है। भरत द्वारा मान्य काव्य के दश गुण त्रिगुण के रूप में मान्यता प्राप्त कर सके। ध्वनि-वादी आचार्यों ने काव्य के तीन गुणों—माधुर्य, ओज और प्रसाद को काव्य के नित्य तत्त्व के रूप में स्वीकारा है। आचार्य मम्मट ने इस विषय में सविस्तार प्रकाश डाला है। तीन गुणों की मान्यता आचार्य भामह से प्रारम्भ हुई। जब काव्य के दश गुण रीतियों के साथ सम्पृक्त कर दिये गये तब रीतियों को या काव्य-रचना के मार्गों को दशम शताब्दी में आचार्य कुन्तक ने मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान किया। कुन्तक ने सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग तथा मध्यम मार्ग का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है। इस मान्यता के पीछे भरत के नाट्यशास्त्र का आंशिक प्रभाव ही परिलक्षित होता है।

नाट्यशास्त्र और काव्य-प्रयोजन

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य-रचना का प्रयोजन अवश्य बताया है। आचार्य भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाटक का प्रयोजन आनन्द-प्राप्ति बतलाया है—

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

—नाट्यशास्त्र, 1/115

भरत के इसी काव्य प्रयोजन को अलंकारशास्त्र के अनेक आचार्यों ने किंचित् हेर-फेर के साथ प्रतिपादित किया है। छठी शताब्दी में आचार्य भामह ने काव्य का प्रयोजन प्रीतिवर्धन के रूप में स्वीकार किया है। भामह ने काव्य-सृजन को धर्म-अर्थ, काम तथा मोक्ष की सिद्धि में भी सहायक माना है—

धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥

—काव्यालंकार

एकादशम् शताब्दी में आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रयोजन को प्रतिपादित करते समय आनन्द-तत्त्व को भी महत्त्व दिया। मम्मट ने काव्य के छः प्रयोजन स्वीकार किए हैं—1. काव्य यश के लिए, 2. काव्य अर्थ के लिए, 3. काव्य व्यावहारिक ज्ञान के लिए, 4. काव्य -मंगल-प्राप्ति के लिए, 5. काव्य मनोरंजन के लिए तथा 6. काव्य उपदेश के लिए। यथा—

काव्यं यशते अर्थकृते व्यवहार विदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्तसम्मितयोपदेशयुजे ॥

—काव्यप्रकाश

यथार्थतः भरत ने नाटक के प्रदर्शन की दृष्टि से नाट्य-प्रयोजन प्रदर्शित किया था अतः उनके काव्य-प्रयोजन में आनन्द को विविधमुखी रूप में देखा जा सकता है। चौदहवीं शताब्दी में आचार्य विश्वनाथ ने इसी तथ्य को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया—

चतुर्वर्गफलास्वादं सुखमल्पधियामपि

—साहित्यदर्पण

नाट्यशास्त्र का नाट्यलक्षण ग्रन्थों पर प्रभाव

दशम शताब्दी में आचार्य धनञ्जय ने 'दशरूपक' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के ऊपर 'नाट्यशास्त्र' का व्यापक प्रभाव है। नाटक की कार्यावस्थाओं के प्रतिपादन में नायकों के लक्षणों के उल्लेख में तथा रसोत्पत्ति के प्रसंग में 'दशरूपक' 'नाट्यशास्त्र' की छाप लिए हुए हैं। भरत के सम्मुख केवल भास, शूद्रक तथा अश्वघोष के नाटक थे। परन्तु धनंजय के सामने दशरूपक की सुदीर्घ परम्परा थी। भरत के समय में भी नाटक का विविधमुखी विकास हो चुका था। नाटक की सन्धि एवं अर्थप्रकृति का प्रामाणिक प्रतिपादन 'नाट्यशास्त्र' की ही देन है। रसोत्पत्ति के सन्दर्भ में आचार्य धनंजय भरत से बहुत कुछ प्रभावित जान पड़ते हैं। धनंजय ने

शान्त रस को नाट्य रस के रूप में भरत की भाँति ही अस्वीकारा है। रस की उत्पत्ति के सन्दर्भ मे हम यहाँ भरत और धनंजय के इस-सिद्धान्त का तुलनात्मक रूप प्रस्तुत कर रहे हैं—

'विभावानुभवव्यभिचारी सयोगाद्रस निष्पत्तिः।'

—नाट्यशास्त्र

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृत ॥

—दशरूपक

बारहवीं शताब्दी में आचार्य रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' की रचना की। इस ग्रन्थ में रस को सुखदुःखात्मक मानकर भी अन्ततः अनिर्वाच्य माना गया है चौदहवीं शताब्दी में आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में नाटकीय तत्त्वों को भी स्थान दे दिया। अतः अलंकारशास्त्र में नाट्यशास्त्र का समावेश कर लिया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत के नाट्यशास्त्र ने नाट्य रस के सन्दर्भ में रसवादी अनेक आचार्यो को इतना प्रभावित किया कि वे भरत की मान्यताओं को ही कालक्रम में विकसित विचारों के साथ जोड़कर प्रस्तुत करते रहे।

भरत के सिद्धान्तों को अलंकार शास्त्र के सभी प्रमुख आचार्यों ने महत्त्व दिया है। भरत ने नाट्क की उत्पत्ति के विषय में एक समन्वयवादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया। ब्रह्म या वेद विस्तार ने नाटक की रचना के लिए ऋग्वेद को कथानक का आधार बताया, समावेद को गीतों का आधार सिद्ध किया, यजुर्वेद को अभिनय का स्रोत माना अथर्ववेद को रस-तत्त्व का स्रोत स्वीकार किया। एतादृशी स्थिति में नाट्यवेद की रचना की गई। यथा—

जग्रह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

—नाट्यशास्त्र

चारों वेदों में से चार तत्त्वों को ग्रहण करके नाट्य वेद की रचना का सिद्धान्त तर्क और भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उचित जान पड़ता है। नाट्य वेद के आधार पर नाटकों का जो सुरम्य विकास हुआ उससे यह निश्चित हो गया कि नाट्य-तत्त्व सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। परवर्ती आचार्यों ने भरत के निम्नलिखित काव्य-प्रयोजन को ध्यान में रखकर अनेक प्रकार से रूपक की प्रशंसा की—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविर्धनम्।
लोकोपदेश जननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

—नाट्यशास्त्र, 1/112

भरत ने नाटक या दृश्य काव्य की दृष्टि से विचार प्रस्तुत किए। इसीलिए काव्य के विषय में विचार प्रस्तुत करते समय अन्य आचार्यों ने दृश्य काव्य अथवा नाटक का भी ध्यान रखा। भरत ने जब रस की अनिर्वचनीयता पर विचार किया

तो ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि को अनिर्वचनीयता रूप प्रदान किया। रस-ध्वनि को मूल ध्वनि कहने के पीछे रस-सम्प्रदाय के प्रवर्तक भरत का रसवादी सिद्धान्त झलकता है। रस और ध्वनि को एक-दूसरे के इतना निकट पाया गया कि दोनों की ही रमणीयता एक ही तत्त्व मानी गई, जो भरत के नाट्यशास्त्र में ही प्रतिपादित हो चुकी थी।

भरत ने नाटक की वृत्तियों का इतना सरल और स्पष्ट विवेचन किया कि परवर्ती विचारकों ने भारती, सात्त्वती, कैशिकी तथा आरभटी नामक नाट्य वृत्तियों को 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर ही प्रस्तुत किया। नायक-भेद एवं नायिका भेद को लेकर भी नाट्यशास्त्राचार्य भरत को ही आधार मानकर आगे बढ़े। भरत ने नाटक के विषय मे वर्णन करते समय प्रेक्षागृह पर भी विचार किया। भरत का प्रेक्षागृह सम्बन्धी विचार प्रामाणिक रूप में स्वीकार किया गया है।

नाट्यशास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत से पूर्व ऐसे अनेक विचारक हुए हैं, जिन्होंने नाटक के विषय में पर्याप्त विचार किया है। यद्यपि उनके ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं, तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है कि भरत ने विभिन्न काव्यशास्त्राचार्यों के विचारों का संकलन करके तथा नाट्यशास्त्रीय विचार को विकसित करके 'नाट्यशास्त्र' की रचना की। भरत ने रस को काव्य की आत्मा या प्रधान तत्त्व के रूप में देखा था। सभी काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों के आचार्यों ने रस को महत्त्व दिया है। रस को व्यंग्य के रूप में स्वीकार करके आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। रस का विकास संस्कृत काव्यशास्त्र तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि भाषाओं के भाषातत्त्वविदों ने भरत के नाट्यशास्त्र को रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में महत्त्व दिया। आज भरत के नाट्यशास्त्र को पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के समानान्तर रखकर तुलना का विषय बनाया जाता है। अतः काव्यशास्त्र का सर्वतोमुखी विकास देखकर भरत को काव्यशास्त्र का जनक मानना सभी प्रकार से समीचीन जान पड़ता है।

वैज्ञानिक साहित्य
(Scientific Literature)

संस्कृत साहित्य में रत्नपरीक्षा, वास्तुविद्या, अश्वशास्त्र, आयुर्वेद, सामुद्रिक शास्त्र तथा नक्षत्र ज्ञान या ज्योतिष आदि को विज्ञान के अन्तर्गत गिना गया है। विज्ञान क्रमबद्ध ज्ञान का नाम है। संस्कृत साहित्य में कुछ विलक्षण विद्याओं का भी वर्णन किया है, जिनकी संख्या चौदह तक कही गई है। चौदह विद्याओं का संकेत 'पुराण' नामक अध्याय में दिया चुका है, अतः यहाँ उनकी आवृत्ति करना पुनरुक्ति दोष होगा। अतः विज्ञान के ज्वलन्त विषयों पर संक्षिप्त प्रकाश डालना ही स्थान और समय की दृष्टि से उचित होगा।

रत्नपरीक्षा—संस्कृत साहित्य में बारह प्रकार के रत्नों का वर्णन किया गया है। रत्नों के बारह भेद ये हैं—(1) मुक्ताफल, (2) पद्मराग, (3) मरकत,

(4) इन्द्रनील, (5) वज्र, (6) वैदूर्य, (7) रुधिररत्न, (8) पुष्पराग, (9) कर्केतन, (10) पुलक, (11) स्फटिक तथा (12) विद्रुम। रत्नों की परीक्षा से सम्बद्ध साहित्य के रूप मे गरुड पुराण का विशेष महत्त्व है। इसके बारह अध्यायों में वास्तविक रत्नो के लक्षण तथा ग्राह्यता के ऊपर वैज्ञानिक प्रकाश डाला गया है। अग्निपुराण में भी रत्नों की परीक्षा के कुछ सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। विष्णु पुराण में मणि के निर्मल प्रकाश का सुन्दर वर्णन है। श्रीकृष्ण ने जाम्वन्ती से परिणय करते समय रत्न-सौन्दर्य का अनुभव किया था। वस्तुतः रत्नों के पारखी पौराणिक युग में रहे हैं। रत्नपरीक्षा का सम्बन्ध भूगर्भशास्त्र से भी रहा है।

वास्तु विद्या—विश्वकर्मा के वास्तुशास्त्र का उल्लेख पुराणों में किया गया है। देववंश के राजाओं के भवनों का निर्माण करने में विश्वकर्मा तथा उसके वास्तुशास्त्र का अत्यधिक योगदान रहा है। दानववंश के राजाओं के प्रासादों का निर्माण करने में मयदानव के वास्तुशास्त्र का योग रहा है। महाभारत में एक रोचक प्रसंग है कि पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ में भव्य भवनों का निर्माण कराया था। जब धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन पाण्डवों के प्रासाद को देखने के लिए गया तो उसने एक स्थान तालाव की स्थिति समझकर अपनी धोती को ऊपर खींचा। ऐसे दृश्य पर हँसी का वातावरण बनना स्वाभाविक था। अतः कुछ लोग हँस पड़े। द्रौपदी भी हँस पड़ी। दूसरे स्थान पर जलस्थान को थल समझकर दुर्योधन स्वाभाविक गति से आगे बढ़ता चला गया। परन्तु जल में गिर जाने कारण वह पुनः हास्य का पात्र बना। कदाचित् इसी घटना के कारण महाभारत की भूमिका सुदृढ़ हुई। वाल्मीकीय रामायण में रावण के लंका देश में स्थित भवनों की सज्जा के प्रसग में मय दानव का उल्लेख किया गया है। नागवंशी राजाओं के भवनों में मणियों के जड़ाव की प्रधानता रहती थी, ऐसे उल्लेख भी पुराणों में देखे जा सकते हैं। मत्स्य पुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वास्तुविद्या का सुन्दर निदर्शन है। वास्तुशास्त्र में चार अंगों पर बल दिया गया है—(1) वास्तुविद्या के प्रधान सिद्धान्त, (2) स्थान की उपयुक्तता तथा निर्माण की रूपरेखा, (3) देवमूर्तियों का निर्माण तथा (4) मन्दिर एवं प्रासादों की रचना। अतः प्राचीन वास्तुशास्त्र निश्चित रूप से धनी रहा है। वास्तुशास्त्र के रूप में 'मानसार', 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि', 'सूत्रधारमण्डन' तथा 'रूपमण्डन' जैसे ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। 'बृहत्संहिता' के अट्ठावनवें अध्याय में वास्तुविद्या का उल्लेख किया गया है। आधुनिक इतिहासकारों ने दिल्ली की कुतुबमीनार को 'विष्णुध्वज' बताया है। इस सन्दर्भ में डॉ. देवसहाय त्रिवेदी का 'कुतुबमीनार या विष्णुध्वज' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ दृष्टव्य है।

अश्वशास्त्र--अश्व आर्यों का प्रधान पशु रहा है। उसके लक्षणों का विस्तृत विवेचन महाभारत के सभापर्व में किया गया है। सभापर्व में हस्तिसूत्र का भी उल्लेख है। मत्स्य पुराण में चन्द्रमा के पुत्र बुध को गजवैधक का वेत्ता बताया गया है। प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि ने गजायुर्वेद का भी वर्णन किया किया है। गायों की चिकित्सा का विज्ञान अग्निपुराण के दो सौ बयासीवें अध्याय में वर्णित है।

अनेक पुराणों में पशु-चिकित्सा सम्बन्धी विज्ञान का विस्तार है। यदि हम अश्वशास्त्र के स्थान पर 'पशु-चिकित्सा शास्त्र' शब्द का प्रयोग करें तो अधिक उपयुक्त रहेगा। मत्स्य पुराणों में कुछ वैज्ञानिक संकेत द्रष्टव्य हैं--

तारोदर विनिष्पन्नः कुमारश्चन्द्रसन्निभः।
सर्वार्थविद् धीमान् हस्तिशास्त्र प्रवर्तकः।।
नाम्ना यत् राजपुत्रीयं विश्रुतं गजवैद्यकम्।
राज्ञः सोमस्य पुत्रत्वाद् राजपुत्रो बुधः स्मृतः।।

आयुर्वेद--शरीर-रक्षा अथवा आयुवर्धन का शास्त्र आयुर्वेद नाम से जाना जाता है। आयुर्वेदिक औषधियों का सम्बन्ध विज्ञान से है। गरुड पुराण में सर्पदंश की चिकित्सा का वर्णन है, जिसे गारुडी विद्या कहा जाता है। अग्निपुराण में 'मृतसंजीवनी' विद्या का भी उल्लेख है। हमारे पुराणों में अनेक कल्पों का सुन्दर वर्णन है। औषधियों की लम्बी सूचियाँ भी पुराणों में वर्णित हैं। धन्वन्तरि तथा सुश्रुत जैसे आयुर्वेदाचार्यों का वैज्ञानिक ज्ञान मूर्धन्य स्तर का रहा है। बृहत्संहिता में कश्यप, पराशर तथा सारस्वत जैसे आयुर्वेदाचार्यों का उल्लेख है। भारतीय आयुर्वेद प्राकृतिक तत्त्वों के साथ जुड़ा रहने से अत्यन्त उपयोगी है। आयुर्वेद, अध्याय में इसकी विस्तृत जानकारी दी गई है।

सामुद्रिक शास्त्र--किसी समुद्र नामक आचार्य ने शारीरिक लक्षणों के आधार पर सामुद्रिक शास्त्र का प्रवर्तन किया था। आज भी अर्वाचीन रूप में सामुद्रिक शास्त्र उपलब्ध है। वीरमित्रोदय का 'लक्षण प्रकाश' ग्रन्थ एक सुन्दर सामुद्रिक शास्त्रीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में स्त्री पुरुषों के लक्षणों या शारीरिक चिह्नों को लक्ष्य करके अनेक बातें बताई गई हैं। पुराणों में इस विद्या को 'अंगविद्या' कहा गया है। जैनधर्म में अंगविद्या को 'अंगविज्जा' के रूप में प्रस्तुत किया है। सामुद्रिकशास्त्र में हस्तरेखाओं का सर्वाधिक महत्त्व है। इस शास्त्र के अनुसार व्यक्ति के कर्मों के आधार पर लगभग 27 दिन में हस्तरेखाओं में किंचित् हेरफेर भी होता है। आयु रेखा (जीवन रेखा), ज्ञान रेखा तथा धनरेखा तीन प्रधान हस्तरेखाएँ मानी गई हैं। सामुद्रिकशास्त्र में रक्त की लालिमा का भी अच्छा विस्तार है, जिसके आधार पर व्यक्ति के स्वभाव की जानकारी दी गई है। हाथों की अंगुलियों की माप, तिलों, लहसनों आदि के आधार पर भविष्यत् का भी अनुमान करना इस शास्त्र का विषय है। वैवाहिक स्थितियों का भी इस शास्त्र के आधार पर वर्णन किया गया है। अग्निपुराण तथा गरुडपुराण में इस विद्या का तथ्यात्मक विस्तार है। आजकल सामुद्रिकशास्त्र को विज्ञान न मानकर एक ढोंग माना जाता है।

ज्योतिष--ज्योतिष का सम्बन्ध नक्षत्रों की स्थिति से है। नक्षत्रों की गति का ज्ञान ज्योतिष द्वारा ही संभव है। ज्योतिष का ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान ही है। ज्योतिष में राशि विवरण, सिद्धियोग, अमृतयोग, दशा-विवरण, दशा-फल, ग्रहण-चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण आदि की जानकारी संगृहीत है। ज्योतिषशास्त्र को आज का विज्ञान भी महत्त्व देता है। संस्कृत साहित्य का ज्योतिष शास्त्र पृथ्वी को आधार मानकर आगे

बढ़ा है। आज का विज्ञान सूर्य को केन्द्र मानकर ज्योतिष शास्त्र के विभिन्न विषयों की ओर प्रवृत्त हुआ है। इसकी विशेष जानकारी आगे दी जाएगी।

धनुर्विद्या—रामायण तथा महाभारत काल में धनुर्वेद का पर्याप्त प्रचलन रहा, ऐसे अनेक उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। वैदिक साहित्य में शंकर या रुद्र को धनुर्वेद का प्रकाण्ड पण्डित बताया गया है। महाभारत के वनपर्व में उल्लेख है कि अर्जुन ने शंकर की आराधना करके पाशुपत शस्त्रों को प्राप्त किया था। आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, नागास्त्र तथा गरुडास्त्र के प्रयोग का वर्णन विभिन्न पुराणों तथा काव्यों में मिलता है। गीता के दशम अध्याय में राम को धनुर्धारियों में सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर कहा है। राम के गुरु विश्वामित्र भी धनुर्वेद के आचार्य थे। भीष्म तथा द्रोणाचार्य भी धनुर्वेद के महान् पण्डित थे। परशुराम की शिष्य-परम्परा में धनुर्वेद का पर्याप्त विकास हुआ। परन्तु खेद का विषय यह है कि आज धनुर्विद्या का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं मिलता।

रामायण महाभारत तथा अनेक पुराणों में कुछ वैज्ञानिक विद्याओं का वर्णन किया गया है। चौदह विद्याओं का वर्णन 'पुराण' अध्याय में किया जा चुका है। अतः यहाँ प्रसंगवश उनका नामोल्लेख ही होगा।

पुराण-प्रथित चौदह विद्याएँ इस प्रकार हैं—(1) अनुलेपन विद्या, (2) स्वेच्छारूपधारिणी विद्या, (3) अस्त्र ग्राम हृदय विद्या, (4) सर्वभूतरुत विद्या (5) पद्मिनी विद्या, (6) रक्षोघ्न विद्या, (7) जालन्धरी विद्या, (8) विद्यागोपाल मन्त्र, (9) परा बाला विद्या, (10) पुरुष प्रमोहिनी विद्या, (11) उल्लापन विधान विद्या, (12) देवहूति विद्या, (13) युवककरण विद्या तथा (14) वज्रवाहनिका विद्या। ये सभी विद्याएँ अनुशीलन योग्य हैं।

वैज्ञानिक साहित्य : एक दृष्टि—संस्कृत का वैज्ञानिक साहित्य हमारी थाती अवश्य है। परन्तु खेद और दुर्भाग्य का विषय यह है कि वह साहित्य आज या तो अनुपलब्ध है अथवा अप्रमामाणिक। कुछ गिना-चुना वैज्ञानिक साहित्य आयुर्वेद तथा ज्योतिष इत्यादि के सन्दर्भ में उपलब्ध है। जो कुछ उपलब्ध है, वह चमत्कारी अवश्य है। हमारे यहाँ विद्या की रक्षा के लिए एक युक्ति प्रचलित रही, जिसका उल्लेख रामचरितमानस में भी मिलता है—

जोग जुगुति तप मन्त्र प्रभाऊ।
फलहि तबहि जब करिउ दुराऊ।।

—तुलसी

योग, युक्ति, तप, मन्त्रादि का प्रभाव धन्वे के रूप में तो छिपाने से फलीभूत अवश्य रहा, परन्तु उसके प्रचार के अभाव में हमारा वैज्ञानिक साहित्य चौपट अवश्य हो गया। भारतीय अवनति का रहस्य अनावश्यक दुराव अवश्य रहा है। अतः संस्कृत का वैज्ञानिक साहित्य मलेच्छ शासन-काल में भस्मात् हो जाने के कारण आज उसके मुख्यतः उल्लेख ही शेष रह गये हैं।

आयुर्वेद

वैदिककाल में आयुर्वेद को प्रमुख स्थान मिल चुका था। अथर्ववेद में आयुर्वेदीय तत्त्वों का पर्याप्त संकेत है। ऋग्वेद के रुद्र सूक्त में रुद्र को महानतम भिषगाचार्य बताया गया है। अश्विनी कुमारों ने इन्द्र के राज्य में वैद्य का कार्य किया था, ऐसा उल्लेख भी ऋग्वेद में प्राप्य है। आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थ 'चरकसंहिता' में इन्द्र को आयुर्वेद का प्रधान आचार्य बताया है। इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान भरद्वाज को दिया था। भरद्वाज से धन्वन्तरि जैसे आयुर्वेदाचार्यों ने ज्ञान प्राप्त किया था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अंगिरा ने अथर्ववेद की शिक्षा इन्द्र के पूर्ववर्ती अथवा आदि आचार्यों को दी थी। अतः अन्तःसाक्ष्य के आधार पर अंगिरा को ही आयुर्वेद का आदि आचार्य मानना चाहिए। कुछ विद्वान् अंगिरा को इन्द्र का शिष्य भी मानते हैं।[1] मनुस्मृति के आधार पर अंगिरस–अर्थात् बृहस्पति ने अथर्ववेद का ज्ञान ब्रह्माजी को दिया था। आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है—

आयुर्वेद-संहिता—आचार्य धन्वन्तरि के गुरु भास्कर ने 'आयुर्वेद-संहिता' नामक ग्रन्थ की रचना की। मत्स्य पुराण में चन्द्रमा के पुत्र बुध को हस्तिशास्त्र का विशारद बताया गया है। हो सकता है कि बुध ने हस्तिशास्त्र लिखा हो। चन्द्रवंशी बुध भास्कराचार्य का ही शिष्य था। 'आयुर्वेद संहिता' में शरीर को नीरोग रखने के सभी विधानों पर विचार किया गया है। आचार्य भास्कर का यह ग्रन्थ आयुर्वेद का मूल ग्रन्थ माना जाता है।

चिकित्सा-रसायन तन्त्र—आचार्य धन्वन्तरि ने 'चिकित्सा-रसायन तन्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। धन्वन्तरि भास्कराचार्य के शिष्य थे। इन्होंने अपने चिकित्सा-रसायन तन्त्र ग्रन्थ का आधार 'आयुर्वेद संहिता' को ही बनाया। आयुर्वेद के क्षेत्र में धन्वन्तरि को 'भगवान् धन्वन्तरि' उपाधि या नाम से सम्मानित किया गया है।

जीवदान—आचार्य च्यवन ऋषि ने 'जीवदान' नामक ग्रन्थ की रचना की। च्यवन ऋषि रसायन के महान् आचार्य थे। कहा जाता है कि ये च्यवनप्राश के सेवन से दीर्घजीवी बने। 'जीवदान' ग्रन्थ रसायन का एक महान् ग्रन्थ है। च्यवन ऋषि को भृगु का पुत्र माना गया है। च्यवन के वंश में ऋचीक, जगदग्नि आदि ऋषि आयुर्वेद के आचार्य हुए हैं। च्यवन ऋषि की महिमा आज तक अक्षुण्ण है।

चरक संहिता—आयुर्वेद के मूर्धन्य ग्रन्थ के रूप में चरक-संहिता सम्मान्य है। चरक-संहिता का प्रणेता चरक नामक ऋषि हुआ है। चरक-संहिता में रोगों के निदान का सूक्ष्म विश्लेषण है। आचार्य चरक आज के अफगानिस्तान में उत्पन्न हुए थे। उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी स्वीकार किया जाता है। आचार्य चरक ने आचार्य आत्रेय तथा अग्निवेशाचार्य की शिष्य परम्परा में विकसित आयुर्वेद को प्रामाणिक रूप दिया। आज तक के उपलब्ध आयुर्वेदिक ग्रन्थों में चरक-संहिता को

1 कविराज सूरमचन्द्र : आयुर्वेद का इतिहास, भाग 1, पृ. 40—42

सर्वाधिक प्रामाणिक तथा उपयोगी ग्रन्थ माना जाता है। वैदिक काल से ही चरक सम्प्रदाय प्रसिद्ध रहा है। हो सकता है कि प्राचीन काल में कोई चरक नामक आयुर्वेदाचार्य रहे हों। फिर भी इतना तो निश्चित है कि 'चरक-संहिता' के प्रणेता चरक ईसा की पहली शताब्दी में ही उत्पन्न हुए।

शिव प्रोक्त ग्रन्थ—शिव नामक आचार्य ने या महादेव ने 'आयुर्ग्रन्थ', 'आयुर्वेद', 'वैद्यराजतन्त्र', 'शैवसिद्धान्त', 'रुद्रयामलतन्त्र', 'पारदकल्प', 'धातुकल्प', 'हरितालकल्प', 'धातुप्रक्रिया' तथा 'रसार्णवतन्त्र' नामक विभिन्न ग्रन्थों की रचना की। परन्तु वैदिक युग के शिव द्वारा रचित ग्रन्थों का उल्लेख ही विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है। आज उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। शिव के शिष्य नन्दि को भी आयुर्वेद का विशारद कहा गया है। शंकर का पुत्र कार्तिकेय धनुर्वेद के साथ-साथ आयुर्वेद का भी प्रकाण्ड पण्डित था।

आयुर्वेदाचार्य नारद—हेमाद्रि द्वारा लिखित 'लक्षणप्रकाश' नामक ग्रन्थ में नारद आयुर्वेद का आचार्य बताया गया है। पौराणिक अध्ययन से पता चलता है कि नारद नामक ऋषि बड़ा घुमक्कड़ तथा बहुश्रुत होने के साथ-साथ बहुज्ञ भी था। परन्तु नारद का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नहीं हुआ है। फिर भी नारद को आयुर्वेद का आचार्य माना जा सकता है।

सुश्रुत संहिता—सुश्रुत नामक आचार्य ने 'सुश्रुत-संहिता' की रचना की। कहा जाता है कि सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे। हो सकता है कि विश्वामित्र के सम्बन्धी जमदग्नि तथा ऋचीक से सुश्रुत ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया हो।

धन्वन्तरि द्वितीय—धन्वन्तरि द्वितीय ने 'वैद्यक स्वरोदय' तथा 'चिकित्सासारसंग्रह' नामक दो आयुर्वेदिक ग्रन्थों की रचना की। ऐसा प्रतीत होता है कि 'धन्वन्तरि' एक उपाधि रही है तथा समय-समय पर महान् आयुर्वेदाचार्यों को इस उपाधि से सम्मानित किया गया।

अग्निवेश के ग्रन्थ—भरद्वाज की शिष्य-परम्परा में विकसित होने वाले अग्निवेश ने 'अग्निवेशतन्त्र' तथा 'नाड़ी परीक्षा' नामक दो आयुर्वेदीय ग्रन्थों की रचना की। 'महाभारत' में द्रोणाचार्य को अग्निवेश का ही शिष्य बताया गया है। अतः अग्निवेश धनुर्वेद का भी आचार्य था। अग्निवेश का समय ईसा पूर्व सहस्र वर्ष से भी अधिक मानना चाहिए।

आचार्य नागार्जुन—नागार्जुन चौथी शताब्दी की उपज है। आचार्य नागार्जुन शून्यवादी नागार्जुन से भिन्न हैं। इन्होंने 'लौहशास्त्र', 'रसरत्नाकर', 'कक्षपुट', 'आरोग्यमंजरी', 'योगसार,' 'रसेन्द्रमंगल', 'रतिशास्त्र', 'रसकच्छपुट' तथा 'सिद्ध नागार्जुन' नामक प्रमुख ग्रन्थों की रचना की। नागार्जुन ने शंकर के 'पारद कल्प' के आधार पर पारद-विद्या का भी विकास किया था। आजकल पारद-विद्या का क्षेत्र अपूर्ण है।

आयुर्वेद : एक दृष्टि—भारतीय आयुर्वेद के विकास में सबसे बड़ी बाधा मुद्रण की रही है। मुद्रण की सुविधाओं के अभाव में शंकर जैसे भिषगाचार्यों के ग्रन्थ शिष्य

परम्परा में कण्ठ-ज्ञान के रूप में न जाने कहाँ खो गए। फिर चरक-संहिता तथा 'सुश्रुत-संहिता' जैसे ग्रन्थों के इतने भाष्य हो चुके हैं कि आज आयुर्वेद को उन्हीं के आधार पर पर्याप्त सम्मान मिला है। आयुर्वेद न केवल मनुष्यों के लिए, अपितु पशुओं के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। जयदत्त एवं दीपंकर का 'अश्ववैधक' तथा धारा नरेश भोज का 'शालिहोत्र' प्रमुख अश्वशास्त्रीय ग्रन्थ है। अब तो वैद्यशास्त्र की कोश-ग्रन्थ परम्परा का भी पता लगा लिया गया है। ग्यारहवीं शताब्दी में सुरेश्वर का 'शब्द प्रदीप' तथा 13वीं शताब्दी में नरहरि का 'राजनिघण्टु' प्रसिद्ध कोश-ग्रन्थ रहे हैं। अब तो पण्डित हंसदेव का 'मृगपक्षिशास्त्र' भी उपलब्ध हो गया है।

ज्योतिष
(Astrology)

वेद के छः अंग माने गए हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष। अतः ज्योतिष वेद का अन्तिम अंग है। ज्योतिष का सम्बन्ध नक्षत्रों-ग्रहों से है। हमारे ज्योतिष में पृथ्वी को स्थिर मानकर नक्षत्रों की गति तथा स्थिति का अध्ययन किया गया है। पुराणों में ज्योतिष का विविधमुखी ज्ञान है। यहाँ ज्योतिष का संक्षिप्त इतिहास ही प्रस्तुत किया जा सकता है, क्योंकि ज्योतिष का अधिकांश साहित्य अनुपलब्ध है।

वैदिककालीन ज्योतिष—वैदिक संहिताओं में नक्षत्रों तथा ग्रहों के गति-चक्र के विषय में अनेक संकेत मिलते हैं। तैत्तिरीय संहिता में बारह महीनों तथा षड् ऋतुओं का वर्णन हुआ है, जो ज्योतिष-तत्त्व को उजागर करता है। लोकमान्य तिलक ने वेदों के रचना-काल को सिद्ध करते समय वैदिक ज्योतिषीय तत्त्वों का सुन्दर विवेचन किया है। शतपथ ब्राह्मण में संवत्सर की परिभाषा देते हुए कहा है—'ऋतुभिर्हि संवत्सरः शक्नोति स्थातुम्'—अर्थात् जिसमें ऋतुओं का निवास है, उसे संवत्सर कहते हैं। संवत्सर ही वर्ष का वाचक है। छान्दोग्योपनिषद् में नारद तथा सनत्कुमार के प्रसंग में ज्योतिष विद्या को नक्षत्रविद्या के नाम से पुकारा गया है। वेदों में शरद् ऋतु को विशेष महत्त्व प्रदान करके ज्योतिष के उद्भव को सूचित कर दिया गया है। अतः वेदों में ज्योतिष-तत्त्व निहित है।

ज्योतिष-ग्रन्थों की रचना का आदि काल—ईसा पूर्व 500 में 'वेदांग ज्योतिष' नामक ग्रन्थ विद्वानों के सामने आ चुका था। इस ग्रन्थ में ऋग्, यजु तथा अथर्व नामक वेद-संहिताओं से सम्बद्ध कारिकाएँ संगृहीत हैं। इस ग्रन्थ के प्रणेता का नाम 'लगध' बताया जाता है। आजकल लगध को वेदांगज्योतिष का संग्रहकर्ता या सम्पादक माना जाता है। ईसा पूर्व तीसरी तथा चौथी शताब्दी में जैन-ज्योतिष के 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' तथा 'ज्योतिषकरण्डक' नामक ग्रन्थों की रचना हुई। पाँचवीं शताब्दी में आर्यभट्ट ने 'आर्यभट्टीय' तथा 'तन्त्रग्रन्थ' नामक ज्योतिषीय ग्रन्थों की रचना की।

ज्योतिष ग्रन्थों का मध्य काल—आचार्य कल्याण वर्मा ने छठी शताब्दी में 'सारावली' नामक ज्योतिष-ग्रन्थ की रचना की। आचार्य वराहमिहिर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे। इनका 'बृहज्जातक' एक मुख्य ज्योतिष-ग्रन्थ है। वराहमिहिर का स्थितिकाल पाँचवीं शताब्दी निश्चित है। वराहमित्र के पुत्र पृथुयशा ने 'षट्पञ्चाशिका' नामक ज्योतिष ग्रन्थ लिखा। छठी शताब्दी के अन्तिम चरण में आचार्य ब्रह्मगुप्त ने 'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त' तथा 'खण्डखाद्यक' नामक ग्रन्थों की रचना की। बारहवीं शताब्दी में भास्कराचार्य ने ज्योतिष के ज्ञान को विश्वव्यापी बना दिया। इनका प्रमुख ग्रन्थ 'सिद्धान्त शिरोमणि' है। बारहवीं शताब्दी में ही बल्लालसेन ने 'अद्भुतसागर' नामक ग्रन्थ की रचना की। तेरहवीं शताब्दी में 'पद्मप्रभु' सूरि ने 'भुवन-दीपक' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त ज्योतिष के अनेकानेक ग्रन्थों का प्रणयन इसी युग में हुआ। सोलहवीं शताब्दी में रंगनाथ ने 'गूढ़ार्थप्रकाशिका' तथा नारायण पण्डित ने 'मुहूर्तमार्तण्ड' नामक प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की। वस्तुतः ज्योतिषशास्त्र के मध्यकाल में ज्योतिष गणित, बीजगणित, रेखागणित आदि का पर्याप्त प्रचलन हो गया था।

भारतीय ज्योतिष का आधुनिक काल—आधुनिक युग भारतीय ज्योतिष का स्वर्ण युग माना जाता है। इस युग में पाश्चात्य ज्योतिष के प्रभाव से ज्योतिष के क्षेत्र में अनेक ग्रन्थों पर शोध-कार्य भी हुआ। सौर जगत की पूरी जानकारी देने के प्रयास इसी काल में हुए हैं। आधुनिक ज्योतिष का सूत्रपात ज्ञानराज के 'सिद्धान्तसुन्दर' नामक ग्रन्थ से माना जाता है। ज्ञानराज का समय 16वीं शताब्दी निश्चित है। ज्ञानराज के पुत्र चिन्तामणि ने 'सिद्धान्तसुन्दर' ग्रन्थ की टीका की। ज्ञानराज के दूसरे पुत्र सूर्य ने ज्योतिष के क्षेत्र में अत्यधिक शोधपूर्ण कार्य किया। उनके ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—'गणितमालती', 'सिद्धान्तशिरोमणि', 'सिद्धान्तसंहितासार समुच्चय', 'बीजगणित', 'ताजिकग्रन्थ' इत्यादि। 16वीं शताब्दी में नीलकण्ठ ने 'ताजिक नीलकंठी' नामक ग्रन्थ लिखा। 16वीं शताब्दी के आचार्यों में अनन्त तथा उनके वंशजों ने ज्योतिष के क्षेत्र को व्यापक बनाने में पूर्ण योगदान दिया। सत्रहवीं शताब्दी में कमलाकर ने 'सिद्धान्त विवेक' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ पर पण्डित गंगाधर मिश्र की टीका उपलब्ध है। विदर्भ के दधिग्राम में रहकर चिन्तामणि तथा उनके वंशजों ने ज्योतिष-साहित्य का पर्याप्त विस्तार किया। सत्रहवीं शताब्दी में राम ने 'अनन्तसुधारस' नामक ग्रन्थ की रचना की। 1731 ई. में पण्डितराज जगन्नाथ ने 'सिद्धान्तसम्राट्' नामक ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की। 19वीं शताब्दी के प्रथम चरण में चन्द्रशेखरसिंह सामन्त ने 'सिद्धान्त-दर्पण' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक के आधार पर खूब पंचांग बनाए गए। कहा जाता है कि चन्द्रशेखरसिंह राजकार्यों में रुचि लेने के साथ-साथ ज्योतिष-साहित्य के अध्ययन में भी बड़ी रुचि लेते थे। योगेशचन्द्रराय ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखी है।

1856 ई. में लोकमान्य बालगंगाधर का जन्म हुआ। आप राष्ट्रनायक होने के साथ-साथ ज्योतिष के महान् आचार्य भी थे। आपका 'ओरायन' ग्रन्थ ज्योतिष के रहस्यों को व्यक्त करता है। लोकमान्य का महाप्रस्थान 1921 ई. में हुआ। भारतीय ज्योतिष में वैज्ञानिक विधियों को लाने का श्रेय सुधाकर द्विवेदी को है। आपने ज्योतिष पर भाष्य, टीका तथा इतिहास सम्बन्धी बीस-बाईस ग्रन्थ लिखे हैं। डॉ. गोरखप्रसाद ने 'भारतीय ज्योतिष का इतिहास' ग्रन्थ लिखा, जिसमें समीक्षात्मक स्तर पर ज्योतिष के सिद्धान्तों को स्पष्ट किया गया है। 19वीं तथा 20वीं शताब्दी के अन्तराल में भारतीय ज्योतिष को विदेशों में भी मान्यता मिली। यद्यपि इससे भी पूर्व भारतीय ज्योतिष का प्रभाव विदेशी ज्योतिष पर पड़ चुका था। अतः संस्कृत का ज्योतिष-साहित्य अनेक दृष्टियों से महान् है।

भारतीय ज्योतिष का स्वरूप

भारतीय ज्योतिष में पहले तो गणित तथा फलित ज्योतिष दो रूप ही प्रचलित थे। गणित के माध्यम से कुछ गणनाएँ की जाती थीं तब फलित का प्रयोग राशि-फल बताने में लिया जाता था। आगे चलकर ज्योतिष में स्कन्ध-त्रय प्रचलित हुआ। स्कन्ध-त्रय में सिद्धान्त, संहिता तथा होरा को गिना गया। आधुनिक ज्योतिष में होरा, गणित, संहिता, प्रश्न और निमित्त को स्थान मिला है। इस समय तो मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, चिकित्साशास्त्र जैसे विषयों को ज्योतिष से सम्बद्ध करके उसे आधुनिकता से परिपूर्ण कर दिया गया है। ज्योतिष के पाँचों अंगों का संक्षिप्त परिचय निम्न रूप में दिया जा रहा है—

होरा—ज्योतिष के 'होरा' अंग के माध्यम से जन्मकुण्डली बनाने का कार्य किया जाता है। जन्मकुण्डली के द्वादश भावों के फलाफल का वर्णन करना होरा शास्त्र का विषय है। इस अंग के प्रधान आचार्यों में वराहमिहिर, ढुंढिराज', श्रीधर आदि प्रमुख हैं।

गणित—गणित से ज्योतिष में मुख्यतः काल-गणना के साथ-साथ ग्रहगतियों का भी निरुपण किया जाता है। इस समय गणित को अलग विषय के रूप में भी मान्यता मिल चुकी है। संस्कृत साहित्य में भी गणितशास्त्र का इतिहास ज्योतिष शास्त्र के इतिहास से पृथक् स्थान रखने लगा है। फिर भी ज्योतिष में गणित का महत्त्व अद्भुत है। प्राचीन काल में गणित को ही ज्योतिष माना गया है—

यथाशिखामयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदांगशास्त्राणां गणितं मूर्ध्नि संस्थितम्॥

—वेदांग ज्योतिष, श्लोक 4

सिद्धान्त—सिद्धान्त ज्योतिष में अति वृष्टि, ग्रहण-फल, मुहूर्तगणना, गृहप्रवेश आदि को रखा गया है। हमारे धर्म में सिद्धान्ततत्त्व का बोलबाला रहा है। जब तक पण्डितजी गृहप्रवेश के सन्दर्भ में सिद्धान्त के आधार पर समय और दिन निश्चित नहीं करेंगे, तब तक गृहप्रवेश सम्भव नहीं है। अब सिद्धान्त तत्त्व को एक आडम्बर भी मान लिया गया है। फिर भी विद्या की अवमानना अनुचित है।

प्रश्न—प्रश्न ज्योतिष में प्रश्नाक्षर, प्रश्न-लग्न और स्वरज्ञान की विधियों का वर्णन होता है। प्रश्न ज्योतिष के आधार पर भूत और भविष्यत् का अच्छा अनुमान किया जाता है। वर्तमान में प्रश्न ज्योतिष को मनोविज्ञान से भी जोड़कर इसके स्वरूप को विश्वसनीय बना दिया गया है। सूर्य, चन्द्रादि स्वरों के आधार पर दिन-रात के हिसाब से स्वास्थ्य, कार्य-परिणाम आदि का विचार किया जाता है।

निमित्त—निमित्त ज्योतिष में शकुन का विचार किया जाता है। शकुन शास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। शकुन शास्त्र में स्वप्न जैसे तत्त्व को भी विचार का आधार बनाया गया है। शकुनशास्त्र की छाया भारतीय साहित्य पर पर्याप्त रूप में दिखलाई पड़ती है। वाल्मीकीय रामायण में रावण के मरण के समय स्थिति या वातावरण को बड़ा भयावह दर्शित किया गया है। रामचरितमानस में राम के विवाह के अवसर पर समस्त शकुनों को साकार कर दिया गया है। यदि सिर पर गीध बैठ जाए तो मरण या मरणासन्नता का संकेत मिल जाता है। वस्तुतः निमित्तशास्त्र को यदि वैज्ञानिक रूप में लिया जाए तो इस शास्त्र का सम्बन्ध जीवविज्ञान तथा मनोविज्ञान से अधिक है। शारीरिक हलचलों का जीवविज्ञान से सम्बन्ध जोड़कर ही उसे ज्योतिष का विषय बनाने से आडम्बरों को दूर किया जा सकता है। यदि किसी पुरुष की बायीं आँख फड़कती है तो पहले उसमें जीवविज्ञान का ही कारण मानना चाहिए। यदि इससे आगे कोई निमित्त सम्भव है तो वह निमित्त शास्त्र का ही विषय होगा। अतः निमित्तशास्त्र के अध्ययन में सूक्ष्मता की आवश्यकता है।

निष्कर्षतः भारतीय ज्योतिष के आधार पर वैदिककाल के ग्रन्थों का रचना-काल जानने में बड़ी मदद मिली है। काल-गणना के क्षेत्र में ज्योतिष की उपादेयता निर्विवाद है। भारतीय ज्योतिष में ग्रहों की प्रतीति या प्रत्यक्षता को विशेष महत्त्व देकर कार्य हुआ है।

तन्त्र-साहित्य
(Tantra Literature)

मन्त्र का सम्बन्ध मनन से है तथा तन्त्र का सम्बन्ध विस्तार और रक्षण से। हमारी वैदिक संहिताओं से ही तन्त्र साहित्य का उद्गम होता है। अथर्ववेद संहिता को विषय की दृष्टि से दो भागों में बाँटा गया है। पहला भाग अथर्वन् तथा दूसरा भाग अंगिरस नाम से जाना जाता है। इनमें अथर्वन् भाग से तन्त्र का सम्बन्ध है।

जनसामान्य में तन्त्र के प्रति कोई विशुद्ध एवं स्वस्थ धारणा नहीं मिलती। व्याकरण की दृष्टि से 'तन्' धातु में औणादिक ष्ट्रन प्रत्यय के योग से 'तन्त्र' शब्द निष्पन्न होता है। यथार्थतः ज्ञान का विस्तार करने वाली तथा व्यक्ति की अनेक आपदाओं से रक्षा करने वाली विद्या को तन्त्र विद्या कहा गया है—

"तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मान् तन्त्रमित्यभिधीयते ।।"

महाभारत में तन्त्र विद्या को द्विजाति द्वारा सम्मानित बताया गया है। तन्त्र अनेक वादों या विचारधाराओं की भाँति एक विशिष्ट विचारधारा है। यथा—

न्याया तन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः।
यतयो योगतन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति द्विजातयः॥

'निगम' शब्द का अर्थ वेद तथा 'आगम' शब्द का अर्थ तन्त्र किया गया है। 'आगम' शब्द का अर्थ शास्त्र भी है। पौराणिक युग में 'वाराही तन्त्र' की रचना की गई। प्रस्तुत तन्त्र ग्रन्थ में सृष्टि, प्रलय, देवार्चन, सर्वसाधन तथा पुरश्चरण के साथ-साथ शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, मारण नामक षट्कर्म से संयुक्त एवं ध्यानयोग की चारों विधियों से युक्त कोई ग्रन्थ आगम या तन्त्र कहलाता है। 'वाराही तन्त्र' में तन्त्र के प्रतिपाद्य का सुन्दर विवेचन किया गया है। पौराणिक युग में देवी की अर्चना का बोलबाला हुआ। इसीलिए शिवपुराण के अतिरिक्त देवीभागवत् नामक पुराण में देवी के विभिन्न रूपों तथा उसकी अनेक उपासना-पद्धतियों का विवेचन किया गया है। आचार्य शंकर सांख्य को भी 'तन्त्र' नाम से अभिहित किया है। सांख्य का योग एक शुद्ध तान्त्रिक साधना के रूप में प्रख्यात है।

वेद और तन्त्र—आचार्य कुल्लूकभट्ट ने श्रुति के दो रूप बताए हैं। वैदिकी तथा तान्त्रिकी। सत्रहवीं शताब्दी में आचार्य अप्पयदीक्षित ने शैवागम का विस्तृत विवेचन किया। वैदिक साहित्य में ईश्वर को 'शिव' भी कहा गया है। इसलिए शैव दार्शनिकों ने तन्त्र-ग्रन्थों में तन्त्रविद्या को वेदानुकूल सिद्ध किया है। दशम शताब्दी में आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रवार्तिक नामक ग्रन्थ में तन्त्र को वेदानुकूल तथा सहज ज्ञान के अनुकूल सिद्ध किया है। हमारा विचार है कि मूल-तन्त्र वेदानुकूल है तथा तन्त्र का परम्परावादी रूप अनेक प्रकार के आडम्बरों से परिपूर्ण है। आचार्य शंकर ने वैष्णवागम के प्रमुख सिद्धान्त चतुर्व्यूहवाद को वेद विरुद्ध बताया है। वस्तुतः वैष्णवों ने पांचरात्र मत के अधार पर श्रीकृष्ण, संकर्षण या बलराम, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध को चतुर्व्यूह रूप में प्रस्तुत करके भक्तिमत की स्थापना की है। विशुद्ध वेदवादियों को ईश्वर की प्रतीक उपासना का विरोध करना पड़ा है। 19वीं शताब्दी के समन्वयवादी दार्शनिक स्वामी विवेकानन्द ने भी तर्क की कसौटी पर मूर्ति-पूजा या निर्गुण से सगुण होने की ईश्वरीय प्रक्रिया का खण्डन किया है।

शाक्ततन्त्र का अनेकांगी आचार

शक्ति के उपासकों को शाक्त कहा जाता है। ईश्वर की माया या चैतन्य शक्ति का मानवीकरण कर देने पर शक्ति के भक्तिमूलक रूप की विचित्र कल्पना की गई है। आठों दिशाएँ देवी की भुजाएँ हैं। इसलिए उसे अष्टभुजी कहा गया है। ऐसी शक्ति का दर्शन दुर्लभ है तथा शाक्त मत के माध्यम से या अन्य किसी माध्यम से उस देवी को प्राप्त करना कठिन है, इसलिए उसे दुर्गा कहा गया है। पुराणों में शक्ति-तत्त्व के सम्बन्ध में एक रोचक प्रसंग यह है कि शंकर की पत्नी राजा दक्ष के यज्ञ में यज्ञकुण्ड की अग्नि में कूदने के कारण जल गई थी। पीछे से शंकर के अनुयायियों ने शंकर के शिष्य वीरभद्र के नेतृत्व में हरिद्वार के समीप

कनखल में होने वाले यज्ञ को विध्वस्त कर दिया। कालान्तर में शंकर ने सती के अर्द्ध ज्वलित शरीर को अपनी भुजाओं में उठा लिया। वे उस शरीर को लेकर इधर-उधर उन्मत की भाँति घूमते रहे। शंकर की ऐसी उन्मत्तता का एकमात्र कारण उनकी पत्नी का शव ही था या तन्निहित राग। अतः विष्णु ने अपने चक्र से उस शव को धीरे-धीरे काटकर गिरा दिया। आज के जो प्रमुख देव स्थान हैं, वहीं शती के शरीर के टुकड़े पड़े थे, अतः वे तीर्थ बन गए। इस घटना के पीछे रहस्य यही है कि शंकर देवसंस्कृति के विरोधी थे। वे योगमार्ग या ज्ञानमार्ग के प्रवर्तक थे। उनकी कोपनशीलता का वर्णन रुद्र देवता के सन्दर्भ में विभिन्न वेदों ने किया है। देवसंस्कृति का विरोध करने के कारण शंकर को वामदेव नाम भी मिला। ज्ञानमार्ग की साधना का सम्बन्ध रहस्यमयी साधना से है—गुह्य साधना से है। उस गूढ़ साधना के सन्दर्भ में लौकिक तत्त्वों में भी अलौकिक तत्त्व का आरोपण होने लगा। इसीलिए शाक्तों के देव को अर्द्धनारीश्वर का भी रूप मिला। शैव दर्शन में शिव के दो रूप हैं—संवित्सागर शिव एवं चैतन्य-तत्त्व रूप शक्ति। शिव को पुरुष रूप कहा गया तथा चैतन्य शक्ति को नारी रूप। शंकर के अर्द्धनारीश्वर स्वरूप का यही रहस्य है। 'रुद्रयामल तन्त्र' में शाक्तों का वामाचार विशिष्ट रूप से वर्णित है। असम की कामाख्या देवी शक्ति पीठ के रूप में प्रसिद्ध है। शाक्तों में पंचमकार की उपासना का वर्णन हुआ है। पंचमकार इस प्रकार हैं—मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्रा तथा मैथुन। शैव दर्शन में पंचमकारों को गूढरूप देने की चेष्टा की गई है। परन्तु पंचमकार की उपासना नितान्त भौतिकवादी उपासना है।

तन्त्र-साहित्य : एक दृष्टि—तन्त्र विद्या आर्यों से भी पूर्व भारत के वनवासियों या द्रविड़ों में प्रचलित थी। तिब्बत तथा पूर्व भारत में इस विद्या का पर्याप्त प्रचार रहा है। तन्त्रविद्या का विविधमुखी विस्तार हुआ है। सातवीं-आठवीं शताब्दी में संस्कृत तथा अपभ्रंश के साहित्य पर तन्त्र-विद्या का प्रभाव परिलक्षित होता है। तन्त्र का मूल तत्त्व ज्ञानमार्गीय ध्यान तथा समाधि-साधना है, परन्तु रूढ़िवद्ध रूप में तन्त्र-विद्या नितान्त त्याज्य विद्या है। तान्त्रिकों को 'कौल' भी कहा गया है।

गणित-साहित्य
(Mathematic Literature)

प्रारम्भ में गणित को ही ज्योतिष कह दिया जाता था। कालान्तर में गणित ज्योतिष का अंग बन गया। परन्तु गणित में बीजगणित, रेखागणित जैसे भेद-प्रभेद भी दिखलाई पड़ने लगे। अतः गणित एक अलग ही विषय बन गया। यहाँ हम गणित का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं। गणित के इतिहास के सन्दर्भ में ग्रन्थों की अल्पता भी विचारणीय है।

गणितशास्त्र और गणितज्ञ—पाँचवीं शताब्दी में आर्यभट्ट नामक ज्योतिषाचार्य ने ज्योतिष में गणित का विचित्र प्रयोग किया। इनकी 'आर्याष्टशत' नामक रचना में गणित से सम्बद्ध 33 आर्याएँ हैं। आचार्य आर्यभट्ट ने सिद्धान्त ज्योतिष में गणिताध्याय को सन्निहित किया था। इन्होंने गणित के क्षेत्र में क्षेत्रफल, घातक्रिया, घातमूलक्रिया आदि को वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। आयतन तथा वृत

आदि के विषय में भी आपने पर्याप्त कार्य किया। आचार्य ब्रह्मगुप्त ने वर्ग, घनमूल, त्रैराशिक, व्याज आदि का विकास किया। रेखागणित के क्षेत्र में त्रिभुज, चतुर्भुज आदि का विकास भी इसी युग में हुआ। बीजगणित के क्षेत्र में समीकरण-पद्धति भी इसी युग में विकसित हो चुकी थी। नवीं शताब्दी में आचार्य महावीर ने 'गणितसारसंग्रह' नामक गणितीय ग्रन्थ की रचना की। आचार्य श्रीधर ने दशम शताब्दी में 'त्रिशती' ग्रन्थ की रचना की। गणित के क्षेत्र में भास्कर का 'लीलावती' ग्रन्थ प्रमुख है। कहा जाता है कि आचार्य भास्कर ने अपनी पुत्री के नाम पर ही 'लीलावती' नामक ग्रन्थ की रचना की। भास्कर का समय 11वीं शताब्दी निश्चित है। भास्कर के पौत्र चंगदेव ने 1205 ई. में भास्कर की विद्या के विकास हेतु एक शिक्षण-संस्था की भी स्थापना की। इनका कार्य-स्थान पेशावर रहा। चंगदेव की मूली रुचि फलित ज्योतिष की ओर हो रही थी।

गणित शास्त्र की प्राचीनता—ज्योतिष-तत्त्व वेदों में ही मिल जाता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में चैतन्य तत्त्व को सहस्रों हाथों वाला, सहस्रों सिरों वाला तथा सहस्रों रूपों वाला कहा गया है। अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में भी गणना को सूचित करने वाला कोई शास्त्र अवश्य रहा होगा। जानवरों को चतुष्पद कहने के पीछे गणित ही काम करता हुआ दिखाई पड़ रहा है। महाभारत में काल-गणना का एक रोचक प्रसंग है कि जब पाण्डव तेरह वर्ष के वनवास को काट रहे थे तो भीष्म पितामह ने अधिमास की चर्चा करके ज्योतिषीय गणित का परिचय दिया था। रामायण में राम का चौदह वर्ष का वनवास 'चौदह' संख्या की सूचना देता है। मनस्मृति में तत्त्व-विश्लेषण के सन्दर्भ में गणित का परिचय दिया गया है। अतः इन निष्कर्षों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि गणित शास्त्र भी एक प्राचीन शास्त्र है।

गणित शास्त्र की उपादेयता—जीवन में भाषा के पश्चात् गणित की ही सर्वाधिक उपयोगिता है। गणित शास्त्र के माध्यम से गणित के क्षेत्र में संख्या-ज्ञान की उपादेयता अपने-आप स्पष्ट है। दो और दो मिलकर ही चार होते हैं। गणित की सार्वलौकिकता को चुनौती नहीं दी जा सकती। प्राचीन आचार्यों ने गणित शास्त्र के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए यहाँ तक कह दिया है कि जिस प्रकार से मयूर के शरीर में उसकी चोटी का महत्त्व है, जिस प्रकार से पर्वत-पदार्थ में मणियों का महत्त्व है; उसी प्रकार शास्त्रों में गणित का महत्त्व है। बीजगणित की सूक्ष्मता से आज विज्ञान का जो विकास हुआ है, वह किसी से छिपा नहीं है। रेखागणित अथवा त्रिकोणमिति एवं ज्यामितीय आदि के विकास से भव्य-भवनों एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म कल-पुर्जों के निर्माण का समितीय महत्त्व स्वतः स्पष्ट है।

भारतीय गणित शास्त्र तथा विदेशी गणित शास्त्र—प्राचीन काल में भारत में अनेक जातियों का आगमन हुआ अतः आगन्तुक भारत से इस विद्या को अपने यहाँ भी ले गए तथा उनकी गणित-विद्या का प्रभाव भारतीय गणित शास्त्र पर भी पड़ा। कुछ लोगों की यह मान्यता है कि भारत में अंकों का सूत्रपात ग्रीस के गणित

के आधार पर हुआ। परन्तु भारतवर्ष में अंकों का ज्ञान तो वैदिक काल में ही हो गया था। देवनागरी लिपि का विकास सिकन्दर के आगमन से बहुत पहले हो चुका था। ग्रीसदेशीय रेखागणित का प्रभाव भारतीय रेखागणित पर स्वीकारा जाता है। चीनी गणित शास्त्र के सम्बन्ध में भी यह मान्यता है कि भारत में जिस फलित ज्योतिष का प्रचार है, उसका आविष्कार चीन में हुआ था। परन्तु बौद्ध-धर्म के इतिहास से पता चलता है कि चीन में ज्योतिष तथा गणित का जो कुछ विकास हुआ, उसमें भारतीय विद्या का अत्यधिक योगदान है।

गणित शास्त्र : एक दृष्टि—भास्कर तथा आर्यभट्ट जैसे आचार्यों से पूर्व पुराणों के अनुसार नारद जैसे गणित शास्त्रज्ञ भी भारतवर्ष में हुए हैं। परन्तु अब पौराणिक उल्लेखों से किसी विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। पुराणों के अधिकांश उल्लेख केवल सूचना मात्र हैं। नारद जैसे ऋषियों का एक भी प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं मिलता। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि जब ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम साहित्य में अंक-गणना का सुन्दर विस्तार है तो वैदिक काल में ही अच्छे गणितज्ञ रहे होंगे। तर्क के आधार पर तो इतना तक कहा जा सकता है कि प्राग्वैदिक काल में ही गणितशास्त्र किसी न किसी रूप में अवश्य प्रचलित रहा होगा। किसी चीज का विकास अचानक नहीं होता। अतः गणितशास्त्र का जो विकास वैदिक साहित्य में उपलब्ध है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में गणित का कोई न कोई रूप अवश्य प्रचलित रहा होगा। सिन्धु घाटी की सभ्यता से यह स्पष्ट ही है कि वैदिक काल से भी पूर्व व्यक्ति रेखागणित का ज्ञान रखते थे। अतः ज्ञान की आदि कालावधि को निश्चित करना उसी प्रकार भ्रामक है, जिस प्रकार सृष्टि के प्रथम मानव की बात करना। आधुनिक युग में पाइथागोरस जैसे गणितशास्त्रज्ञों के प्रभाव से गणित का जो विकास हुआ है, उसे संस्कृत साहित्य अभी तक आत्मसात करने में असमर्थ है। अब संस्कृत भाषा साहित्य की भाषा ही रह गई है। अतः हमें गणित शास्त्र की दृष्टि से प्राचीन संस्कृत-साहित्य पर ही अधिक निर्भर रहना पड़ेगा।

सांस्कृतिक इतिहास

(ऋग्वेद काल से 400 ई. पू. तक)

(Cultural History)

संस्कृति मानव हृदय को पवित्र करने वाले सुसंस्कारों का समूह है। प्राचीन काल से ही मानव की आनन्दवादी चेतना उसे संस्कृति के चरम सत्य की ओर उन्मुख करती रही है। संस्कृति के इसी रहस्य को इतिहासबद्ध करने के लिए साहित्य, सिक्के, शिलालेख, प्राचीन भवन-निर्माण की कला, स्तूप, उत्कीर्ण चित्र आदि को आधार बनाया गया है। प्राचीन काल में लेखन तथा मुद्रण की सुविधाओं के अभाव के कारण हमारा साहित्य श्रुत-साहित्य ही रहा है। इसलिए उस युग में इतिहास को सुरक्षित रखने की परम्परा होने पर भी आवश्यक-सुविधाओं एवं साधनों के अभाव में सांस्कृतिक इतिहास साहित्य जैसे अन्त: साक्ष्य तथा स्तूप एवं शिलालेख जैसे बाह्य साक्ष्य के आधार पर ही जाना जा सकता है।

प्राचीन भारत की संस्कृति ईसा पूर्व 4000 में भी विद्यमान थी। उस समय की सभ्यता को मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाई के आधार पर बाह्य साक्ष्य को प्रमाण मानकर प्रस्तुत किया जाता है। उस प्राग्वैदिक संस्कृति को सिन्धु घाटी की सभ्यता एवं संस्कृति के नाम से जाना जाता है। उस समय की सभ्यता एवं संस्कृति को अनुशीलित करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राग्वैदिक काल में भी संस्कृति का हजारों वर्ष पुराना इतिहास रहा होगा। प्राचीन भारत का ही नहीं, अपितु समूचे विश्व का ही प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है, जिसमें उस समय के समाज के अनेक आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक संकेत भरे पड़े हैं, जो यह स्पष्ट करते हैं कि वैदिक संस्कृति कितनी समुन्नत रही है। वैदिक संस्कृति को जानने के अन्त: साक्ष्य-स्वरूप साधन ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्रग्रन्थ हैं।

महाकाव्य युगीन संस्कृति 'रामायण' तथा 'महाभारत' पर आधारित होने के साथ-साथ पुराणों पर भी आधारित देखी जाती है। इसी के समानान्तर विकसित होने वाली सस्कृति बौद्ध तथा जैन साहित्य को आधारभूत मानकर ही जानी जा सकती

है। बौद्ध संस्कृति को जानने के लिए 'धम्मपद' तथा 'ललित विस्तर' जैसे ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ता है तथा जैन संस्कृति 'आचारांगसूत्र' जैसे धर्मग्रन्थों तथा 'पउम-चरिउ' जैसे महाकाव्यों के आधार पर खोजी एवं जानी गई है। बौद्ध तथा जैन संस्कृतियाँ आठवीं शताब्दी तक विकसित होती रहीं। अतः इनके विकास के द्योतक अनेक दार्शनिकों के ग्रन्थ तथा अनेक कवियों के काव्य बने।

प्राचीन भारत का भक्तिपरक आन्दोलन प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास की उत्तर-सीमा के रूप में जाना जाता है। हमारी प्राचीन संस्कृति को प्रकट करने के लिए हमारे विभिन्न ग्रन्थों का विदेशी भाषाओं में प्राप्त अनुवाद भी एक प्रबल साधन है। सांस्कृतिक प्रसार की जानकारी के आधारभूत अनूदित ग्रन्थ ही हैं। ऋग्वैदिक-काल से लेकर 400 ई. पू तक प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में वैदिक संस्कृति को स्थान दिया गया है, जिसमें ऋग्वैदिक संस्कृति तथा उत्तर वैदिक संस्कृति का उल्लेख किया गया है। द्वितीय भाग में वैदिक युगोत्तर संस्कृति को रखा है. जिसके क्रमशः दो भाग किये हैं-पौराणिक एवं महाकाव्य युगीन संस्कृति तथा बौद्ध एवं जैन संस्कृति। 400 ई. पू. में वैदिक युगोत्तर संस्कृति का प्राधान्य रहा, जिसका यथा स्थान वर्णन किया गया है।

वेद-साहित्य को संहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्र ग्रन्थों के रूप में जाना जाता है। वेद की संहिताएँ मुख्यतः चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। इन चार संहिताओं में ऋक् संहिता प्राचीनतम है। ऋग्वेद में जिस संस्कृति का उल्लेख है, वह अन्य तीन संहिताओं तथा अन्य वैदिक साहित्य से स्वरूपतः कुछ भिन्न है। यथार्थतः जब किसी व्यवस्था को लागू किया जाता है तो उसका मूल रूप जन-समाज में बहुत कुछ प्रतिबिम्बित रहता है, परन्तु समय व्यतीत होने पर मूल रूप कुछ अन्य रूपों में विकसित तथा परिवर्तित होता चला जाता है। इसीलिए संस्कृति के अनेक रूप दिखलाई पड़ने लगते हैं। ऋग्वेद का रचना-काल दो हजार वर्ष ईसा पूर्व स्वीकार किया जाता है। अतः उस समय की संस्कृति को स्पष्ट करने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों का विवेचन करना आवश्यक हो जाता है।

प्राचीन काल से ही देव-दानव संघर्ष की परम्परा चली आ रही है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में कोई कश्यप नामक ऋषि थे। संभवतः वे गूढ़ तत्त्व के प्रधान पश्यक या द्रष्टा थे। 'पश्यक' शब्द को वर्ण-विपर्यय के आधार पर कश्यप रूप मिला है। कश्यप ने अपने प्रभाव को अनेक रूपों में प्रदर्शित किया। वह व्यक्ति न केवल ज्ञानी था, अपितु एक महान् राजनीतिज्ञ भी था। उसने अनेक विवाह किए। उसकी प्रधान पत्नी अदिति के वंशज आदित्य या देव कहलाए। इसी तरह से दिति के पुत्र दैत्य तथा दनु के पुत्र दानव नाम से सम्बोधित किए गए। कालान्तर में कश्यप ने संन्यास ले लिया तथा उन्हें ज्ञान का विस्तारक मानकर ब्रह्मा भी कह दिया गया। कश्यप के पुत्रों ने अपने-अपने राज्य का विस्तार किया। अतः आत्मगौरव की ग्रन्थि से ग्रथित होने के कारण पारस्परिक संघर्ष भी प्रारम्भ हो गया। इस संघर्ष के अनेक रूप वेदों में द्रष्टव्य हैं। इन्द्र तथा वृत्र की शत्रुता की

अनेक कल्पनाएँ या कथा-संकेत वेदों में भरे पड़े हैं। शम्बर नामक राक्षस की भी चर्चा ऋग्वेद में मिलती है। निष्कर्षतः 'आर्य' शब्द उच्चता या श्रेष्ठता का वाचक है। प्रधान यौधेय जाति ने अपने आपको आर्य कहा है। परन्तु संघर्ष की निरन्तरता के कारण आर्यों से जो अनार्य जातियाँ टकराईं, उनसे भी आर्यों ने सामञ्जस्य स्थापित किया। ऐसे समन्वय और सामञ्जस्य के कारण वैदिक संस्कृति विविध-मुखी हो गई। इस विशेषता की ओर संकेत करते हुए डॉ. वेनीप्रसाद ने ठीक ही लिखा है—"आर्य संगठन पर सबसे अधिक प्रभाव तो आर्यों और अनार्यों का पड़ा।"

आर्यों को देववंश का वंशज माना जाता है। यहाँ हमें पहले 'देव' शब्द के विषय में विचार कर लेना चाहिए। 'दिव्' धातु में 'घञ्' प्रत्यय के योग से 'देव' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'दिव्' धातु प्रकाश तथा दान के अर्थ में स्वीकारी गई है। अतः ज्ञान के प्रकाशक देव कहलाते हैं अथवा जिन्होंने दुनिया को अपनी विद्या का ज्ञान दान-स्वरूप प्रदान किया, वे देव हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेदादि संहिताओं में प्राकृतिक देवों के साथ कुछ ऐसे देव भी जुड़े हुए हैं, जो व्यक्ति-स्वरूप हैं। पौराणिक साहित्य के महान् आचार्य वलदेव उपाध्याय ने इसीलिए वेदों की शैली को रूपकमयी कहा है। यथार्थतः देव संस्कृति के लक्षण आर्यों में तो थे ही, साथ ही अनार्य जातियों से सम्पर्क होने के कारण तथा विभिन्न वातावरणों में रहने के कारण अन्य संस्कार भी वेद द्रष्टाओं में परिपूरित हो गए। इसीलिए वेदों में देव संस्कृति तथा मानव संस्कृति का सम्मिश्रण मिलता है। इस पुस्तक के लेखक के विचार से सम्पन्न वर्ग की संस्कृति देव संस्कृति थी, निवृत्तिमार्गी मनीषियों एवं जन-साधारण की संस्कृति के नाम से जानी जाती थी। देव संस्कृति तथा मानव संस्कृति की विशेषताओं पर दृष्टिपात करने से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकती है—

देव संस्कृति की विशेषताएँ

1. अलौकिक शक्ति-सम्पन्नता
2. अनन्त ऐश्वर्य की प्राप्ति
3. भव्य एवं विशाल भवनों में निवास
4. संगीत-प्रियता
5. अलंकार-प्रियता
6. सोम एवं सुरापान में रुचि
7. यज्ञों में आस्था
8. विलास प्रियता
9. आत्मवाद की प्रवलता, तथा
10. अमरता की भावना का प्रसार

मानव संस्कृति की विशेषताएँ

1. पंच महायज्ञ का विधान
2. सोलह संस्कारों की योजना
3. वर्णाश्रम धर्म का प्रसार
4. यम नियमों की व्यवस्था
5. उपासना पद्धति का प्रचार
6. समन्वयवाद या समरसता की प्रधानता
7. नारी का महत्त्व
8. विश्व वन्धुत्व की भावना
9. पुरुषार्थ-चतुष्टय, तथा
10. स्वदेश-प्रेम एवं राष्ट्रीयता

देव संस्कृति में अमरता की भावना भी सोमरस के पान पर आश्रित जान पड़ती है। प्रस्तुत प्रमाणों से विवेच्य-तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगा—

अपामसोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ।।

—ऋग्वेद, 8/48/3

अर्थात् "हे मरण रहित धर्म वाले सोम ! हमने तुम सोम को पीया है और हम अमर हो गये हैं । हमने प्रकाशमान लोकों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है । अतः अब हमारा शत्रु हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता अथवा हमारा क्या कर सकता है ? मनुष्य की धूर्तता की तो हमें कोई चिन्ता नहीं है ।" इस मन्त्र के सन्दर्भ में कुछ तथ्य विचारणीय हैं–

(1) सम्पन्न वर्ग बड़े ठाठ से सोमरस या मदिरा का पान करता था ।
(2) वैभवपूर्ण स्थानों को प्रकाशमान लोक की संज्ञा दी जाती थी ।
(3) सम्पन्न वर्ग जनसाधारण को 'मर्त्य' कहता था ।
(4) देव या सम्पन्न वर्ग तथा मर्त्य या मानवों के बीच द्वन्द्व अवश्य विद्यमान था ।
(5) सम्पन्न वर्ग धनी होने के साथ-साथ शक्तिशाली भी था । सोमरस को आयुवर्धक भी सिद्ध किया है । यथा–

शं नो भव हृद आ पीत इन्दो पितेव सोम सूनवे सुशेवः ।
सखेव सख्य उरुशंस धीर प्र ण आयुर्जीव से सोम तारीः ।।

—ऋग्वेद, 8/48/4

अर्थात् "हे सोम ! हमने आपको पीया है, अतः आप हमारे हृदयों को पवित्र करो । जिस प्रकार पिता पुत्र को सुखकर होता है तथा मित्र मित्र के लिए सहायक होता है; उसी प्रकार आप हमें सुख प्रदान करो । सोम ! अनेक व्यक्ति आपकी स्तुति करते हैं । अतः महान् कीर्ति-सम्पन्न सोम ! आप हमारी आयु को बढ़ाकर हमें दीर्घजीवी बनाओ ।" प्रस्तुत मन्त्र के विशिष्ट संकेत इस प्रकार हैं–

(1) 'सोम' चन्द्रमा का भी वाचक है तथा मदिरा का भी । अतः वेदों में रूपक शैली का प्रयोग है ।
(2) सोमरस बहुमूल्य होता था, अतः जनसाधारण उसकी प्रशंसा ही कर पाता था ।
(3) सोमरसपायी व्यक्ति अपने जीवन-स्तर के अनुसार सोमरस के सहज प्रशंसक थे ।
(4) सोमरस से कष्टों या शारीरिक तथा मानसिक रोगों से भी छुटकारा मिलता था ।
(5) सोमरस आयुवर्धक पेय माना जाता था ।

ऐसा होने पर भी सोमरस के अतिपान को उन्मततताकारक ही कहा गया है ।[1] अभी हमने देव संस्कृति की विशेषताओं में भोगवाद की प्रबलता ही देखी

1 ऋग्वेद, 8/48 8

क्या भोगवादी आत्मवादी भी कहे जा सकते हैं ? इस प्रश्न का सरल उत्तर यही है कि भोगवादी देव संस्कृति को अन्य निवृत्तिमार्गी संस्कृतियों के साहचर्य से आत्मवादी तत्त्वों को अपने आप में समेटना पड़ा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में विभिन्न संस्कृतियों का सम्मिश्रण है।

संस्कृति का स्वरूप

सांस्कृतिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य में संस्कृति का स्वरूप जानना भी आवश्यक है। व्युत्पत्ति के आधार पर 'संस्कृति' भावात्मक एवं विचारात्मक-तत्त्वों का परिष्कृत रूप है। 'संस्कृति' शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है—सम्+कृ+सुट् का आगम+क्तिन्=संस्कृति। कुछ मूर्धन्य विद्वानों के शब्दों के आधार पर संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है। करपात्री जी ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा है—"लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एवं हलचलें ही संस्कृति हैं।" डॉ. गुलाबराय लिखते हैं-"संस्कृति शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है, जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कृति शब्द का भी यही अर्थ है और संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं, जाति के भी, किन्तु जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। भाववाचक शब्द होने के कारण संस्कृति एक समूहवाचक शब्द है।" डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृति की परिभाषा देते हुए लिखा है-"सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है।" पाश्चात्य विचारक डॉ. व्हाइट हेल्ड ने भी संस्कृति को इसी रूप में परिभाषित किया है-"Culture is activity of thought and receptiveness to beauty and human feelings" अर्थात् संस्कृति मानसिक प्रयास, सौन्दर्य तथा मानवता की अनुभूति है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर संस्कृति का स्वरूप निम्न रूप में स्पष्ट हो सकता है—

(1) संस्कृति एक आदर्श तत्त्व है।
(2) संस्कृति एक आन्तरिक तत्त्व है।
(3) संस्कृति का सम्बन्ध भावों तथा विचारों से है या चरित्र से है।
(4) संस्कृति मानव जाति से सम्बद्ध एक दिव्य एवं अलौकिक तत्त्व है।
(5) संस्कृति का सम्बन्ध विभिन्न विचार धाराओं से है।
(6) संस्कृति को जीवन दर्शन का रूप भी समझना चाहिए।
(7) संस्कृति मानव की सर्वोत्तम खोज है।
(8) संस्कृति वातावरण के आधार पर भिन्न-भिन्न रूपों वाली बनती है।
(9) संस्कृति या परिष्कार सभी मानवों को मान्य है।
(10) संस्कृति आदर्श जीवन का प्रेरणा-स्रोत है।

ऋग्वैदिक संस्कृति
(Rigvedic Culture)

संस्कृत तथा इतिहास के आचार्यों ने वैदिक युगीन संस्कृति को दो भागों में विभाजित किया है—पूर्व वैदिक युगीन संस्कृति तथा उत्तर वैदिक युगीन संस्कृति।

पूर्व वैदिक युगीन संस्कृति को ऋग्वैदिक संस्कृति के नाम से जाना जाता है तथा उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति को ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्र-ग्रन्थों के युग से सम्बद्ध किया जाता है। ऋग्वैदिक संस्कृति 3000 ई. पू. में विकसित हुई।

ऋग्वैदिक संस्कृति में देव तथा मानव संस्कृतियों के सम्मिश्रण को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर परखा जा सकता है—(1) बहुदेववाद, (2) एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद, (3) वर्ण-व्यवस्था, (4) आश्रम-व्यवस्था, (5) नारी-सम्मान, (6) राष्ट्रीयता की भावना, (7) नैतिकता आदि।

(1) बहुदेववाद—ऋग्वेद में द्युलोक, अन्तरिक्षलोक तथा पृथ्वीलोक से सम्बद्ध अनेक देवी-देवताओं का वर्णन मिलता है। ऋग्वैदिक काल में इन्द्र को प्रधान देवता माना गया है। इन्द्र वर्षा का देवता होने के साथ-साथ सूर्य का भी रूप माना गया है। गृत्समद नामक ऋषि ने इन्द्र की प्रशंसा में अनेक अलौकिक बातें कहीं हैं। इन्द्र देववंश का कोई राजा था, उसकी वीरता का विविधमुखी रूप ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में निर्मित है। इन्द्र सभी देवताओं में सर्वाधिक आकर्षक व्यक्तित्व से परिपूर्ण माना गया है। उसकी शक्ति से द्युलोक तथा पृथ्वीलोक थरथराते हैं।[1] इन्द्र हिलती हुई पृथ्वी को स्थिर करने वाला है। प्राणियों में स्थिरता का उत्पादक भी इन्द्र देवता ही है। इन्द्र ने विशाल से विशाल पर्वतों के पंखों को काटकर यथास्थान नियन्त्रित कर दिया है। इन्द्र ने द्युलोक को धारण कर रखा है।[2] इन्द्र वृत्रासुर नामक शूरवीर को मारने वाला है।[3] इन्द्र ने जल रोकने वाले पर्वतों को हटाकर सात नदियों को प्रवाहित किया। इन्द्र शत्रुओं के गोधन का भी अपहरण करने वाला है। इन्द्र ने अपने पिता के पैर को पकड़कर जमीन पर दे मारा था तथा अपनी माता की माँग के सिन्दूर को धो दिया था। इस पुस्तक के लेखक ने 'त्र्यम्बक' उपन्यास में इसी वैदिक घटना को सविस्तार प्रदर्शित किया है। वस्तुतः इन्द्र मेघ का वाचक है। जब घटाटोप घनमण्डल में से विद्युत्पात होता है तो उसी को वज्रपात माना जाता है। इसीलिए इन्द्र के शस्त्र का नाम वज्र है। जिस समय पर्वतों की गगनचुम्बिनी चोटियों के ऊपर वज्रपात होता है तब वे विचूर्ण हो जाती हैं। इसी तथ्य को आलंकारिक रूप में आकाश में उड़ते हुए पर्वतों के पंखों को काटना कहा गया है। महर्षि दयानन्द ने 'इन्द्र' शब्द का अर्थ प्राण किया है। अतः प्राण ने द्युलोक-स्वरूप शीश, पृथ्वीलोक-स्वरूप उदर, जंघा आदि समस्त शारीरिक अवयवों को धारण कर रखा है। फिर भी इतना निश्चित है कि ऋग्वेद का इन्द्र असुर संस्कृति का दमन करने वाला है तथा पराक्रम प्रदर्शन में सहज वीरता के आधार पर आगे बढ़ने वाला है। अतः इन्द्र को ईश्वर, मेघ तथा राजा प्रभृति रूपों में प्रस्तुत करके बहुदेववाद की धारणा को प्रबल रूप में पुष्ट कर दिया गया है।

1 ऋग्वेद 2/12/1
2 ऋग्वेद, 2/12/2
3 ऋग्वेद 2/12/3

ऋग्वेद का दूसरा प्रधान देवता वरुण है। वरुण को एक प्रशासक का स्वरूप प्रदान किया गया है। वरुण देवता विस्तीर्ण द्युलोक तथा पृथ्वीलोक को अनेक प्रकार से धारण किए हुए है। वरुण ने नक्षत्रों को दर्शनीय बनाया है तथा भूमि को विस्तृत। वरुण देवता के दर्शन के लिए वशिष्ठ नामक ऋषि को आतुर दिखाया गया है।[1] वशिष्ठ ने वरुण की प्रार्थना करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि वह वरुण को अपने प्रकार की हवि प्रदान करता है तथा और भी अधिक हवि आहूत कर सकता है। परन्तु वरुण देव फिर भी वशिष्ठ ऋषि के ऊपर कोप करता है। वरुण देवता सम्राट के रूप में अपनी प्रजा को क्षमा करने वाला है। महर्षि दयानन्द ने वरुण को इन्द्रियों का प्रतीक माना है। वस्तुत: वरुण जल का देवता है। पृथ्वी सामुद्रिक हलचलों से ही बनी है। पृथ्वी को धारण करने में वरुण को ही कारण बताया गया है। परन्तु जब वरुण को दिन तथा रात्रि का अधिष्ठाता बताया जाता है तो वह काल का स्वरूप बन जाता है। इतना ही नहीं, वरुण तो ईश्वर रूपी सम्राट के रूप में अपने तेज से या अपनी आज्ञा से सूर्य को प्रकाशित करने वाला है, अग्नि को भी तेजस्विता प्रदान करने वाला है। वह अपने देदीप्यमान रथ पर आरूढ़ होकर समस्त संसार का निरीक्षण करता है। सम्राट् वरुण के दर्शन के लिए या उसके कृपापात्र बनने के लिए वैदिक मन्त्रद्रष्टा भी तरसते दिखाई पड़ते हैं—

कदाक्षत्र श्रियं नरमा वरुणं करामहे। मृलीकायोरुचक्षसम्॥

—ऋग्वेद, 1/25/5

अर्थात् शासकीय शक्ति से शोभायमान होने वाले, संसार में सबको देखने वाले या त्रिकालदर्शी तथा सबका नेतृत्व करने वाले वरुण, आपके आगमन से हमें कब सुख मिलेगा। वरुण देवता को सर्वान्तिरयामी भी सिद्ध किया गया है। वरुण समुद्र मार्ग से जाने वाली नाव के मार्ग को जानता है। वह पक्षियों के मार्ग से भी सुपरिचित है।[2] वरुण देवता प्राणियों को कर्म करने की प्रेरणा देता है। यह देवता बारहमासों को जानता है तथा चौथे वर्ष पड़ने वाले अधिमास से भी परिचित है।[3] वरुण को सर्वज्ञ भी बताया गया है।[4] वरुण के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि वह एक सम्राट् है। पौराणिक वरुण एक राजा ही है। हो सकता है कि वरुण समुद्र तटवर्ती भाग पर शासन करते रहे हो। वरुण को ईश्वर रूप में देखने की परिकल्पना बहुदेववाद से हटकर एकेश्वरवाद की ओर अग्रसर हो जाती है।

ऋग्वेद में अग्नि देवता को देवताओं का ऋत्विज बताया गया है। यज्ञ-निष्पादन के लिए अग्नि देवता प्रधान देवता है। यज्ञवाद की सिद्धि के लिए अग्नि

1 ऋग्वेद, 7/86/2
2 ऋग्वेद, 1/25/7
3 ऋग्वेद, 1/25/8
4 वही, 1/25/9

को प्रधान देवता बताना युक्तियुक्त भी है। इन्द्र के पश्चात् अग्नि देव को सूक्त-संख्या की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। अग्नि देवता अपनी विद्या द्वारा हवि भोग करता है। यज्ञ की अग्नि से सम्बद्ध अग्नि देवता का मानवीकरण करने मे अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की गई हैं। यह अग्नि देव लाल-लाल मूछों तथा दाढ़ी वाला है, घी की पीठ वाला है, स्वर्ण के दाँतों वाला है इत्यादि। अग्नि भूतों, प्रेतों तथा राक्षसों को भगाने वाला है। अतः अग्नि केवल एक प्राकृतिक तत्त्व न होकर उसका सम्बन्ध यज्ञ की अग्नि से जोड़कर उससे आरोग्यवर्धन की कमनीय कामना की गई है। अग्नि नामक किसी राजा का वर्णन पुराणों में नहीं हुआ, जिसने देवताओं की सहायता की हो। अतः ऋग्वेद का अग्नि देवता ईश्वर के रूप में प्रायः नहीं पहुँच पाता। वह केवल यज्ञ की अग्नि के रूप में प्रारम्भ से अन्त तक विकसित होता चला जाता है। अतः अग्नि देवता के सन्दर्भ में बहुदेववाद की पुष्टि स्वयमेव हो जाती है। ऋग्वेद का श्रीगणेश बहुदेववादी सिद्धान्त से ही होता है। यथा निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

अग्निमीले पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

—ऋग्वेद, 1/1/1

जब अग्नि देवता, देवताओं का ऋत्विज है तो देव अनेक हैं, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

ऋग्वेद में मरुत् देवता रुद्र के पुत्र कहे गये हैं। मरुतों को एक समूह के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मरुत देवता वायु के ही विभिन्न रूप हैं। वे अपने वेग से पृथ्वी को कम्पायमान करने वाले हैं। मरुतों का योद्धाओं का भी स्वरूप प्रदान किया गया है। मरुतों के विभिन्न रूपों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मरुत प्राकृतिक तत्त्व ही है। इसी प्रकार से विष्णु-सूक्त विष्णु को सूर्य का रूप दिया गया है। विष्णु अपने तीन कदमों में पूरे संसार को नापने वाले हैं। उनकी वीरता की सभी व्यक्ति प्रशंसा करते हैं। विष्णु नामक देवता भी सभी लोकों की रचना करने वाला है। विष्णु अपने शत्रु को उसी तरह धराशायी कर देते हैं, जिस प्रकार सिंह मृगों का वध कर देता है। विष्णु और सूर्य की एक सी स्थिति को देखने से बहुदेववाद की व्यापक धारणा को एक धक्का भी लगता है। ऋग्वेद में प्रधान रूप से 33 देवताओं की स्तुति हुई है। पर्जन्य जैसे देवता के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृतिक शक्तियों का स्तवन करना आर्यों का स्वभाव था। अतः आर्य प्रकृति-प्रेमी रहे हैं।

(2) एकेश्वरवाद—ऋग्वेद में एक ही शक्ति को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला कहा है। विष्णु नामक देवता समस्त लोकों को धारण करने वाला कहा है—'एकोदाधार भुवनानि विश्वा।' सूर्य, मित्र, पूषन, विष्णु आदि तत्त्व एक ही प्रकाशस्वरूप ईश्वर के वाचक हैं। इनमें जो तेज है, वह सब ईश्वरीय तेज है। स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के प्रथम अध्याय में ईश्वर के वाचक शब्दों की व्याख्या करके बहुदेववाद का खण्डन किया है। ईश्वर समस्त सृष्टि का कर्त्ता

कहा गया है। वह ईश्वर हजारों शीशों, हजारों आँखों तथा हजारों पैरों वाला है। उसने सम्पूर्ण विश्व को अपने एक अंश मात्र में स्थापित कर रखा है। अतः ईश्वर अद्वितीय है। एकेश्वरवादी दार्शनिकों ने ईश्वर को प्रकृति तथा जीव से अधिक व्यापक तथा सक्षम बतलाया है। पुरुष-सूक्त का ईश्वर अपने एक चौथाई भाग में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अवस्थित रखता है तथा तीन चौथाई भाग में अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। अतः उसकी समता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उस ईश्वर ने ही चारों वेदों की रचना की। जलचरों, खेचरों तथा थलचरों का निर्माता भी वही ईश्वर है। ईश्वर का मानवीकरण करके उसके विभिन्न अंगों से सृष्टि की रचना सिद्ध की गई है। यथा—

चन्द्रमा मनसो जातश् चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च .प्राणाद्वायुरजायत ॥

—ऋग्वेद, 10/90/13

अर्थात् चैतन्य-स्वरूप ईश्वर के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। उसकी आंखों से सूर्य का जन्म हुआ। मुख से इन्द्र तथा अग्नि उद्भूत हुए। ईश्वर की प्राण-शक्ति वायु के रूप में प्रकट है। अतः ईश्वर प्रकृति को भी धारण करने वाला है। ऋग्वेद-कालीन संस्कृति में एकेश्वरवाद की पुष्ट धारणा मिलती है। जब इन्द्र भी सभी लोकों को धारण करने वाला है तथा वरुण, विष्णु और सूर्य आदि भी, तब एक ही शक्ति को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया है, यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् हिरण्यगर्भ या सूर्य देवता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव का मानव के साथ धोखा एक भ्रममात्र है। अतः 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का उदार सिद्धान्त ऋग्वैदिक काल में प्रचार पा चुका था।

(3) **वर्ण-व्यवस्था**—ऋग्वैदिक समाज में गुण-धर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था लागू थी। पुरुष या ईश्वर के मुख या ज्ञानरूप को ब्राह्मण कहा गया है। शक्तिमानों का क्षत्रिय था ईश्वर की भुजाएँ माना गया है। वैश्य-वर्ण ईश्वर का उरु है। समाज सेवी शूद्र वर्ण ईश्वर के चरण-स्वरूप हैं। अतः गुण-कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था को सुन्दर रूप देने का प्रयास किया गया है। यथा—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृतः।
उरु तदस्य यदवैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत ॥

—ऋग्वेद, 10/90/12

व्यक्ति गुणों के अनुसार कर्मों का विभाजन-एक वैज्ञानिक व्यवस्था का ही द्योतक है। अतः हमें इस व्यवस्था को समाज के विराट् ब्रह्म पर ही लागू मानना चाहिए। यदि ईश्वर के ऊपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जैसे वर्णों को आरोपित करने की आवश्यकता का अनुमान किया गया तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में समाज को व्यवस्थित रखने के लिए एक प्रौढ़ विचार धारा बन चुकी थी। उसी विचारधारा का प्रयोग करके प्रत्येक वर्ण को ईश्वर का

ही अंश सिद्ध करके कर्मों का भेद होने पर भी तत्वतः समस्त समाज को एकरूपता प्रदान की गई। फिर भी समाज की प्रगति में बाधक वर्णहीन समाज को दस्यु समाज कह दिया गया। ऋग्वेदकालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था को जातिगत बन्धनों में नहीं जकड़ा गया। उस समय का समाज कर्म की भावना को लेकर राष्ट्र के निर्माण में आगे बढ़ा। वर्ण-व्यवस्था का जो सुन्दर और वैज्ञानिक रूप ऋग्वैदिक काल में देखा गया, वह परवर्ती काल में अदर्शनीय ही रहा। अत. ऋग्वैदिक युग की वर्ण-व्यवस्था सामाजिक प्रगति को ध्यान में रखकर ही विकसित हुई।

(4) आश्रम-व्यवस्था—यद्यपि आश्रम-व्यवस्था का विकास मुख्यतः उत्तर वैदिक युगीन संस्कृति की देन है, तथापि ऋग्वैदिक युग में आश्रम-चतुष्ट्य का विधान प्रचलित हो चुका था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास नामक चारों आश्रमों की व्यवस्था थी। यहाँ एक-एक आश्रम के स्वरूप को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

मनसा, वाचा तथा कर्मणा मैथुन-त्याग को ब्रह्मचर्य नाम से जाना जाता है। जब ब्रह्मचारी वेदाध्ययन के लिए गुरुकुल में चला जाता था तो वह वहाँ रहकर ब्रह्मचर्य के समस्त नियमों का पालन करके ही या करता हुआ ही विद्यार्जन करता था। ब्रह्मचर्य आश्रम को निर्माण-आश्रम कहा गया है। ब्रह्मचर्य की शक्ति से ही कोई व्यक्ति आचार्य के पद पर पहुँच पाता है। ब्रह्मचर्य के ही कारण प्रजापतित्व मिलता है। ब्रह्मचर्य की शक्ति से इन्द्रत्व प्राप्त होता। ब्रह्मचर्य-व्रत के फलस्वरूप राजा शासन-सूत्र को संचालित करता है। इसी की महिमा से संसार दाम्पत्य-जीवन की ओर अग्रसर होता है। यही ब्रह्मचर्य समस्त सिद्धियों का जनक है —

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रो भवद्वशी ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं नियच्छति।
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिमा ॥ —ऋग्वेद

ब्रह्मचर्य-आश्रम के पश्चात् ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। विवाह के समय वर कन्या का हाथ पकड़कर कहता था—

गृहणामि ते सौभगत्वाय हस्त मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ॥

—ऋग्वेद

अर्थात् सौभाग्य को प्राप्त करने के लिए मैं तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ। मुझ पति को पाकर तुम सुखपूर्वक वृद्धावस्था तक पहुँचना। अतः ऋग्वैदिक काल में दाम्पत्य जीवन की जो सुव्यवस्था थी, उससे गृहस्थ का क्षेत्र अत्यन्त सुखमय था—यह स्पष्ट हो जाता है। विवाह होने पर पत्नी को गृहिणी पद प्राप्त हो जाता था तथा वह ननद, श्वसुर, सास आदि पारिवारिक सम्बन्धियों के ऊपर साम्राज्ञी-तुल्य शासन करती थी।

ऋग्वैदिक काल के आर्य पर्यटन में तो बड़ा विश्वास रखते थे, परन्तु उत्तर वैदिक युग में आश्रम के रूप में वानप्रस्थ का वर्णन नहीं मिलता।

ऋग्वेद में दोषों अथवा पापों के परिहार-स्वरूप संन्यास की तो व्यवस्था है, परन्तु संन्यास नामक आश्रम के रूप में कोई व्यवस्था दिखलाई नहीं पड़ती।

यथार्थतः ऋग्वैदिक समाज में कर्मकाण्ड की प्रधानता रही। इसलिए विभिन्न देवताओं की स्तुति करके पुत्र-पौत्रादि की समृद्धि की याचना की प्रधानता रही। इस तथ्य को पुष्ट करने के लिए एक उदाहरण आवश्यक है—

या वः शर्म शशमानाय सन्ति त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि।
अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रयिं नो धत्त वृषणः सुवीरम्॥

अर्थात् हे मरुतो ! आपके स्वरूप में जो सुख परिपूर्ण हैं, उन्हें स्तुति करने वाले इस यजमान को प्रदान करो। हे कामनाओं की वर्षा करने वाले मरुत् देवताओ ! हमारे लिये उत्तम वीर पुत्र आदि से युक्त धन को दो।

(5) **नारी-सम्मान**—ऋग्वेद में स्त्रियों के सम्मान की अनेकशः चर्चा हुई है। ऋग्वैदिक युग की महिलाएँ स्वेच्छापूर्वक विवाह करती थीं—अर्थात् विवाह करने के लिए स्वतन्त्र होती थीं। यज्ञ-कार्यों के सम्पादन में स्त्रियाँ पूर्ण सहयोग करती थीं। ऋग्वेद में उषा, पृथ्वी, वाक्, नदी आदि स्त्रीवाचक तत्त्वों को श्रद्धा से देखा गया है। ऋग्वेद की उषा एक सुन्दर तथा निर्दोष युवती के रूप में चित्रित हुई है। पृथ्वी को माता का रूप प्रदान किया है। ऋग्वेद में पत्नी को ही घर कहा गया है। पत्नी ही आनन्द है तथा पत्नी ही गृहस्थी है। स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक था। स्त्रियाँ रूपवती होने पर अपने पतियों के चित्त को आकर्षित करने के लिए बहुधा दक्षता प्रदर्शित करती थीं। परन्तु ऋग्वेद में बहु विवाह की प्रथा[1] का भी वर्णन है। जहाँ बहु विवाह की प्रथा प्रचलित होती है, वहाँ स्त्रियों की स्वतन्त्रता अत्यन्त सीमित हो जाती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राजा-महाराजा ही अनेक विवाह करते थे। अतएव स्त्रियों की दयनीय स्थिति की चर्चा ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में मिलती है। ऋग्वेद में कहीं-कहीं विधवाओं की कारुणिक दशा का भी चित्रण मिलता है। जिस समाज में स्त्रियाँ वैधव्य का शिकार बनती हैं, वहाँ स्त्रियों की स्थिति में भी इसी रूप-रचना का वर्णन कर देना अप्रासंगिक न होगा। ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ नामक देवता को सृष्टि में सबसे पहले उत्पन्न होने वाला बताया है। हिरण्यगर्भ देवता सभी प्राणियों का स्वामी कहा गया है। उसने पृथ्वी तथा द्युलोक को धारण कर रखा है। अतः ऐसे देवता को छोड़कर हमें किस देवता के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए। हिरण्यगर्भ देवता जानवरों को नियन्त्रित करने वाला है। वह श्वास-प्रश्वास को भी नियन्त्रित करता है। हिरण्यगर्भ के शासन को सभी प्राणी मानते हैं। यह देवता जीवन का मूल-स्रोत है। हिमालय जैसा विशाल पर्वत अनेक नदियों के कलरव के माध्यम से हिरण्यगर्भ देवता की महिमा का ही गान करता है। चारों दिशाएँ भी इसी देवता की महिमा का गायन करती हैं। इस देवता ने अन्तरिक्ष लोक को ऊपर ही धारण कर रखा है, पृथ्वी को विशेष रूप में

1 ऋग्वेद, 1/61/11

स्थित कर रखा है तथा स्वर्गलोक को भी इसने धारण कर रखा है। अतः अन्तरिक्ष में जल का निर्माण करने वाला यह सूर्य देवता हमारी भक्ति का सहज आलम्बन बन जाता है। जिस प्रकार से हिरण्यगर्भ देवता सृष्टि-संचालन के सभी गुणों से युक्त प्रदर्शित किया है, उसी प्रकार वरुण देवता भी सृष्टि के नियामक के रूप में प्रतिपादित किया गया है। यहाँ दोनों शक्तियों का साम्य एकेश्वरवाद की धारणा को ही पुष्ट करता जान पड़ता है—

येन द्यौरुग्रा पृथिवीं च दृढ़ा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

—ऋग्वेद, 10/121/5

धीरा त्वस्य महिना जनूंपि वि यस्तस्तम्भ रोदसी विदुर्वी।
प्र नाकमृष्वं नुनुदे वृहन्तं दिवता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ।।

—ऋग्वेद, 7/86/1

प्रस्तुत मन्त्रों में पहला मन्त्र सूर्य से सम्बद्ध है तथा दूसरा मन्त्र वरुण से। परन्तु दोनों ही देवता सृष्टि के नियामक के रूप में चित्रित होने से एकेश्वरवाद की धारणा को ही सिद्ध करते हैं। ऋग्वेदकालीन समाज में ईश्वर को अद्वितीय रूप में देखने या मापने का परिपक्व विचार बन चुका था। अतः इन्द्र, वरुण, हिरण्यगर्भ, वरुण, पुरुष आदि नामों से जिन शक्तियों का स्तवन किया है, वे शक्तियाँ एक ही तत्त्व के विभिन्न रूपों में प्रदर्शित हैं। इसी धारणा को प्रामाणिक रूप देने के लिए ऋग्वेद में यहाँ तक कह दिया गया है कि मूलतः एक ही शक्ति है, परन्तु उस शक्ति को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नामों से पुकारा जाता है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि राहुरथो दिव्यस्सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातारिश्वानमाहुः ।। —ऋग्वेद

वस्तुतः एकेश्वरवादी विचारधारा वैचारिक परिपक्वता पर बल देती है। हमें सभी प्रकार से गूढ़ तत्त्व को जानने की चेष्टा करनी चाहिए—वैदिक एकेश्वरवाद का सांस्कृतिक रहस्य यही है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' के माध्यम से यही सिद्ध किया गया है कि आत्म-परिष्कार का एकमात्र माध्यम ईश्वर ही है। अतः उसके गुणों को अपने आप में धारण करना ही सहज संस्कृति है। इसीलिए उस शक्ति को आनन्द का स्रोत कहा है।

(6) अद्वैतवाद—यद्यपि औपनिषदिक काल में अद्वैतवादी विचारधारा परिपक्व रूप में सामने आई। परन्तु अद्वैतवाद की छाया ऋग्वैदिक काल में ही आच्छादित होने लगी थी। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में अद्वैतवाद का स्पष्ट रूप दिखलाई पड़ता है। सूक्त के प्रारम्भ में ही किसी विलक्षण शक्ति को अनेक रूपों में याद किया गया है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ।।

—ऋग्वेद, 10/129/1

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ से पूर्व या प्रलयकाल में न अभावात्मक तत्त्व या और न ही सभावात्मक तत्त्व। पृथ्वी से लेकर पाताल पर्यन्त लोक भी नहीं थे। न अन्तरिक्ष था और न उससे परे का कोई लोक या स्थान ही था। परन्तु वह आवरण-स्वरूप तत्त्व क्या था ? यह भी एक सांस्कृतिक विचार है। अद्वैतवादी व्यक्ति सदसत् से विलक्षण अनिर्वचनीय तत्त्व को मानकर अद्वैतवाद को स्थापित करते हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में एक ही शक्ति को अनेक शीर्शों, अनेक पैरों तथा अनेक आँखों वाला बतलाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि विराट् ब्रह्म जगत्-स्वरूप है। अद्वैतवाद में ईश्वर के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए 'पर ब्रह्म' तथा 'अपर ब्रह्म' नामक ईश संज्ञाओं को स्वीकार किया गया है। पर ब्रह्म एक आनन्द-सत्ता है तथा अपर ब्रह्म एक चैतन्य सत्ता है। हमें यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि यह समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है। ईश्वर स्वय को जगत् के रूप में चित्रित करके भी जगत् से कहीं अधिक व्यापक एवं विस्तृत बना रहता है। समस्त सृष्टि उसी के अन्दर घूम रही है तथा स्थित है। जीव उसी ईश्वर का अंश है। अतः ईश्वर एवं जीव मूलतः अद्वैत या एक ही तत्त्व है। इसी अद्वैत तत्त्व की विचित्र स्थिति मन्त्र में द्रष्टव्य है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सम्वाया समानं विश्वं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

अर्थात् सुन्दर पंखों वाले समान आयु वाले दो पक्षी मित्र समान रूप से विश्व का आलिंगन कर रहे हैं। उनमें से एक स्वादिष्ट पिप्पल का आस्वादन कर रहा है। दूसरा भोग न करता हुआ भी आनन्द प्राप्त करता है। प्रस्तुत उदाहरण में अद्वैतवाद का जागतिक रूप चित्रित है—1. ईश्वर और जीव दोनों ही अनादि तत्त्व हैं, 2. ईश्वर का अंश जीव फल भोग के कारण सुखी या दुखी रहता है तथा ईश्वर भोगातीत होने के कारण नित्यानन्दमय कहा गया है, 3. समान धर्मा ईश्वर और जीव अभोग और भोग के कारण ही पृथक् हैं, 4. फलभोक्ता तथा फल द्रष्टा दोनों ही पक्षियों की एक ही जाति है—पक्षी जाति। अतः जातितः या मूलतः दोनों पक्षी अद्वैत तत्त्व से ही सम्बद्ध हैं, 5. जब ईश्वर को एक महान् चेतना कह दिया गया तो उस चेतना का पृथक्कीकरण तर्क की कसौटी पर कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता। अतः अन्ततः अद्वैत तत्त्व ही शेष रहता है। फिर भी ऋग्वेद अद्वैत तत्त्व शंकराचार्य के अद्वैतवाद की भूमिका मात्र है। ऋग्वैदिक समाज में अद्वैत की कल्पना ने व्यक्ति और समाज को सुख और शान्ति के प्रतिष्ठान की ओर बढ़ना सिखाया। जब ईश्वर को मुख की दृष्टि से ब्राह्मण, भुजाओं की दृष्टि से क्षत्रिय, जंघाओं की दृष्टि से वैश्य तथा पैरों की दृष्टि से शूद्र तक कह डाला तो इतना निश्चित है कि वह ईश्वर ही मानव समाज के रूप में अनेक रूपों वाला है। डॉ॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने अद्वैतवाद की उस विचारधारा को सर्वश्रेष्ठ कहा है, जिसमें यह माना गया है कि ईश्वर अपने आपको ही सृष्टि या ब्रह्माण्ड के रूप में व्यक्त करता है। वस्तुतः यही अद्वैतवाद है। एक ही चेतन और आनन्द-तत्त्व सभी जीवों में परिपूर्ण है। उसी

तत्त्व को अद्वैत-तत्त्व कहा विधवा-विवाह की प्रथा ही सुधार कर सकती थी। श्मशान-भूमि में शव-दाह के पश्चात् युवती विधवा के विवाह को आयोजित किया जाता था। अतएव विधवा-विवाह का प्रचलन स्त्रियों के प्रति उदार दृष्टिकोण को सूचित करता है। केवल इतना ही नहीं, अपितु विधवा-विवाह के माध्यम से स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार भी प्रदान किए जाते थे—यह भी स्वतः स्पष्ट है। स्त्रियों के अपमान की विशेष चर्चा भी यत्र-तत्र देखने को मिलती है। जुआरी व्यक्ति की पत्नी केश खोलकर रोती थी। अतएव ऋग्वैदिक समाज में स्त्रियों को अपने पतियों के दुर्व्यसन से अपमानित होना पड़ता था। परन्तु दुर्व्यसनी व्यक्ति को घर से निकालने की चर्चा भी ऋग्वेद में मिलती है। संग्रह रूप में यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक समाज में स्त्री को सम्मान देने के सभी आदर्श विद्यमान थे, परन्तु उस समय आडम्बरों का पूर्ण अभाव था—यह नहीं कहा जा सकता।

7. राष्ट्रीयता की भावना—देवताओं के स्वरूप के चित्रण में यह स्पष्ट वर्णित है कि राष्ट्र की रक्षा के लिए नियमों का अनुपालन आवश्यक था। ऋषि-महर्षि तक नियमों के उल्लंघन के भय से भयभीत रहते थे। देवों और दानवों के युद्ध की चर्चा अनेक बार हुई है। इन्द्र जैसे पराक्रमी राजा के संरक्षण में देववंश ने पर्याप्त प्रगति की। जब संसार का एकछत्र राजा होता है तो वह पर्वत-तुल्य स्थैर्य को धारण करके समस्त प्रजा-वर्ग का पालन बड़ी तत्परता से करता है। यथा—

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाचलिः।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुधारय॥

—ऋग्वेद, 10/173/2

वैदिक मनीषियों ने सम्पूर्ण विश्व के व्यक्तियों में एक ही शक्ति को देखने का, जो अभूतपूर्व प्रयास किया, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा को अच्छी तरह जानते तथा मानते थे। यह सब जगत्-व्यापार केवल चैतन्य-तत्त्व का ही विस्तार है। अतीत, वर्तमान तथा भविष्य का समस्त कार्य-व्यापार उसी चैतन्य-तत्त्व की लीला है। अतः सभी जीवधारियों में एक ही चेतना फैली हुई है। यथा—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

—ऋग्वेद 10/90/2

राष्ट्रीयता में अन्तर्राष्ट्रीयता को समाहित करने की दिव्य कल्पना ऋग्वैदिक-काल में विद्यमान थी, यह सबसे बड़ा आश्चर्यजनक विषय है। उस समय का विद्वत्वर्ग सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अद्वैतवाद के आधार पर एकता को देखने का अभिलाषी था। आर्यों ने अपने शत्रु को कुचलने की जो धारणाएँ व्यक्त कीं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी विश्व-शान्ति केवल एक स्वप्न थी। फिर भी देव—दानव, आर्य-अनार्य अपने-अपने राष्ट्रों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील अवश्य रहते थे।

अन्य नैतिक मूल्य—ऋग्वैदिक संस्कृति में अनेक नैतिक मूल्यों के दर्शन सम्भव

हैं। महर्षि वशिष्ठ ने वरुण देवता की स्तुति करते हुए यहाँ तक कह डाला है कि यदि मैंने अपने स्वामी के प्रति किसी प्रकार से कृतघ्नता प्रदर्शित की है तो मैं उसका प्रायश्चित करने के लिए तैयार हूँ। 'अक्ष सूक्त' में जूआ खेलने की मनोवृत्ति की कटु निन्दा की गई है।[1] निष्कर्षतः यही कहना ठीक है कि ऋग्वैदिक युग में धर्म को आधार बनाकर नैतिकता को महत्त्व प्रदान किया जाता था।

ऋग्वेदकालीन धार्मिक जीवन

ऋग्वेद ऋचाओं का समूह है। 'ऋचा' का अर्थ 'स्तुति-मन्त्र' है। अतः ऋग्वेद एक धर्म ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में तद्युगीन धार्मिक जीवन को अनेक रूपों में चित्रित किया गया है। धार्मिक जीवन का क्षेत्र सभ्यता और संस्कृति के समन्वित रूप में माना जाता है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि आर्यों और अनार्यों के सम्मिलन के फलस्वरूप ऋग्वैदिक धर्म की स्थापना हुई थी। ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन को समझने के लिए मुख्यतः निम्नलिखित बिन्दुओं को आधार बनाया जा सकता है—1. देव-स्तवन, 2. यज्ञ एवं स्तुति, 3. ईश्वर वादिता, 4. समन्वय, 5. शिक्षा का महत्त्व, 6. गुरु का महत्त्व, 7. सदाचार का महत्त्व, 8. कर्मपरायणता, 9. परोपकार की भावना तथा 10. आदर्शता की प्रधानता।

1. देव-स्तवन— ऋग्वेद में इन्द्र, वरुण, विष्णु, रुद्र, अग्नि, मरुत, पर्जन्य, अश्विनों, पूषा आदि देवताओं की अनेकधा स्तुति मिलती है। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद को स्तवन की प्रधानता से पूर्ण वेद बताया है।[2] इन्द्र को एक वीर देवता के रूप में याद करके वैदिक धर्म की रक्षा का रहस्य प्रतिपादित कर दिया गया है। अपने कल्याण के लिए ऋषिजन अनेक देवताओं का स्तवन विभिन्न सन्दर्भों में करते पाए जाते हैं। स्व-कल्याणार्थ अग्नि देवता की स्तुति की गई है। मित्र और वरुण देवताओं को भी निज कल्याण हेतु याद किया गया है। संसार के विशिष्ट चेतन प्राणियों को विश्राम देने वाली रात्रि को पुनः-पुनः याद किया गया है। आत्म-रक्षा के लिए सविता देवता का स्तवन किया गया है।[3] मित्र देवता सूर्य के रूप में प्रकाशित होता हुआ कृषकों तथा मजदूरों को कार्य में व्यस्त कर देता है। मित्र देवता के प्रकाश को पाकर कार्यरत व्यक्तियों के हृदय स्वाभाविक श्रद्धा में परिपूर्ण हो जाते हैं। मित्र देव की स्वाभाविक सेवा सभी व्यक्तियों को अपने वश कर लेती है। इसी रहस्य को ऋग्वैदिक ऋषि विश्वामित्र पकड़ते हैं। उनका कवि हृदय मित्र देवता के स्तवनार्थ काव्य-रचना में व्यस्त हो जाता है। सूर्य ने हमें प्रकाश और गर्मी को दान में दिया है, अतएव हम भी उसके लिए कुछ प्रतिदान करें—यही भावना यज्ञ में घृत की आहुतियों के रूप में फलीभूत हुई है।[4] सूर्य या मित्र देवता के संरक्षण को पाकर वैदिक ऋषि तत्कालीन समाज के धर्म को सदा देव या देवताओं

1 ऋग्वेद, 10/34/1-4
2 दयानन्द : ऋग्वेद भाष्य की भूमिका
3 ऋग्वेद, 1/35/1
4 वही, 3/59/2

का कृपामात्र बने रहने की भावना के रूप में व्यक्त करता है।[1] पूषा देवता को खोए हुए धन की प्राप्ति मे अत्यन्त सहायक मानकर स्तवन का लक्ष्य बनाया गया है। पूषा सभी प्राणियों का पोषण करने वाला बताया गया है। रात्रि के समय जब कुछ पशु चरागाह से लौटते समय इधर-उधर चले जाने के कारण नहीं मिल पाते हैं तो पूषा देवता ही प्रातःकालीन बेला में अपना प्रकाश फैलाकर गोपालकों को पशुओं को ढूँढने में सहायता प्रदान करते हैं। ऋग्वैदिक ऋषि भरद्वाज पूषा देवता की स्तुति करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि हमें पूषा या सूर्य देवता की भाँति तेजस्वी बनकर शत्रुओं के हृदयों को विदीर्ण करके सत्य-अहिंसा के मार्ग पर चलकर सदैव शान्ति कामी बने रहें तथा पूषा देवता की अबाध स्तुति करते रहें। यथा—

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन।
स्तोतारस्त इह स्मसि॥ —ऋग्वेद, 5/54/9

ऋग्वेद का बहुदेववाद तत्कालीन धार्मिक भावना को व्यक्त करने में पर्याप्त सक्षम है। हम पीछे बहुदेववाद के विषय में कुछ विस्तार से पहले ही चर्चा कर चुके हैं। अतः बहुदेववाद भक्ति-भावना को विशद रूप देने में अवश्य सहायक हुआ है।

2 यज्ञ एवं स्तुति—ऋग्वेद में 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग अनेक रूपों में हुआ है। सामान्यतः शुल्क समिधा में अग्नि प्रज्वलित करके जो हवन किया जाता है, उसे ही यज्ञ कहा जाता था। यज्ञ-विधान भी स्तुति-युक्त था। जिस देवता के नाम का यज्ञ होता था, उसकी स्तुति भी मन्त्रों में निहित रहती थी। इन्द्र और वरुण को रण यज्ञ के सन्दर्भ में प्रशस्ति-गान के साथ सम्मान दिया गया है।[2] सूर्यवंशी राजा सुदास के पुरोहित वसिष्ठ ने अनेक बार दासों और वृत्रों का वध करने के लिए इन्द्र और वरुण का स्तवन किया है। उन्होंने राजा सुदास की रक्षा भी अभियाचित की है। युद्ध को स्वर्ग के तुल्य बतलाकर इन्द्र और वरुण को राजा सुदास के पक्ष में युद्ध करने के लिए प्रेरित एवं अभिशंसित किया है।[3] जब दासों एवं वृत्रों ने सुदास की सेना को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया तो वसिष्ठ ने इन्द्र और वरुण की शत्रुओं से भिड़ती हुई प्रबल सेनाओं के रण यज्ञ का अनेकशः वर्णन किया। जब वसिष्ठ की रक्षा खतरे में पड़ी तो उस भीरु पण्डित ने अपनी रक्षा के लिए इन्द्र और वरुण देवताओं की प्रशंसा में अपने भाव कोश एवं शब्द कोश को मन्त्रों के रूप में प्रस्तुत कर दिया।[4]

हिरण्यगर्भ देवता को अनेक प्रकार की स्तुति के साथ यज्ञ द्वारा पूजा गया है। जिस हिरण्यगर्भ देवता ने संसार की रक्षा करने के लिए द्युलोक तथा पृथ्वी लोक को धारण कर रखा है, उस देवता को हम आहुतियों के साथ पूजते हैं।[5] चैतन्य

1 वही, 3/59/4–5
2 ऋग्वेद, 7/83/1
3 वही, 7/83/2
4 वही, 7/83/3
5 वही, 10/121/5

शक्ति-स्वरूप 'पुरुष' को भी यज्ञ के द्वारा पूजा गया है। पुरुष की पूजा के रूप में जो विधान दिया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन में यज्ञ का स्वरूप मानस-यज्ञ[1] तक भी पहुँच गया था। यदि पुरुष सूक्त के यज्ञ का अनुशीलन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन में किसी प्रकार के याज्ञिक आडम्बर के लिए कोई स्थान न था। ऋग्वैदिक ऋषियों ने इन्द्र और वरुण जैसे देवताओं को पिता के रूप में देखकर देवताओं के प्रति अपनी अगाध निष्ठा को व्यक्त कर दिया है। कभी-कभी तो उस समय के यज्ञकर्त्ता अपने इष्टदेव को सोमरस के अर्पण द्वारा प्रसन्न करना चाहते हैं और कभी वे अपने प्रिय देवता को ही आहुतियों समर्पित करना चाहते हैं। अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में हम यह अवश्य कह सकते हैं कि ऋग्वैदिक काल में बलि-प्रथा को भी किसी न किसी रूप में धार्मिक क्षेत्र में स्थान मिला हुआ था। इस सन्दर्भ को पुष्ट करने के लिए यही मनोवैज्ञानिक तथ्य पर्याप्त होगा कि उस समाज के व्यक्ति देवताओं से बड़ा प्रेम रखते थे तथा साथ ही यह भी मानते थे कि जो देवताओं को प्यार करते हैं, देवता उन्हें प्यार करते हैं।[1] अतः यह स्मृति यदि बलि को भी पत्र, पुष्प, फलादि से आगे चलकर महत्त्व देने लगी हो तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण में 'अश्व' का अर्थ 'राष्ट्र' ही कर दिया गया है, परन्तु पौराणिक कथाओं के आधार पर यह तथ्य निर्विवाद हो जाता है कि ऋग्वैदिक धर्म में अश्वमेध नामक यज्ञ को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ था।

यज्ञ और स्तुति के सन्दर्भो को देखने से हम यज्ञों के रहस्य तक भी पहुँच सकते हैं। देव और आर्य दोनों ही मित्रों के रूप में रहे थे। देव अधिक समर्थ थे, अतः आर्य देवों से यथासमय सहायता प्राप्त करने के लिए देवों का अनेक प्रकार से पूजन किया करते थे। वसिष्ठ और वरुणादि का सम्बन्ध इसी तथ्य का द्योतक है।[2] देव सम्मान की एक विशेष निधि के रूप में यज्ञ का प्रवर्तन हुआ होगा तथा कालान्तर में उसे प्रकृतिक शक्तियों से जोड़ा गया। ऐसा होने पर भी वेद के मन्त्र यह स्पष्ट करते हैं कि ऋग्वैदिक समाज में यज्ञ का श्रीगणेश वीर पूजा के रूप में ही हुआ। रुद्र देवता की स्तुति करते समय भी यज्ञ की सम्पादना हुई और उसमें पुनः यही कहा कि हम परम प्रतापशाली रुद्र देवता को अन्य छोटे-छोटे देवताओं के साथ बुलाने से भयभीत होते थे। यदि वे छोटे-छोटे देवों को बुलाना चाहते तथा उनका सम्मान करना चाहते थे तो रुद्र देवता को उस समय बुलाकर उसके कोप का भाजन नहीं बनना चाहते थे। यदि रुद्र देवता की स्तुति अन्य देवताओं की स्तुतियों से जोड़ी जाती तो भी ऋग्वैदिक ऋषि रुद्र के कोप भाजन बन सकते थे। इसीलिए रुद्र देवता को प्रसन्न करने के लिए सभी नियमों को ध्यान में रखकर रुद्र का आह्वान

1 वही, 10/90/9
2 ऋग्वेद, 4/23/5-6
3 वही: 7/83/2

किया गया है ।[1] अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन में यज्ञ वातावरण की शुद्धि के लिए ही न था, अपितु उसके माध्यम से विभिन्न प्रभुता-सम्पन्न लोगों को भी अपने पक्ष में किया जाता है । इस आधार पर यज्ञ आदर करने का एक विधान था, जो आगे चलकर अनेक रूपों में प्रचलित हुआ ।

3. ईश्वरवादिता— ऋग्वैदिककालीन समाज में ईश्वरवादिता का बोलबाला था ; उस समय के समाज में ईश्वर के विराट् रूप की भी परिकल्पना हो चुकी थी । ईश्वर को अनेक सिरों वाला और अनेक पैरों वाला माना जाता था । ईश्वर ने सम्पूर्ण भूमि को अपने छोटे से अंश में धारण कर रखा है, यह मान्यता भी धर्म का अंग बन चुकी थी ।[2] जो भूतकाल में हुआ है, जो इस समय है तथा जो भविष्य में उत्पन्न होगा; उस सबको ईश्वर के रूप में देखने की भी विचित्र कल्पनाओं ने धर्म को आच्छादित कर दिया था ।[3] ईश्वर के एक पैर या एक भाग के रूप में सम्पूर्ण पृथ्वी को मानकर[3] धर्म के क्षेत्र में पवित्र भावना का प्रवेश होने के साथ-साथ धर्म की ओर अग्रसर होने की धारणा भी बन चुकी थी । जिस समय प्रमाण-प्रसंग की छेड़छाड़ होती तो वेद-वाक्य को शब्द-प्रमाण के रूप में सिद्ध करके धर्म को ईश्वरकृत सिद्ध कर दिया जाता था । जब धार्मिक जीवन में ईश्वरवाद का ठप्पा लगाकर चार वर्णों— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की व्यवस्था कर दी गई । ईश्वर को सूर्य या हिरण्यदेवता के रूप में भी देखा गया । ईश्वर हमारे प्राणों का संचालन करने वाला है । उस प्राण-स्वरूप ईश्वर की कृपा के बिना कोई पलक तक नहीं मार सकता ।[4] ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानने के कारण उसे सभी के ऊपर एक अनुपम राजा बताया गया । उसी ईश्वर ने मनुष्य और जानवरों की सृष्टि की । ऐसे ईश्वर की ओर प्रजापति तब कृपा प्राप्त करने के लिए देखा करते है ।[5] प्रायः सभी देवताओं को ईश्वर रूप में देखने का जो प्रयास हुआ उससे धर्म के क्षेत्र में एकेश्वरवाद को भी स्थान मिला । उस ईश्वर की पूजा के लिए यज्ञ को प्रधानता दी गई । अग्नि को ईश्वर या देवताओं का पुरोहित माना जाने लगा तथा उसी को साक्षी बनाकर अनेक कार्य सम्पादित होने लगे । सृष्टि का निर्माण किसने किया ? सृष्टि-रचना से पूर्व कौन था ? जैसे प्रश्नों को लेकर सबका एकमात्र समाधान ईश्वर के रूप-कार्य मे ही खोजा गया । ईश्वर का मानवीकरण करके उसे दिव्य रूपों में देखने की धार्मिक परम्परा भी ऋग्वेद में दर्शनीय है ।

जब ऋग्वैदिक ऋषि ईश्वर को सर्वत्र मानने लगे तो उन्होंने उसके लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने में भी संकोच नहीं किया । फल यही हुआ कि उस

1 वही, 2/33/4
2 ऋग्वेद, 10/90/1
3 वही, 10/99/2
4 वही, 10/90/3
5 वही, 10121/3
6 वही, 1?/121/8

समय के समाज में यज्ञ के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने के अनेक उपाय किए जाने लगे। उसे स्तुतियों से प्रसन्न करने की कल्पना करके, उससे अपने पुत्र-पौत्रादि की कुशल क्षेत्र की याचना करके पर्याप्त धन प्राप्त करने की इच्छाएँ व्यक्त की गई।

4. समन्वय—ऋग्वैदिक युग में आर्यों और अनार्यों के समन्वय की स्थिति परिपक्वता को प्राप्त हो गई थी। देवों और आर्यों में भी विशिष्ट समन्वय था। ऋग्वेद में चार वर्णों की व्यवस्था है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों ने ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के अतिरिक्त अन्य जातियों को स्वयं में प्रवेश दे दिया था। आर्यों में प्रवेश पाने वाली जातियों को 'पणि' कहा गया। कालान्तर में व्यापार परायण इस वर्ग को वैश्य नाम दे दिया गया। आर्य दास और असुरों से भी लड़े थे, ऐसे अनेक संकेत ऋग्वेद में भरे पड़े हैं। ऐसा लगता है कि दास लोग भी लड़ाका थे तथा आर्यों ने खदेड़ने का प्रयास किया। जब आर्य अपने अभियान में सफल हुए तो उन्होंने दासों को अपनी सेवा करने के लिए विवश कर दिया। जब ये दास शोचनीय स्थिति को प्राप्त हो गए तो इन्हें ही शूद्र कह दिया गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समन्वय केवल जातियों का ही नहीं, अपितु संस्कृति का भी हुआ। भोग के प्रशंसक आर्य द्रविड़ों से प्रभावित होकर निवृत्तिमार्ग के भी अनुयायी बन गए।

ऋग्वैदिक युग में स्त्री-पुरुष का भी समन्वय दृष्टिगोचर होता है। स्त्रियों को गृहस्वामिनी का रूप देकर दाम्पत्य जीवन को सरल और सरस बनाने का अच्छा प्रयास किया गया। वर्ण-व्यवस्था स्थापित कर देने पर भी पंचम वर्ण की आवश्यकता हुई तो अन्तज्यों को उसमें स्थान देकर सभी को वैदिक धर्म का अनुयायी बनने की प्रेरणा प्रदान की गई। अतः वैदिक युग का धार्मिक जीवन समन्वय को लेकर विकसित हुआ।

5. शिक्षा का महत्त्व—ऋग्वेद की शाखाओं का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तद्युग में शांखायन, भरद्वाज, वशिष्ठ, वाष्कलि आदि की शिष्य-परम्परा में शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ। गृत्समद, विश्वामित्र जैसे ऋषियों ने शिक्षा का क्षेत्र प्रभावशाली बना रखा था। विश्वामित्र वैदिक पाठ के प्रकाण्ड पण्डित माने जाते थे।[1] लेखन की व्यवस्था न होने के कारण वेदमन्त्रों को कंठस्थ करना पड़ता था। विद्यार्थी मन्त्रों को याद करने के लिए धीरे-धीरे बोलते थे तो ऐसा प्रतीत होता कि मानों दर्दुर ही टरटरा रहे हैं।[2] शिक्षा को धर्म की स्थापना का प्रधान तत्त्व माना था। सम्पूर्ण धर्मचर्या का आधार शिक्षा ही थी। ब्राह्मण अध्यापक के रूप में कार्य करते थे। वे समीपवर्ती लड़के-लड़कियों को शिक्षित किया करते थे। ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रम की शिक्षा को महत्त्व दिया जाता था। ऋग्वेद में ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं कि जिनके आधार पर हम इस निष्कर्ष पर

1 ऋग्वेद, 3/53/15
2 वही, 7/103/5

सरलतापूर्वक पहुँच सकते हैं कि ऋग्वैदिक काल की शिक्षा में धर्म की प्रधानता थी। राजा अपने धर्म की रक्षा करना अपना परम पुनीत कार्य समझता था। प्रजा भी राजा की वीरता पर विश्वास करके अपनी शत्रु-जातियों को आतंकित करने के लिए राजा का यशोगान किया करती थी।[1] केवल इतना ही नहीं, उस समय शिक्षा-जगत में प्राकृतिक शक्तियों से प्रेरणा प्राप्त करने का प्रचलन था। सूर्य को समस्त जगत के भाई या बन्धु के रूप में देखा जाने लगा था।[2] अतः ऋग्वैदिक काल की शिक्षा में नैतिकता की प्रधानता होने के कारण उस युग में धार्मिक वृत्ति की प्रधानता भी हो गई थी।

6. गुरु का महत्त्व—ऋग्वेद में गृत्समद ऋषि ने शंकर या रुद्र का स्तवन करते समय गुरु की महिमा को स्पष्ट किया है। गुरु के पास प्रकाश-स्वरूप सैन्य है, जिसके माध्यम से तिमिर रूपी शत्रु-सैन्य का विनाश किया करता है। गुरु द्वारा प्रदर्शित पथ पर जो चलते हैं, वे आनन्द के भागी बनते हैं। गुरु ने संसार को जरा-मरण पर विजय पाने का मार्ग भी दिखाया है। गुरु का मार्ग ज्ञान का मार्ग है। जिस प्रकार से वनचर सिंह के भीषण रूप और प्रचण्ड प्रताप से भयभीत हो जाते हैं, उसी प्रकार जनसाधारण ज्ञानमार्ग पर चलने से कतराता है।[3] रुद्र को गुरु के रूप में स्वीकार करने के कारण, उन्हें तेज की मूर्ति भी बतलाया गया है। ऋग्वैदिक गुरु में शत्रुओं को अभयविधि नष्ट करने की शक्ति विद्यमान है।[4] गुरु दानवों को या आसुरी प्रकृति के व्यक्तियों को अपने विशाल तीक्ष्ण धनुष-बाणों को धारण करके नष्ट करता है तथा वासनाओं को जीतने के लिए तेज और ज्ञान को प्रदान करने वाले योगमार्ग का प्रयोग करता है। ऋग्वैदिक गुरु अश्लील या निम्नस्तरीय स्तुतियों को महत्त्व देने वाला नहीं है।[5] चाटुकारिता का व्यवहार करने वालों को वह दण्ड भी देता है। उस समय के गुरु में अनुशासन स्थापित करने की इतनी शक्ति भी विद्यमान है कि उद्दण्ड शिष्य या विद्यार्थी गुरु के रौद्र रूप से कम्पायमान रहते हैं। ऋग्वैदिक काल का गुरु ज्ञान की दृष्टि से सर्वथा पूज्य है। गुरुजनों द्वारा अनुसन्धानित औषधियों के प्रयोग द्वारा नीरोग रहने वाले व्यक्ति सौ वर्ष तक आनन्दपूर्वक जीवित रहने की कामना करते हैं।[6] गुरु को पापों का परिहार करने वाला भी बताया गया है—

पर्षिण' पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि ॥

—ऋग्वेद, 2/33/3

1 वही, 2/12/4
2 ऋग्वेद, 1/154/5
3 वही, 2/33/11
4 वही, 2/33/10
5 वही, 2/33/4
6 वही, 2/33/2

मित्र देवता को कार्य में व्यस्त करने वाला बताकर नियमितता का पाठ पढ़ाने वाला बताया गया है। इन्द्र और वरुण को राजनीतिक गुरु के रूप में देखा गया है। पूषा देवता से अनुशासन की शिक्षा ग्रहण की गई है। प्राकृतिक शक्तियों को गुरु के रूप में पूजकर गुरु के महत्त्व को पुष्ट कर दिया गया है। ईश्वर को भी गुरु के रूप में देखने की सफल चेष्टा की गई है।

7. सदाचार का महत्त्व—ऋग्वेद में द्यूत-क्रीड़ा की कटु आलोचना करके व्यक्तियों को सदाचार के पथ पर लाने का अद्भुत प्रयास द्रष्टव्य है। जुआरी की सास भी जुआरी से द्वेष करने लगती है। जुआरी की पत्नी उसे अपशब्द कहने लगती है। जब जुआरी द्यूत-क्रीड़ा की याद करता है तो खेल का आनन्द या चाव उसे बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।[1] जुआरी की पराजय हो जाने पर तथा यथावश्यक धन न चुकाए जाने पर प्रतिपक्षी जुआरी पराजित जुआरी की पत्नी के केशों को खीचकर अपना धन माँगने लगता है। जब जुआरी घर और बाहर के सभी स्थानों पर अपमानित होता है तो उसे अपने व्यसन का पता चलता है। द्यूत के पास जुआरी के ऊपर उसी पर अंकुश रखते हैं, जिस प्रकार मत्त गज को अंकुश के द्वारा वश में रखा जाता है। अतः द्यूत एक घोर व्यसन है, जो सर्वथा त्याज्य है।

कुशिक ऋषि ने रात्रि की स्तुति करते समय उन सभी व्यसनों पर प्रकाश डाला है, जिनसे समाज में अराजकता फैलती है। रात्रि में हिंसक जानवरों का प्रकोप होता है तथा स्तेन या चोर जैसे नरपशु भी प्रकोप करते हैं।[2] रात्रि में जब पशु, पक्षी तथा मानव अपने-अपने निवासों में आराम से सोते हैं तब बनैले जन्तु एवं दुष्ट मानव उनकी सुख-निद्रा को भंग करने का प्रयास करते हैं। दुष्ट मानवों की भर्त्सना करते हुए ऋषि ने कहा है कि ऐसे शत्रुओं को जीतने के लिए साहसपूर्ण श्रम-यज्ञ की आवश्यकता है।[3]

ऋग्वैदिक युग में सोमरस के अतिपान को भी निषिद्ध ठहराया जाता था। काम-वासना तथा लोभ जैसे विकारों को जीतने के लिए विशिष्ट व्यावहारिक शिक्षा का भी प्रचलन था। एक दूसरे के प्रति प्रेम या आत्मीयता का वातावरण बना हुआ था। अतः ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन पर्याप्त उन्नत था।

8. कर्मपरायणता—ऋग्वैदिक काल में धर्म कर्मयोग से परिपूर्ण था। व्यक्ति अपने गोधन की रक्षा एवं सेवा करना अपना धर्म मानते थे। रात्रि के अन्धकार में खोई हुई गायों को ढूँढने के लिए पूषा या सूर्य देवता के उदय की प्रतीक्षा करते थे। जब गोधन की प्राप्ति हो जाती थी तो पूषा देवता के प्रति यज्ञ के माध्यम से कृतज्ञता व्यक्त करते थे। ऋग्वेदकालीन समाज में सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीवित रहने की अभिलाषा भी घर कर गई थी। कर्मपरायणता का सबसे बड़ा प्रमाण तो

1 ऋग्वेद, 10/34/1
2 वही, 10/127/6
3 वही, 10/127/8

यह है कि तत्कालीन व्यक्ति स्वयं को पुष्ट बनाते हुए अपने पुत्रों एवं पौत्रों को भी पुष्ट रूप में देखने के अभिलाषी रहते थे।[1] प्राकृतिक शक्तियों के प्रति उन लोगों की ऐसी निष्ठा उनकी कर्मपरायणता को सूचित करती है। उस समय का व्यक्ति तप को अत्यधिक महत्त्व देता था। तप के प्रभाव से ही ऋषियों ने वैदिक साहित्य का सृजन किया। ईश्वर ने तप के द्वारा समस्त संसार का सर्जन किया। अतः तप ही जीवन का आधार है, यही धारणा सर्वमान्य हो चली थी। वैदिक युग का प्रवृत्ति मार्ग[2] कर्मपरायणता का ज्वलन्त उदाहरण है। इन्द्र को एक महत्त्वाकांक्षी राजा के रूप में चित्रित करके प्रवृत्ति मार्ग का ही पोषण किया गया है। जब असुरों ने संसार में उत्पात मचा रखा था तथा समूचा वातावरण भय के झकोरों से काँप रहा था, उस समय प्रवृत्तिमार्गी इन्द्र ने अपना पुरुषार्थ प्रदर्शित करके वातावरण को शान्त कर दिया। जो विपत्तियाँ पर्वत-तुल्य दिखलाई पड़ रही थीं, उनको उद्यमी इन्द्र ने साधारण बना दिया। इन्द्र के प्रताप के फलस्वरूप चहुँमुखी प्रगति हुई। यथा—

य: पृथिवीं व्यथमानामहन्हद य: पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णाव्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो या द्यामस्तम्नात्स जनास इन्द्र ॥

—ऋग्वेद, 2/12/2

ऋग्वैदिक समाज में कर्मयोग-संयुक्त धार्मिक जीवन का अद्वितीय महत्त्व था। शत्रुओं का दलन करने के लिए प्रयास करना तथा संतान को उन्नत बनाने के लिए समूचे वातावरण को शान्तिमय बनाने के प्रयास यही सिद्ध करते हैं कि उस समय कर्मपरायणता की प्रधानता थी।

9. परोपकार की भावना—ऋग्वेद में प्राकृतिक शक्तियों को परोपकार-निरत बतलाया गया है। चैतन्य शक्ति-स्वरूप ईश्वर ने द्युलोक तथा पृथ्वी लोक को अपनी शक्ति से धारण कर रखा है, ताकि संसार का प्रवाह समुचित रूप में कायम रह सके। वाग्देवी के विषय में कहा गया है कि यह देवी जिस व्यक्ति के ऊपर कृपा करती है, उसे सर्वश्रेष्ठ बना देती है।[3] वाग्देवी असुरों का सहार करने के लिए रुद्र को प्रेरित करती है ताकि वैदिक साहित्य एवं धर्म की रक्षा हो सके। वेदमार्ग से द्वेष रखने को वाले को दण्ड दिलाने का कार्य भी वाग्देवी ही कराती है। वायु नामक देवता नित्य गतिशील रहकर सबका भला करता है।[5]

ऋग्वेदकालीन समाज में विधवाओं के दुःख को दूर करने के लिए विधवा-विवाह का प्रचलन परोपकार की भावना से ही पूर्ण था। किसी युवती को उसके

1 वही, 1/154/6
2 वही, 2/12/1
3 ऋग्वेद, 10/125/5
4 वही, 10/125/6
5 वही, 10/168/3

पति की असामयिक मृत्यु के कारण आजीवन अश्रुओं और आहों से भरा नाटकीय जीवन व्यतीत करना पड़े, यह कथन भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। अतः उस समय का धर्म नारी-उद्धार के दृष्टिकोण से भी परोपकार की भावना से भरा हुआ था।

ऋग्वैदिक ऋषियों ने शब्द ज्ञान रूपी प्रकाश को विश्व को दिया। वह शब्द प्रकाश आज तक विश्व को उन्नति की ओर ले जाने में समर्थ है। उस समय की प्रतिभा के विषय में छठी शताब्दी के अलंकारवादी आचार्य दण्डी ने ठीक ही कहा है—

इदमन्धः तमःकृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दज्योतिरासंसारात् न देदीप्यते ॥ —काव्यादर्श

सम्पूर्ण वातावरण को शान्तिमय बनाने की धारणा को परोपकार की चरम सीमा कहा जा सकता है। मृत्यु को जीतने के लिए विधि-विधानों का निर्माण निश्चयतः महान् परोपकार है। संसार ऋग्वैदिक समाज के ऋषियों का सदा ऋणी रहेगा।

10. आदर्शता की प्रधानता—ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन में आदर्शता की प्रधानता थी। व्यक्ति यज्ञ के द्वारा अनेक प्रकार से कृतज्ञता ज्ञापित करते थे। शक्ति के रूप में इन्द्र को आदर्श माना जाता था। पूषा को आदर्श अनुशासन का स्वरूप माना जाता था। सूर्य को तेजस्विता का आदर्श माना जाता था। वैवाहिक क्रियाओं में अग्नि को साक्षी किया जाता था। पूर्वजों ने कर्म और ज्ञान के द्वारा समाज को उन्नत बनाने में जो योगदान किया, उसके लिए यज्ञ सम्पादित किए जाते थे।[1] पितृलोक में रहने वाले पितरों के चरित्र का अनुकरण करके धनार्जन तथा ज्ञानार्जन के आदर्शों को प्राप्त करना शुभ एवं श्रेयस्कर माना जाता था।[2] पितरों के लिए सोमरस अर्पित किया जाता था।

ऋग्वेदकालीन समाज में शक्ति वर्धन को एक महान् आदर्श माना जाता था। समस्त वैभवों को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के उद्यम किए जाते थे। व्यक्ति गाय को माता मानते थे। 'गोमातारः' पद इस तथ्य की स्पष्ट सूचना है। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में उस समय के मनीषियों के जो उद्गार हैं, उनको अनेक दार्शनिकों ने महत्त्व दिया है। सृष्टि को प्रलय के गर्भ में विलीन दिखाकर उस स्थिति को अविज्ञेय बताया गया है।[3] सृष्टि से पूर्व दशा में न तो सत् तत्त्व ही था और न असत् तत्त्व ही, न मृत्यु थी और न ही जीवन। सृष्टि को ईश्वर की कामना से उत्पन्न बताकर धार्मिक जीवन में आशावादिता का सन्देश संचरित कर दिया गया है—

1 ऋग्वेद, 10/14/1
2 वही, 10/14/
3 वही, 10/129/1-3

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसा रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।

—ऋग्वेद, 10/129/4

सारांशतः ऋग्वेद के धार्मिक जीवन में दार्शनिक अनुचिन्तन का व्यापक प्रभाव था। कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ साधन माना जाता था। वैवाहिक संस्कार को सर्वोत्तम संस्कार माना जाता था तथा गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम। प्राकृतिक शक्तियों के प्रति अगाध निष्ठा रखना उस समय के धार्मिक जीवन की पराकाष्ठा को सूचित करता है। मनीषियों का आदर करना उस समय के धर्म का महान् तत्त्व था। समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए धर्म का ऐसा आवरण डाल दिया गया था कि सभी व्यक्तियों को सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने का अवसर मिल सके। समाज-कंटकों को कुचलने के लिए शक्ति और अनुशासन को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। अतः ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन में समस्त धार्मिक आदर्शों को यथेष्ठ स्थान मिला हुआ था।

उत्तर वैदिक संस्कृति
(Later Vedlic Culture)

ऋग्वेद की रचना 30 0 वर्ष ईसा पूर्व में हो चुकी थी। यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद संहिताएँ उसके पश्चात् ही संकलित हुईं। उसी समय विभिन्न वेदों के ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों का किंचित् कालभेद से प्रणयन शुरू हुआ। इन ग्रन्थों की रचना में हजारों वर्ष का समय लगा। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में बुद्ध तथा महावीर का उदय यह सिद्ध करता है कि 600 ई.पू. में ब्राह्मण धर्म चरम सीमा की ओर अग्रसर था। अतः उत्तर वैदिक संस्कृति 2500 ई.पू. से लेकर 600 ई.पू. तक की कालावधि में विकसित होने वाली स्वीकार कही जा सकती है। उत्तर वैदिक युगीन संस्कृति का स्वरूप निम्न बिन्दुओं के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है—
1. दार्शनिक अनुचिन्तन का विकास, 2. यज्ञों का महत्त्व, 3. स्वाध्याय का महत्त्व, 4. शिक्षा की प्रधानता, 5. वैराग्य और ज्ञान की प्रधानता, 6. वर्ण-व्यवस्था, 7. आश्रम-व्यवस्था, 8. गुरु और शिष्य के पावन सम्बन्ध, 9. कर्मठता, 10. नारी-उद्धार।

1. दार्शनिक अनुचिन्तन का विकास--ब्राह्मण ग्रन्थों की संस्कृति में यज्ञ को ईश्वर का स्वरूप माना जाने लगा था। ब्राह्मण ग्रन्थों ने यज्ञ को वैज्ञानिक रूप देकर समाज को नियमितता का पाठ पढ़ाया। आरण्यकों ने ईश्वरीय चिन्तन को प्रधानता देकर समाज को एक नई दिशा की ओर आवर्तित किया। जब उपनिषदों का विकास हुआ तो दार्शनिक अनुचिन्तन विविध मुखी हो गया। ईश्वर को विराट् विश्व के रूप में देखा जाने लगा। समस्त संसार को ईश्वर से परिपूर्ण बताया जाने लगा।[1] ईश्वर के तेज या भय से सूर्य का तप्त होना माना गया, वायु को नित्य गतिशील माना गया, अग्नि को नित्य दाहकतापूर्ण माना गया। ईश्वर को 'नेति-नेति' नामक

1 ईशावास्योपनिषद्, 1/1

सिद्धान्त के आधार पर प्रकृत्यतीत सिद्ध किया गया।[1] ईश्वर की शक्ति से मन मनन करता है, मन ईश्वर तक नहीं पहुँच पाता। ईश्वर की शक्ति से बुद्धि चिन्तन करती है, बुद्धि ईश्वर तक नहीं पहुँच पाती। ईश्वर को शब्दातीत बताते समय यही कहा गया—'यतो वाचः निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

उत्तर वैदिक काल में आत्मा के विकास या आत्म ज्ञान पर पर्याप्त बल दिया गया। आत्मा जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से आवृत होने के कारण अपने वास्तविक रूप में प्रकट नहीं हो पाती। अतः व्यक्ति को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय नामक चार अवस्थाओं के क्रम से आत्मा के स्वरूप को जानने की चेष्टा करनी चाहिए। माण्डूक्योपनिषद् के 1—12 तक के मन्त्रों में आत्मा के स्वरूप का तात्विक विवेचन किया गया है। उस समय की संस्कृति में यह तत्त्व भी प्रधान हो चुका था कि जो व्यक्ति बलहीन है, वह किसी भी प्रकार से आत्म ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। आत्म ज्ञान की उपलब्धि हेतु प्रमाद और आलस्य को त्यागना आवश्यक माना गया। आत्म ज्ञान प्रवचन से ही नहीं होता और न आडम्बरों को धारण करने से। शास्त्र सिद्ध मार्ग को अपनाने वाले व्यक्ति के सम्मुख आत्म प्रकाश स्वतः प्रकट हो जाता है। आत्मा के स्वरूप के विषय में विचार करते-करते उत्तर वैदिक युग में आत्मवादी संस्कृति का सर्वाधिक प्रचार हो चुका था। आत्मा को ईश्वर का अंश ही नहीं, अपितु स्वरूप भी माना जाने लगा था।[2] आत्म-चिन्तन के आधार पर योगमार्ग एवं ज्ञान मार्ग को सबसे अधिक महत्त्व मिला।

उत्तर वैदिक युग में मोक्ष को चरम पुरुषार्थ माना गया। अविद्या एवं विद्या दोनों के स्वरूप को जानने से मुक्ति का रहस्य प्रकट किया गया। मोक्ष को अमरता के रूप में मानकर एक पवित्र धारणा का विकास हो चला। मोक्ष की प्राप्ति वे व्यक्ति नहीं कर सकते जो अविद्या के समुद्र में डूबे रहने पर भी अपने अपको प्रकाण्ड पण्डित एवं शास्त्रविद् मानकर अभिमानपूर्ण व्यवहार करते हैं। वे व्यक्ति स्वयं को वासना के समूह में प्रवृत्त करते हुए अन्य लोगों के मार्गदर्शक बनकर उन्हें भी उसी प्रकार पतनोन्मुख करते हैं, जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति अन्धों का मार्गदर्शक बनकर सबको कूप में गिरा देता है। विद्या या आध्यात्म ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति सम्भव है।

उत्तर वैदिक युग में संसार को सत्य और मिथ्या रूप में देखने के अनेक वाद प्रचलित हो चुके थे। वैदिक संहिताओं में सांसारिक समृद्धि को मूल सांस्कृतिक आधार माना जाता था। परन्तु उपनिषद् संसार को आध्यात्म दृष्टि से असत्य बताकर ईश्वर को ही सत्व बता रहे थे। विभिन्न विचारधाराओं के विकास के कारण वैदिक युगीन व्यक्तियों के आगे पर्याप्त उलझनें भी व्याप्त हो गईं। क्या मान्य है और क्या अमान्य? इसी प्रश्न को लेकर विभिन्न ऋषियों के मत समाज में घर कर गए। फिर भी मत-मतान्तरों के विकास के कारण दार्शनिक प्रतिभा का विविधमुखी उदय

1 केनोपनिषद्, प्रथम अध्याय
2 माण्डूक्योपनिषद्, 2

ही मानना चाहिए। उत्तर वैदिक युग की संस्कृति में दार्शनिक अनुचिन्तन ने जीवन-दर्शन को अनेक रूप प्रदान करके एक स्वस्थ एवं पवित्र मार्ग का अध्याय जोड़ा।

2. यज्ञों का महत्त्व—उत्तर वैदिक संस्कृति में यज्ञवाद का बोलवाला हो चुका था। संहिताओं में यज्ञ को प्राथमिकता दी गई। समस्त वैभवों को प्राप्त करने के लिए यज्ञ को ही मूल साधन माना गया। ब्राह्मणों में यज्ञ को ईश्वर का स्वरूप माना जाने लगा। संसार में एक सुव्यवस्थित धारणा को विकसित करने के लिए यज्ञ के विभिन्न रूपों को प्रतिपादित किया गया। गृहस्थियों के लिए पंच महायज्ञ को अनिवार्य बताया गया। यदि कोई गृहस्थी अतिथि को देव के समान मानता है, संतान-प्रवाह को सम्यक् महत्त्व देता है। देव यज्ञ का सम्पादन करता है, ज्ञान के विकास में योगदान देता है। और जीव-जन्तुओं के प्रति उदार दृष्टि रखता है—वह यज्ञ के यथार्थ स्वरूप से परिचित है। आरण्यकों ने वानप्रस्थियों के यज्ञ को भी महत्त्व दिया। उपनिषदों में योग-यज्ञ तथा ज्ञान-यज्ञ को प्रस्तुत किया गया है। ब्राह्मणों के यज्ञ में कर्मकाण्ड की प्रधानता है तथा कल्पसूत्रों में यज्ञवाद का प्रचण्ड रूप विद्यमान है। उपनिषदों में कर्मकाण्ड का विरोध करके साधना-स्वरूप यज्ञ को महत्त्व दिया गया है।

3. स्वाध्याय का महत्त्व—उपनिषदों में स्वाध्याय की महिमा पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। स्वाध्याय के कारण ऋत एवं सत्य तत्त्व का ज्ञान होता है। स्वाध्याय के ही कारण व्यक्ति पवित्रता का पाठ सीखने के साथ-साथ नियमित जीवन व्यतीत करना भी सीखता है। वेदों का स्वाध्याय करने से व्यक्ति वैदिक धर्म के मर्म को समझता है। यदि कोई व्यक्ति संसार के रहस्य को जानना चाहता है तो उससे स्वाध्याय के बल से दार्शनिक एवं धार्मिक तत्त्वों को जानना होगा। स्वाध्याय केवल वही व्यक्ति कर सकता है जो प्रमाद और आलस्य से दूर रहने की यथासम्भव चेष्टा करता है। स्वाध्याय में ऋत विद्यमान है। स्वाध्याय सत्य को प्रदान करने वाला सिद्ध होता है। स्वाध्याय तप का मूल है तथा इन्द्रियों के दमन का आधार है। स्वाध्याय से मन का शमन किया जाता है। स्वाध्याय में ही अग्निहोत्र है तथा स्वाध्याय में अतिथि-सत्कार सन्निहित है। स्वाध्याय की महिमा पर विभिन्न ऋषियों ने अनेक प्रकार की धारणाएँ व्यक्त की हैं।[1]

4. शिक्षा की प्रधानता—अथर्ववेद के आधार पर यह धारणा सुपुष्ट हो जाती है कि उत्तर वैदिक युग में पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था थी।[2] विद्यार्थी का उपनयन संस्कार कराया जाता था, जिससे विद्यार्थी 'द्विज' रूप धारण करता था। एक जन्म तो माता के गर्भ से होता है, उसे शरीर का जन्म कहते हैं परन्तु जब व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करने का मानस बनाकर पढ़ने का उपक्रम करता है, तो वह व्यक्ति का दूसरा जन्म है। तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।

1 तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली
2 अथर्ववेद, 6/108/2

ब्रह्मविद्या की गहनताओं को उपनिषदों में भली-भाँति चित्रित किया गया है। तत्कालीन शिक्षा में सदाचार की आवश्यकता पर सर्वाधिक बल दिया जाता था। जो कर्म करणीय हैं, उनकी प्रामाणिकता बताने के लिए वैदिक साहित्य को शब्द-प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। शिक्षा प्राप्त करने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता पर बल दिया जाता था। लज्जा और भय को अनुशासनात्मक रूप में अच्छा स्थान प्राप्त था। गुरु के उपदेश को ब्रह्मवाक्य के रूप में आदर दिया जाता था। उपदेश पालन को अनुशासन के रूप में गिना जाता था। सदाचार को प्रतिपादित करने वाला एक उदाहरण देखने योग्य है—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्त प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्॥

—तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में याज्ञवल्क्य, नारद, सनत्कुमार जैसे महान् आचार्य विद्यमान थे। केवल अच्छे आचार्य ही नहीं, अपितु जिज्ञासु और सुशील शिष्यों की भी कमी नहीं थी। इन्द्र, विरोचन, जानश्रुति, उद्दालक जैसे अनुशासित शिष्यों की भी एक लम्बी परम्परा रही थी। सम्पूर्ण व्यवस्था का श्रेय गुरु और शिष्य के पावन सम्बन्धों को ही दिया जा सकता है।

उत्तर वैदिक युग में शिक्षा का उद्देश्य भी अत्यन्त व्यापक था।[1] शिक्षा का विशिष्ट उद्देश्य समाज में श्रद्धा का विकास करना था; विद्यार्थियों की मेधा को कुशाग्र बनाना था; धनार्जन को भी महत्त्व दिया जाता था; आयुवर्धन के उपाय बताये जाते थे; अमरता का पाठ पढ़ाया जाता था। शिक्षा पूरी होने पर विद्यार्थी को गृहस्थ में प्रवेश करने की अनुमति दी जाती थी। वैदिक युग का यह सिद्धान्त कि एक विद्यार्थी जब तक स्वावलम्बी नहीं बने तब तक उसका विवाह न किया जाय, आज अत्यधिक अनुकरणीय है। उस समय के अधिकांश विद्यार्थी सत्य ज्ञान को पाने के लिए श्रेष्ठ गुरुओं की खोज करने के लिए उद्यत रहते थे।

छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार और देवर्षि नारद की भेंट के प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिक काल में अनेक विद्याएँ प्रचलित थीं। नारद ने स्वयं को अनेक विद्याओं का ज्ञाता कहा है। वे नक्षत्रविद्या, देवविद्या, भूतविद्या, ब्रह्मविद्या, क्षात्रविद्या, तर्कशास्त्र, इतिहास तथा पुराण आदि को भली-भाँति जानते थे। ब्रह्मविद्या के प्रसंग में शाण्डिल्य विद्या का भी प्रतिपादन अपना पृथक् महत्त्व रखता है। इसी प्रकार बृहदारण्यक से ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिक युग में आख्यान, उपाख्यान, प्रचलन आदि को शैक्षणिक स्तर का महत्त्व दिया जाता था।

शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार चारों वर्णों को था। स्त्री-पुरुष समान रूप से वेद पढ़ने के अधिकारी थे। आत्मा को स्त्री और पुरुष दोनों से ऊपर माना

1 अथर्ववेद, 19/64

जाता था। अतः आत्मिकज्ञान पाने का सभी को अधिकार था। ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके ही विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी होता था। विद्या-केन्द्र 'परिषद्' कहा जाता था। दूर-दूर से विद्यार्थी पढ़ने के लिए एकत्र होते थे। अतः उत्तर वैदिक युग में शिक्षा को संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ अंग माना जाता था।

5. **वैराग्य और ज्ञान की प्रधानता**—उपनिषदों में ब्राह्मणों तथा आरण्यकों के क्रमशः गृहस्थ तथा वानप्रस्थ-धर्म से आगे संन्यास-धर्म पर विचार किया गया। उपनिषदों का ज्ञानमार्ग चिन्तन का चरम बिन्दु कहा जा सकता है। आत्मा का ज्ञान न प्राप्त करने वाले व्यक्ति को आत्महन्ता तक कह दिया जाता था।[1] ऐसे व्यक्तियों की कटु निन्दा की जाती थी जो शिक्षित होने पर भी सदाचारी नहीं बन पाते थे। उस ज्ञान को भार-स्वरूप माना जाता था, जो व्यक्ति का उद्धार न कर सके। अतः आचरण की पवित्रता के ऊपर अत्यधिक बल दिया जाता था। ज्ञान की धारा जब ब्रह्म रूपी समुद्र में न मिले तब तक उसके अविरल प्रवाह को बनाए रखने पर बल दिया जाता था। यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने पर ज्ञानी की गम्भीरता को महत्त्व दिया जाता था। यह संसार अनेक आकर्षणों से पूर्ण है, अतः यहाँ प्रबल वैराग्य धारण करके ही सत्य एवं अनन्त ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है।

समस्त यौगिक चमत्कारों का आधार वैराग्यपूर्ण योगाभ्यास को ही बतलाया गया है। संयम का प्रमुख आधार वैराग्य ही बताया गया है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'[2] नामक सिद्धान्त वैराग्य और ज्ञान के समन्वय पर भी आधारित है।

6. **वर्ण व्यवस्था**—ऋग्वैदिक काल में जो वर्ण-व्यवस्था लागू हुई थी, उसको अत्यन्त विस्तृत रूप देने का श्रेय उत्तर वैदिक युग को है। इस युग में वर्ण-व्यवस्था पर्याप्त रूढ़िग्रस्तता को प्राप्त हो चुकी थी। पुरोहित का पुत्र पुरोहित बनता था तथा क्षत्रिय का पुत्र वीर न होने पर भी क्षत्रिय ही रहता था। ऋग्वेद में वर्णित पणि लोग ही वैश्य बन गये तथा वे अनेक प्रकार के उद्योगों में कुशल होने के कारण वैश्य वर्ण का प्रतिनिधित्व करते थे। ऋग्वैदिक दास या दस्युओं को बलपूर्वक शूद्र बनाया गया था। परन्तु दासों की प्रबलता ने आर्यों को उन्हें भी आर्यों में स्थान देने को विवश कर दिया तथा शूद्रों को भी ईश्वर का अंग माना जाने लगा। शूद्रों ने अपनी धनाढ्यता के कारण वेद पढ़ने का अधिकार भी ले लिया। ब्राह्मण ग्रन्थों में शूद्र की स्थिति कुछ शोचनीय हो गई थी। शूद्र नौकर को मालिक की इच्छा के ऊपर नौकरी मिलती थी तथा उसे यथेच्छा हटा दिया जाता था। मालिक अपनी इच्छा के अनुसार शूद्र नौकर का वध भी कर देता था।[3] वैश्य लोग अपने व्यापार के बल पर धनश्रेष्ठी बन गये। कल्पपत्रों में ब्राह्मणवाद का बोलबाला दिखलाया गया है। यदि ब्राह्मण कोई अपराध कर देता था तो ऐसे ही अपराध की स्थिति

1 ईशावास्योपनिषद्, 3

2 यजुर्वेद, 40/1

3 ऐतरेय ब्राह्मण, 7/29

अन्य वर्णों के व्यक्तियों को ब्राह्मण की अपेक्षा कठोर दण्ड मिलता था। अतः संहिताओं में वर्ण-व्यवस्था के सन्दर्भ में जो वैज्ञानिकता प्रचलित हुई थी, वह ब्राह्मणों तथा सूत्रों के युग में पहुँचकर प्रायः ब्राह्मणवाद के रूप में परिवर्तित हो गई।

7. आश्रम व्यवस्था—ऋग्वैदिक युग में केवल ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ दो ही आश्रम थे। परन्तु उत्तर वैदिक युग में चारों आश्रमों की प्रतिष्ठा हो गई। आरण्यकों ने वानप्रस्थ आश्रम को महत्त्व दिया तथा उपनिषदों ने संन्यास आश्रम को। आरण्यकों में वानप्रस्थी का वन में रहना, वेदाभ्यास करना तथा भिक्षान्न पर आश्रित रहना आवश्यक सिद्ध कर दिया था। उपनिषदों में ज्ञानमार्ग के प्रतिपादन में प्रथम तीन आश्रमों को महत्त्व देकर भी संन्यास के महात्म्य को विशदतापूर्वक प्रस्तुत किया। संन्यासी के लिए सत्य एवं अनन्त ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म को जानना आवश्यक माना गया। ब्राह्मणों तथा सूत्रग्रन्थों ने गृहस्थ आश्रम के अनेक नियमों को प्रस्तुत करके गृस्थाश्रम की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की सिद्धि के लिए आश्रम-व्यवस्था को वैज्ञानिक स्तर प्रदान किया गया। उत्तर वैदिक युग की आश्रम व्यवस्था का सूत्रपात ब्राह्मणों से ही हो चुका था।

8. गुरु और शिष्य के पावन सम्बन्ध—उत्तर वैदिक युग में गुरु को ब्रह्मज्ञानी माना जाने लगा था। शिष्य-समूह सद्गुरु की खोज के लिए तत्पर रहता था। कठोपनिषद् में गुरु और शिष्य के पावन सम्बन्धों की विशद चर्चा की गई है। नचिकेता आचार्य यम को खोजने के लिए दुर्गम पथ को पार करके अपने गन्तव्य तक पहुँचा था। उस समय के शिष्य गुरु को ईश्वर के समान मानकर अपने आत्म-परिष्कार का कार्य किया करते थे। उत्तर वैदिक युग की संस्कृति में गुरु और शिष्य कथनी और करनी के बीच की खाई को पाटने की यथासम्भव एवं यथाशक्ति चेष्टा किया करते थे। ब्राह्मण काल में ब्राह्मण को अन्य वर्णों के लिए गुरुरूप माना जाता था। ईश्वर को गुरुओं का भी गुरु माना जाता था। तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य अथवा गुरु के आदर का उल्लेख किया है।[1]

9. कर्मठता—यजुर्वेद में कर्मनिष्ठा की स्पष्ट सूचना है। उस समय कर्म-परायण रह कर सौ वर्ष तक जीवित रहना सांस्कृतिक तत्त्व माना जाता था।[2] ब्राह्मणों में विभिन्न यज्ञों के सम्पादन को लक्ष्य करके कर्मठता का सन्देश दिया गया। निष्काम कर्मयोग की स्थापना का सर्वाधिक श्रेय उपनिषदों को है। बृहदारण्यकोपनिषद् में यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करके निष्काम कर्मयोग के आधार पर कर्मठ आचरण व्यक्त करते थे। मैत्रेयी ने निष्काम कर्मयोग को अपनाकर ब्रह्मविद्या को अपनाना सांस्कृतिक कर्त्तव्य समझा। कात्यायनी ने अपने पति की आज्ञा को ब्रह्मवाक्य मानकर पारिवारिक संचालन को अपना परम पुनीत कार्य समझा तथा अपने पति याज्ञवल्क्य को आत्मानुसंधान के लिए संन्यास धारण करने दिया। उत्तर

1 तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली
2 यजुर्वेद, 40/1-2

वैदिक समाज में कृषि, वाणिज्य, कला-कौशल की वृद्धि यही सूचित करती है कि उस समय कर्मठता का बोलबाला था।

10. नारी-उद्धार—यजुर्वेद में शूद्र और उच्च वर्णों के व्यक्तियों के साथ नारी को भी वेद पढ़ने का अधिकारी घोषित करके उस समय की नारी-उद्धार की भावना से विभूषित कर दिया है। मैत्रेयी तथा गार्गी नामक औपनिषदिक महिलाएँ ब्रह्मविद्या में परम प्रवीण प्रदर्शित की गई हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर वैदिक काल मे नारी-उद्धार की भावना चरम बिन्दु पर पहुँच चुकी थी। परन्तु राजाओं तथा ऋषियों के अनेक विवाह नारी-उद्धार की भावना को व्याघात पहुँचने वाले भी हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। शतपथ ब्राह्मण में महर्षि मनु की श्रद्धा एवं इड़ा नामक पत्नियों की ओर संकेत किया। अथर्ववेद में यम-यमी संवाद के आधार पर जहाँ स्वच्छन्द विवाह-प्रणाली को सूचित किया गया है, वहीं वैवाहिक आदर्श की ओर भी संकेत किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर वैदिक युग में संस्कृति अनेक रूपों को लेकर मुखरित हो चुकी। सुदीर्घकाल की यात्रा में संस्कृति के अनेक रूपों का निर्मित हो जाना भी स्वाभाविक था।

वैदिकयुगीन सामाजिक स्थिति

वैदिक युग के समाज के विषय में जानने का एकमात्र आधार वैदिक साहित्य है। 300 ई. पू. से लेकर 600 ई. पू. तक के समाज की स्थिति का विविध मुखी चित्रण वैदिक साहित्य के विभिन्न भागों में किया गया है। आर्यों और अनार्यों के संघर्ष के कारण उस समय का समाज किसी विशेष व्यवस्था की ओर बढ़ने के लिए बाध्य हुआ, जिसका यहाँ हम संक्षिप्त उल्लेख कर रहे हैं वैदिक-युगीन सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करने के प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं—1. वर्ण-व्यवस्था, 2. आश्रम व्यवस्था, 3. पारिवारिक जीवन, 4. दैनिक जीवन, 5. विवाह-प्रथा तथा 6. समाज में स्त्रियों की स्थिति।

1. वर्ण-व्यवस्था—वैदिक काल में आर्यों और अनार्यों का निरन्तर संघर्ष चलता रहा। इन्द्र ने वृत्र तथा उसके अनुयायियों को खदेड़ना शुरू कर दिया।[1] दश राजाओं ने मिलकर राजा सुदास के ऊपर आक्रमण किया, जिसमें इन्द्र और वरुण ने सुदास की रक्षा करके आसुरी शक्तियों को समेट डाला।[2] ऐसे संघर्ष के कारण समाज को व्यवस्थित रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। सुदास के पुरोहित वशिष्ठ ने इन्द्र और वरुण का स्तवन करते समय यही बताया है कि उस समय ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ण की प्रधानता थी। परन्तु आर्यों ने अपने यौधेय स्वभाव का परिचय देकर पणियों की निधियों को लूट लिया तथा असुर वर्ण को शक्ति से

1 ऋग्वेद, 7/83/9
2 वही, 7/83/8

दबाकर सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था के विषय में विचार किया। किसी वर्ग को छोटा तथा किसी वर्ग को बड़ा न बनाकर सभी को सन्तुष्ट करने के लिए समस्त समाज को विराट् पुरुष के रूप में परिकल्पित किया गया। विराट् पुरुष का मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, जंघाएँ वैश्व तथा पैरों को शूद्र कहा गया।[1] अतः एक निरन्तर चलने वाले संघर्ष को अपेक्षाकृत रोकने के लिए वर्ण व्यवस्था को जन्म दिया गया। वैदिक युगीन वर्ण-व्यवस्था का परिचय देने के लिए यहाँ चारों वर्णों पर विचार कर लेना आवश्यक एवं उपादेय सिद्ध होगा।

ब्राह्मण—ऋग्वैदिक सूक्तों में ब्राह्मण को मुख का रूप देकर उसे ज्ञान का प्रतीक बना दिया गया है। उस समय के ब्राह्मण चिकित्सा, शिक्षा तथा अन्य विभागों के कार्य किया करते थे। व्यावसायिक स्वतन्त्रता को स्पष्ट करने के लिए एक ऋषि ने यहाँ तक कह डाला है कि मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता पिसनहारी है तथा मैं कविता करता हूँ।[2] जब आर्थिक दृष्टकोण को दार्शनिक और धार्मिक रंग देकर वर्ण-व्यवस्था को मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान किया गया तो ब्राह्मण का कार्य पूजा, उपासना, यज्ञ जैसे कार्यों से जुड़ गया। सोम यज्ञ का सम्पादन करते समय अध्वर्यु क्रिया-काण्ड को सम्पन्न करता था, होतृ मन्त्र सुनाता था, उद्गाता साम गाता था। अतः यज्ञ का कार्य ब्राह्मणों के हाथ में आने पर अनेक पद निर्मित कर दिए गए। यथार्थतः यज्ञ-कार्य में जो विद्वत्वर्ग व्यस्त रहने लगा था, वही आगे चलकर अपनी पुरोहिताई के बल पर ब्राह्मण वर्ग के नाम से जाना गया। इस विद्वान् वर्ग ने शिक्षा को अपना प्रमुख व्यवसाय बनाया तथा अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ यजन-याजन एवं दान-प्रतिदान को अपनाकर अपने वर्ण के स्वरूप को शास्त्रसंगत बना लिया। ब्राह्मण तथा सूत्रग्रन्थों के जटिल कर्मकाण्ड को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण वर्ण में कर्मकाण्ड की इतनी विधियों का प्रचलन हो गया कि पुरोहितों या ब्राह्मणों के बच्चे ही पैतृकता का लाभ उठाकर उन विधियों को सीखने में योग्य सिद्ध हो सके। अतः ब्राह्मण वर्ण जातिगत रूप में कट्टरता को प्राप्त करता चला गया।

ब्राह्मण में ज्ञान के प्राधान्य के आधार पर उसे शिक्षा का अधिकारी माना जाने लगा। सनत्कुमार, नारद, ब्रह्म, विश्वामित्र तथा वशिष्ठ जैसे ऋषियों को सभी विद्याओं का केन्द्र माना जाने लगा जो उपनिषदों में अनेक रूपों में वर्णित है। ब्राह्मण वर्ण को ज्ञान के क्षेत्र में विकसित देखकर तथा उस वर्ण को धर्मगुरु मान लिए जाने के कारण उसके अपराधों को भी उदारतापूर्वक देखा जाने लगा। यदि कोई ब्राह्मण कोई घोर अपराध कर देता तो उसे अन्य वर्ण के अपराधी व्यक्ति की अपेक्षा बहुत कम दण्ड दिया जाता था। वैदिक ब्राह्मणों को अपनी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखना पड़ता था। इसीलिए वशिष्ठ ने कई बार वरुण की स्तुति करते

1 वही, 10/90/12
2 वही, 9/112/3

समय अपनी अतिविनीत आदत का परिचय दिया है। इन्द्र और वरुण का संरक्षण पाकर ब्राह्मण वर्ण अपने आश्रयदाताओं की कुशलता की कामना करता हुआ सानन्द रहा करता था। विदेह, अश्वपति तथा अजात शत्रु जैसे राजा ब्राह्मणों की विद्वता से प्रभावित होकर उन्हें सम्यक् दान व मान प्रदान किया करते थे। ब्राह्मण अपने आश्रयदाता से रुष्ट हो जाने पर उसे विनष्ट करने के विषय में भी प्रयास किया करते थे। वशिष्ठ ने त्रिशंकु को नष्ट करने के लिए अयोध्या के सिंहासन को अपने अधीन किया था। विश्वामित्र ने राजर्षि होने पर भी शस्त्र धारण करना उचित समझा था। अतः वैदिक युग के ब्राह्मण की स्थिति पर्याप्त अच्छी कही जा सकती है।

क्षत्रिय—आर्यों और अनार्यों के युद्ध का क्रम चलता रहने के कारण आर्यों को क्षत्रिय वर्ण की व्यवस्था करनी पड़ी। जिस प्रकार भुजाओं में शरीर की रक्षा करने की शक्ति रहती है, उसी प्रकार समाज रूपी शरीर की रक्षा करने के लिए क्षत्रिय वर्ण की आवश्यकता पड़ी। इन्द्र, विष्णु, सुदास, पुरुरवा जैसे अनेक राजा समाज की रक्षा में तत्पर दिखाये गये हैं। रणभूमि में अपना पौरुष प्रदर्शित करने के लिए आर्य सैन्य-सज्जा के साथ उतरा करते थे।[1] वैदिक युग का क्षत्रिय पूरे जीवनकाल में समाज की रक्षा का प्रण लेकर जीवित रहा करता था। सैनिक व्यवस्था हो जाने पर सैनिक पिता का पुत्र अनार्यों का सामना करने के लिए अपने पूर्वजों को प्रतिवद्ध समझकर स्वयं भी तैयार हो जाता। दाशराज्ञ युद्ध से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में क्षत्रिय दलवद्ध होकर अनार्यों का सामना किया करते थे। क्षत्रिय वर्ण देव और आर्य दोनों में ही था। जिस प्रकार से इन्द्र और वरुण असुरों को पराजित करने के लिए कटिवद्ध रहते थे, उसी प्रकार आर्य राजा भी अनार्यों को कुचलने के लिए सन्नद्ध रहा करते थे। क्षत्रियों के घरों में नित्य-नूतन शूरता का वातावरण रहने के कारण उनके पुत्र-पुत्री भी वीर स्वभाव के बन जाते थे। क्षत्रिय वर्ण में वीरांगनाओं के विकास का कारण मनोवैज्ञानिक स्तर पर सहजतया समझ में आ सकता है। वैदिक युग का क्षत्रिय वर्ण अपनी प्रशंसा सुनने का आदी हो गया था। गृत्समद ने इन्द्र और उसकी सेना की प्रशंसा में अपने काव्य-हृदय को अवतीर्ण अथवा प्रकट कर दिया है। वशिष्ठ ने मित्र, वरुण तथा इन्द्र की प्रशंसा में अपने हृदय को खोलकर रख दिया है। वस्तुतः ऐसी ही प्रशस्तियाँ क्षत्रिय वर्ण को समाज की रक्षा के लिए तत्पर एवं अनुप्रेरित करती थीं।

अनार्यों से संघर्ष करते समय क्षत्रियों का हताहत होना भी स्वाभाविक कहा जा सकता है। इसीलिए वैदिक साहित्य में वीरों की प्रशंसा का राष्ट्रीय महत्त्व हो जाना स्वाभाविक था। जो व्यक्ति कायर होते थे, उनकी कटु निन्दा की जाती थी।[2] वीरतापूर्वक स्वभाव बनने पर क्षत्रिय वर्ण ने अपने वैवाहिक सम्बन्ध अपने वर्ण

1 ऋग्वेद, 6/26/1
2 ऋग्वेद, 7/104/13

तक ही सीमित रखना अधिक उचित समझा होगा। जिस प्रकार से ब्राह्मण वर्ण अपने वर्ण की ज्ञान-प्रधानता के कारण शुद्धि व उच्चता सिद्ध करता था, उसी प्रकार क्षत्रिय वर्ण अपनी वीरता के कारण प्रशासक वर्ग का रूप धारण करके स्वयं को कुलीन एवं अभिजात मानने लगा तथा उसके वैवाहिक सम्बन्ध क्षत्रिय-वर्ण की परिधि में ही सीमित होने लगे। क्षत्रिय वर्ण को वेद पढ़ने का पूर्ण अधिकार था। इसीलिए प्राचीन विद्याओं के विशारदों के रूप में क्षत्रिय भी सामने आए। विदेह, जानश्रुति आदि अनेक राजा ब्रह्मविद्या के विचारक हुए हैं। क्षत्रिय वर्ण को शिक्षा के प्रायः सभी अधिकार मिले हुए थे, इसीलिए उस समय के समाज में धनुर्विद्या, गजशास्त्र आदि के प्रकाण्ड पण्डितों के रूप में बुध जैसे राजाओं को सम्मान मिला। वैदिक युग का क्षत्रिय वर्ण ब्राह्मण वर्ण की भाँति अपनी पवित्रता और महानता के संपोषण के लिए यथासंभव प्रयास करता हुआ अपने समाज की रक्षा का कार्य करता रहा। क्षत्रिय वर्ण के हाथों में शासन रहने के कारण उसमें भोग-विलास का प्राधान्य होना स्वाभाविक जान पड़ता है।[1] जिस प्रकार से ब्राह्मण वर्ण में ज्ञान की प्रधानता उसे ज्ञानियों के बीच ही सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बाध्य एवं विवश करती रही, उसी प्रकार क्षत्रिय वर्ण में भी शूरता और धीरता के आधार पर अपने वर्ण को महान् बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ रही। उस समय का क्षत्रिय तेजस्विता, क्षमा-शीलता, धीरता, शुचिता, युद्धवीरता आदि गुणों से विभूषित रहा। इसीलिए ऋग्वेद में उन व्यक्तियों की निन्दा की गई जो कायर होने पर भी वीर होने का दावा करते थे।[2]

वैश्य—यौधेय आर्यों ने भारतवर्ष के जिन धनाढ्य व्यक्तियों को लूटा, उनको 'पणि' कहा जाता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के अतिरिक्त जो वर्ण बचा उसे 'विश' कहा जाने लगा। 'विश' का अर्थ है प्रवेश। 'विश' का अर्थ बैठना भी बताया गया है,[3] जो अपने आप में भ्रामक है। क्योंकि वैदिक काल में यौधेय आर्यों ने पणि और दस्युओं को न तो बैठने या स्थायित्व की स्थिति में रहने दिया था और न ही 'विश' का अर्थ बैठना होता है। 'विश' से पूर्व 'उप' लगाने से 'उपविश' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—बैठना। जब आर्यों ने पणियों के गुप्त खजानों को लूटकर उन्हें बेहाल कर दिया तथा दस्युओं को पराजित करके पणियों को शक्तिशून्य बना दिया तो आर्यों की व्यापारिक क्षमता जो पहले से ही नाममात्र थी, अब वह भारतीय वातावरण में और भी अधिक अस्त-व्यस्त जान पड़ी। तब 'विश' के रूप में जिस वर्ग का संकेत किया है, उसका आर्यों में प्रवेश हुआ तथा उसे वैश्य कहा गया। 'वैश्य' का अर्थ है—प्रविष्ट। अतः आर्यों में जिस वर्ग ने सामंजस्य के आधार पर प्रवेश किया, उसे वैश्य कहा गया। ऋग्वेद के दशम मण्डल में विराट् पुरुष की जंघाओं से वैश्यों को व्युत्पन्न बतलाया गया है।

1 ऋग्वेद, 8/48/5
2 ऋग्वेद, 7/104/13
3 डॉ. रतिभानुसिंह नाहर : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 73.

वैदिक युग का वैश्य अनेक व्यवसायों में रत रहता था। अतः व्यवसाय-भेद के आधार पर वैश्यों की असंख्य जातियाँ विनिर्मित हो गयीं। ऐतरेय ब्राह्मण में वैश्य को 'अन्यस्य वलिकृत'—अर्थात् दूसरो को या प्रशासक वर्ग को कर देने वाला वतलाया गया है। इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वैदिक युग में वैश्य की स्थिति धनाढ्य रही थी। वैश्यों के कार्य कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य तक व्यापक वन चुके थे। वैश्यों को 'अन्यस्याद्य'—अर्थात् दूसरों को भोग प्रदान करने वाला माना गया है। जिससे यह स्पष्ट है कि वैदिक युग का वैश्य वर्ण समस्त उपकरणों का निर्माता था। या यही कहना चाहिए कि वैश्य वर्ण के हाथों में समस्त व्यापारिक कार्य का संचालन था। ऋग्वेद के 'उरुतदस्य वैश्यः' से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार जँघाएँ शरीर को गति देती हैं, उसी प्रकार उस समय के समाज को गतिशील वनाने का प्रमुख कार्य वैश्य वर्ण के हाथों में ही था। तत्कालीन वैश्य वर्ण की उपादेयता समझ कर आर्यों ने वैश्यों को 'द्विज' जातियों के अन्तर्गत ही गिना। इसीलिए वैश्यों को वेदाध्ययन जैसी सुविधाओं के विषय में किसी प्रकार की कोई आपत्ति नहीं की गई है। अतः वैदिक युगीन वैश्यों की सामाजिक स्थिति अच्छी कही जा सकती है।

शूद्र—वैदिक युगीन शूद्र के विषय में अनेक प्रकार की बातें मिलती हैं। ऋग्वेद में विराट् पुरुष के पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति का संकेत किया गया है–'पदभ्यां शूद्रोऽजायत' यदि ब्राह्मण मुख से जन्मे, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य जघाओं से तथा शूद्र पैरों से तो वैश्यों को उत्पादक वर्ग के अन्तर्गत तथा वाकी तीन वर्णों को सेवा वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। ब्राह्मणों का कार्य शैक्षणिक सेवा का था, क्षत्रियों का प्रशासनिक एवं सुरक्षापरक सेवा का तथा शूद्रों का अन्य सेवाओं से सम्बन्ध था। ऐसी स्थिति में शूद्र की शोचनीय स्थिति का पता लग जाता है। पूर्व वैदिक काल में भले ही शूद्रों की स्थिति अच्छी रही हो, परन्तु उत्तर वैदिक काल में शूद्रों तथा स्त्रियों को भी वेद पढ़ने का अधिकार दिया,[1] जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी समय शूद्रों को वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित रखा गया होगा। जिस प्रकार से शरीर के अवयव एक-दूसरे के परिपूरक होने पर भी मुख, भुजा, जंघा तथा पैर उत्तरोत्तर कम महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं, उसी प्रकार शूद्रों को प्रथम तीन वर्णों की अपेक्षा हीन समझा जाता था।

उत्तर वैदिक काल में शूद्र दूसरे वर्णों का नौकर माना जाने लगा। इस तथ्य का द्योतक 'अन्यप्रेष्य'–अर्थात् दूसरों का नौकर शब्द है। शूद्र शिक्षा, सेना तथा व्यापार के कार्यों से वंचित रहने के कारण ही शोचनीय कहलाया। इसी प्रकार शूद्र अन्य वर्णों के सम्पन्न व्यक्तियों की इच्छा के आधार पर नौकरी से हटाये जा सकते थे। 'कामोत्स्थाप्य' शब्द इसी आशय का संकेतक है। क्षत्रिय वर्ण का प्रशासनिक वर्ग शूद्रों को संभवतः अधिक पीड़ित करता था। इसीलिए शूद्रों की शोचनीय स्थिति

1 यजुर्वेद

को प्रकट करने के लिए 'यथाकामवध्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। शूद्रों को अनेक सेवा-कार्य सौंपे जाने से उनके भी अनेक भेद-प्रभेद बन चुके थे। उस समय का शूद्र वर्ण वेद पढ़ने का अधिकारी था--यही सबसे बड़ा आधिकारिक एवं धार्मिक तत्त्व था। वैदिक साहित्य के सूत्रग्रन्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शूद्रों को अनेक धार्मिक अधिकार भी मिले हुए न थे।

वैदिक काल के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय दार्शनिक और धार्मिक दृष्टियों से शूद्रों को बड़े-बड़े अधिकारों में सम्मिलित करके सामाजिक न्याय को स्थान दिया गया था, परन्तु शूद्रों का वध, उनकी सेवा की अनिश्चितता जैसे कतिपय कार्य एवं जीवन के मूल्य यही सिद्ध करते हैं कि आर्यों ने जिस वर्ग को दास बनाकर रखा था, वही क्षत्रिय आर्यों की इच्छा के अनुसार वाध्य था। कभी दास वर्ग युद्धप्रिय था, इसीलिए आर्यों ने उसे पराजित करके अपना सेवक बनाया। जो लोग आर्यों के सेवक न बने, ऐसे दासों को दस्यु भी कहा गया। कुछ दासों का दस्युओं से अवश्य सम्बन्ध रहता होगा, जिसका दुष्परिणाम उनकी मृत्यु के रूप में सामने आता था। फिर उस समय के मनीषी सामाजिक समानता को महत्त्व देते थे।

2. आश्रम व्यवस्था

वैदिक युग में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास नामक चार आश्रमों की व्यवस्था धीरे-धीरे विकसित हुई। पहला आश्रम विद्यार्जन के लिए, दूसरा धनार्जन के लिए, तीसरा पुण्यार्जन के लिए तथा चौथा आश्रम कैवल्य-लाभ हेतु हुआ करता था। अतः वैदिक युग में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की साधना के लिए चारों आश्रमों को उपयोगी माना जाता था। आश्रम-व्यवस्था के विषय में पहले ही विचार किया जा चुका है, अतः इस स्थान पर उसकी आवृत्ति करना पुनरुक्ति दोष ही होगा।

3. पारिवारिक जीवन

वैदिककालीन समाज में पुरुष-प्रधान समाज था। इसलिए पारिवारिक जीवन में माता की अपेक्षा पिता को अधिक सम्मान दिया जाता था। पिता या पितामह ही घर का स्वामी होने के कारण गृहपति कहलाता था। गृहपति गृहिणी का सम्मान करना उचित समझता था। यदि उसकी सन्तान निष्क्रिय दिखलाई पड़ती थी तो वह उसे दण्डित करके प्रगति-पथ पर आरूढ़ करने में भरसक प्रयास किया करता था। गृहपति एवं गृहिणी अपनी होनहार सन्तान का पालन-पोषण करने में गर्व का अनुभव किया करते थे। पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को मिला करता था, परन्तु आवश्यक होने पर पैतृक सम्पत्ति को सभी भाइयों में बराबर-बराबर बांट दिया जाता था।[1] परिवार के बाह्य कार्यों में पुरुष को प्रधानता मिलती थी तथा घर के आन्तरिक कार्यों में गृहिणी की प्रधानता रहती थी। उस समय के परिवारों में संयुक्त परिवार-प्रथा को महत्त्व दिया जाता था। संयुक्त परिवार

1 ऋग्वेद, 1/70/5

प्रथा में संतुलन बनाये रखने के लिए सम्पन्नता को वरेण्य माना जाता था। ऐसे परिवार की कन्याओं का जीवन प्रायः नारकीय हो जाता था, जिनके भाई नहीं होते थे। वे कन्याएँ प्रायः लम्पटों के शिकंजे में फँसकर अपने जीवन को आहों और आँसुओं में व्यतीत करने के लिए विवश हो जाती थीं।[1]

परिवार में स्त्रियों को शोषण-मुक्त रखने के लिए कताई-बुनाई के कार्यों में व्यस्त रखा जाता था। पत्नी अपने सास-श्वसुर, देवर-ज्येष्ठ, पति-देवर आदि के होने पर भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकसित करने के अवसर प्राप्त करती थी। पति-पत्नी अपनी सन्तान के साथ धार्मिक कृत्यों को सम्पादित करते हुए आनन्दित रहा करते थे। पत्नी पति के साथ सोमरस तैयार करती थी तथा यज्ञ-सम्पादन करती थी। जिस प्रकार उषा देवी सभी व्यक्तियों को जगाने का उपक्रम करती है, उसी प्रकार गृहिणी का कार्य सबसे पहले उठकर यथा समय अन्य पारिवारिक सदस्यों को जगाने से शुरू होता है। जिस प्रकार रात्रि देवी अपने शान्त वातावरण में सबको आनन्ददायिनी सिद्ध होती है, उसी प्रकार स्त्रियाँ रात्रि में सबसे पीछे सोकर अपने परिवार का हितचिन्तन किया करती थीं। पत्नी को गृहिणी मानकर उसे ही घर का रूप माना जाता था। जहाँ गृहिणी है, वहीं गृह है, वहीं गृहस्थी है तथा वहीं आनन्द है। अतः पारिवारिक जीवन में आशावादी दृष्टिकोण को प्रधानता दी जाती थी।

4. दैनिक जीवन

वैदिक युग के समाज में व्यक्तियों का दैनिक जीवन विभिन्न प्रकार के आमोद-प्रमोद, खान-पान, रहन-सहन तथा वेशभूषा को धारण करने से सम्बद्ध था। उस समय के व्यक्ति घुड़दौड़, रथदौड़, नृत्य तथा संगीत को अपने दैनिक आमोद-प्रमोद का साधन मानते थे। कर्करी तथा दुन्दुभी जैसे वाद्ययन्त्रों को बजाकर दैनिक जीवन को सरस बनाने का उपक्रम चलता था। वैदिक समाज में पूजा पद्धति को अलौकिक आनन्द का विषय माना जाता था। आर्यों के भोजन में दूध, दही, घृत आदि पौष्टिक पदार्थों का विशिष्ट स्थान था। सोमरस का पान करके अमरता की कल्पना की जाती थी। दैनिक जीवन में सुरापान को स्थान नहीं दिया गया था।[2] गाय को 'अवघ्य' मानकर मांसाहार का विरोध किया जाता था। दैनिक खान-पान में रोटी, चावल, दूध तथा घी की प्रधानता थी। उस समय के समाज में अनेक प्रकार के वस्त्रों को धारण करने का शौक था। कमर में 'नीवी' या धोती, वक्ष पर 'वास' तथा सिर पर 'अधिवास' धारण करने का रिवाज था। अनेक प्रकार के आभूषण–कुण्डल, अंगद, हार, गजरे आदि दैनिक जीवन के अभिन्न अंग बन चुके थे। बालों को कंघी से संवारना तथा दाढ़ी रखने की भी प्रथा थी। दाढ़ी को स्वच्छ रखना दिनचर्या का विषय था। स्त्रियों के दैनिक जीवन में शृंगार की प्रधानता रहती थी।

1 वही, 1/124/7
2 ऋग्वेद, 7/86/6

5. विवाह-प्रथा

वैदिक युग के समाज में बहुविवाह की प्रथा का संघर्षमूलक रूप विद्यमान था। सौत को खत्म करने तथा एक स्त्री का अपने पति के ऊपर पूर्ण अधिकार करने की इच्छा का उल्लेख[1] यही स्पष्ट करता है कि वैदिक समाज में बहुविवाह की प्रथा कंटकाकीर्ण होने के कारण एक विवाह की ओर विकसित हुई थी। उस समय का समाज दहेज का किसी सीमा तक आदर करता था। सगोत्रीय विवाह को यथा-संभव रोका जाता था। बड़े-बड़े राजा तथा ऋषि अनेक विवाह के पक्षधर रहा करते थे। पुरूरवा तथा उर्वशी के विवाह से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक समाज में गन्धर्व विवाह को भी स्थान मिला हुआ था। एक स्त्री अपने अनेक पति नहीं रख सकती थी।[2] वैदिक समाज में विवाह को पवित्र संस्कार माना जाता था। अग्नि को साक्षी करके वर और कन्या एक दूसरे के सहायक होने का प्रण करते थे। विवाह मनोरंजन के लिए न होकर जीवन-पथ को प्रशस्त करने के लिए होता था। विधवाओं के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाकर युवती विधवाओं के पुनर्विवाह की व्यवस्था दी। अतः वैदिक समाज में विवाह-प्रथा अनेक रूपों में प्रचलित थी तथा उसे गृहस्थ जीवन का मूल आधार माना जाता था।

6. समाज में स्त्रियों की स्थिति

वैदिक समाज में स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकारी माना जाता था, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय स्त्रियों की शैक्षणिक स्थिति पर्याप्त ठीक थी। स्त्री को गृहिणी के रूप में घर की प्रशासिका माना जाता था। स्त्री का उसके श्वसुर, ननद, देवर आदि के ऊपर अधिकार होता था। गार्गी, मैत्रेयी, कात्यायनी आदि महिलाओं के चरित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक समाज में स्त्रियों को ससम्मान रखा जाता था। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति के विषय में ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन तथा संस्कृति के स्वरूप का विश्लेषण करते समय पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अतः यहाँ उसका संकेत ही पर्याप्त ही है।

वैदिक युगीन आर्थिक स्थिति

आर्यों के समाज की स्थिति का अध्ययन करने के उपरान्त वैदिक युग के आर्थिक स्वरूप पर विचार लेना आवश्यक है। वैदिक युग का समाज वर्ण-व्यवस्था के द्वारा व्यवस्थित था। अतः उसकी आर्थिक स्थिति वर्णानुकूल कार्य पर आधारित थी। फिर भी सम्पूर्ण समाज का अर्थतन्त्र वैश्य वर्ग के ही हाथों में था। उस समय के समाज की आर्थिक अवस्था को हम निम्न बिन्दुओं के आधार पर चित्रित कर सकते हैं—1. पशुपालन, 2. कृषि, 3. आखेट, 4. कुटीर उद्योग, 5. व्यापार, 6. शिक्षा तथा सेवा।

1. पशुपालन—वैदिक युगीन समाज के आर्यों का प्रिय पशु गाय मानी जाती थी। गाय को माता के समान आदर दिया जाता था। अनेक चरागाहों में

1 अथर्ववेद, 3/18/15
2 एतरेय ब्राह्मण, 3/23

गायों को चराया जाता था तथा उनके दूध पर पूरी पेय-व्यवस्था आधारित रहती थी। गाय के बछड़े बैलों के रूप में हल जोतने के काम में आते थे। बैलों को गाड़ी खींचने के कार्य में भी लिया जाता था। आर्यों का दूसरा प्रिय पशु घोडा था, जो सवारी के काम में आता था। घोड़ों का युद्ध की दृष्टि से भी महत्त्व था। अत: घोड़ों की उच्च कीमतें अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करती थीं। उस समय के अन्य पालतू पशु भेड़, बकरी, गधे तथा कुत्ते भी थे। भेड़-बकरियाँ दूध के व्यवसाय तथा मांसाहार की दृष्टि से अपना अर्थजन्य महत्त्व रखती थीं तथा गधे भार-वहन का कार्य करते थे। कुत्ते स्वामिभक्ति के प्रतीक होने के कारण अपना अलग ही महत्त्व रखते थे। पशुओं का हरण या चोरी हो जाने पर उस समय का समाज पूषा या सूर्य देवता का स्तवन करता था, जिससे दिन निकलते ही उनके पशु उन्हें प्राप्त हो सकें। पशुपालन के साथ दुग्ध-व्यवसाय जुड़ा हुआ था।

2. कृषि—वैदिक युग में पशुपालन के पश्चात् कृषि को महत्त्व दिया जाता था। आर्य लोग खेतों में हल चलाने के लिए बैलों का प्रयोग करते थे। उनके हल में लोहे की फाली या लौह फलक को स्थान मिलता था। वे अपनी कृषि को सींचने के लिए पर्जन्य देवता की आराधना करते थे। सिंचाई का कार्य मुख्यतः वर्षा के ऊपर ही अवलम्बित रहता था। उस समय तालाबों तथा झीलों से भी सिंचाई की जाती थी।[1] उस समय के समाज में चावल, चना, ईख आदि फसलें उगाई जाती थीं। उस समय की कृषि में शर्करा के उत्पादन को विशेष स्थान मिला हुआ था। आर्य लोग फसलों को काटने के लिए हसिया का प्रयोग करते थे। वैदिक समाज के कृषक को अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा अनेक कीड़ों-मकोड़ों की जानकारी थी। भूमि की उर्वरता से भी उस समय का कृषक परिचित था। कृषि के कार्य में न केवल वैश्य वर्ण, अपितु शूद्र वर्ण भी सेवक या परिचारक के रूप में व्यस्त रहा करता था।

3. आखेट—वैदिक युगीन समाज में राजाओं का मनोरंजन आखेट भी था। निम्न वर्ग के लोग शिकार को आजीविका के रूप में अपनाते थे। उस समय शेर को गड्ढे मे गिराकर मारा जाता था। उसकी चर्म को वस्त्र के रूप में पहना जाता था। हाथी का शिकार करके हाथी दाँत की चीजें बनाई जाती थीं तथा गजमस्तक की मणियों को प्राप्त किया जाता था। आखेट के माध्यम से माँसाहार की पूर्ति भी होती थी। जहां क्षत्रिय वर्ण अपने वैभव के प्रदर्शन हेतु आखेट करता था, वहीं शूद्र वर्ण के लोग छोटे-छोटे शिकार करके अपनी जीविका-यापन किया करते थे।[2]

4. कुटीर उद्योग—वैदिक समाज में अनेक कुटीर उद्योग प्रचलित थे। स्त्रियाँ कताई-बुनाई के कार्य में दक्ष थीं। स्वर्णकार अपने गृह में आभूषण निर्मित किया करते थे। लकड़ी का सामान बनाने के साथ-साथ नक्काशी का कार्य भी किया

1 ऋग्वेद, 1/117/21 तथा 6/13/4
2 ऋग्वेद, 10/28/10

जाता था। चर्मकार चमड़े को पकाकार पदत्राण या जूतियां बनाया करते थे। कुओं से जल निकालने के लिए चमड़े की मशक का प्रयोग किया जाता था। वेद के प्रणेता विभिन्न धातुओं से परिचित जान पड़ते हैं। अतः उस समय लघु उद्योग के रूप में लोहा, तांबा आदि का कार्य होता रहा होगा। तन्तुवाय बुनाई के कार्य में कुशल होते थे। अतः कुटीर उद्योग सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक थे।

5. व्यापार—वैदिक युग में व्यक्ति अनेक प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करते थे। उस समय के वणिक् 'निष्क' सिक्के को या आभूषण को व्यापार की मुद्रा के रूप में प्रयोग करते थे। उस समय के क्रय-विक्रय को देखने से पता चलता है कि उस युग में वस्तु-विनिमय की प्रधानता थी। इन्द्र की एक मूर्ति खरीदने के लिए दश गाय देनी पड़ती थीं। महाजन साधारण ब्याज पर ऋण देते थे। गायों, बैलों तथा घोड़ों का व्यापार बड़े पैमाने पर होता था। गोधन, गजधन, अश्वधन को पशुधन[1] के रूप में गिना जाता था। उस समय के व्यापारी धर्म का ध्यान रखते हुए ही व्यापार में प्रवृत्त होते थे। नदियों तथा समुद्रों में नौका संचालन करने वाले व्यक्ति व्यापार के यात्रा-साधन जुटाते थे। मछली पकड़ने का कार्य मत्स्यकार या मछुए किया करते थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वैदिक समाज में व्यापार मुख्यतः वैश्यों के अधिकार में था, परन्तु छोटे-छोटे सभी कार्यों में शूद्र वर्ण का योगदान रहता था।

6. शिक्षा तथा सेवा— वैदिक युग के ब्राह्मणों की आर्थिक स्थिति शिक्षण कार्य के ऊपर अवलम्बित थी। मितव्ययी एवं अकिंचन ब्राह्मण निःस्वार्थ भावना से अध्ययन करते थे तथा तत्कालीन राजाओं से राजकीय अनुदान प्राप्त करते थे। क्षत्रिय वर्ण समाज की रक्षा करता हुआ जनसेवा तथा राष्ट्र सेवा किया करता था। उस समय का क्षत्रिय आखेट को मनोरंजन की दृष्टि से तथा गजशास्त्र एवं धनुर्वेद जैसे विषयों का अध्यापन भी करता था। शूद्र वर्ण उद्योग धन्धों में सहयोग प्रदान करता हुआ तथा द्विजों की सेवा करता हुआ अपनी आर्थिक अवस्था को सुधारने का प्रयास किया करता था। अतः शिक्षा एवं सेवा का भी आर्थिक स्थिति के निर्माण में महत्त्व था।

वैदिक युग में वैश्यों और शूद्रों के हाथों में उद्योग एवं व्यापार के होने से अनेक व्यवसायों का प्रचलन हो चुका था। मछुआ, धीवर, सारथी, गड़रिया, धोबी, लुहार, स्वर्णकार, मणिकार, टोकरी बुनने वाले, रस्सी बँटने वाले, वंशी बजाने[2] वाले तथा नट या कला प्रदर्शक लोग अपने-अपने धन्धों को विकसित करने का प्रयास किया करते थे। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि वैदिक युग की आर्थिक अवस्था वर्ण-व्यवस्था के ऊपर अवलम्बित थी। ऐसी आर्थिक स्थिति की पृष्ठभूमि में शोषण

1 ऋग्वेद, 1/4/11
2 शतपथ ब्राह्मण, 2/3/3/5

कम ही दिखलाई पड़ा करता था । फिर भी वर्ण-व्यवस्था में अनेक कट्टरताओं का जन्म होने से शूद्र वर्ण की आर्थिक स्थिति प्राय: अच्छी नहीं रही थी ।

वैदिक युगीन गृहस्थ धर्म

वैदिक युग के प्रारम्भिक चरण में केवल दो ही आश्रम थे—ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ । परन्तु उत्तर वैदिककाल में वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम को भी प्रतिष्ठा मिली । वैदिक युग का गृहस्थ धर्म के अनेक रहस्यों से जिस प्रकार परिपूर्ण होता गया, उनका अध्ययन निम्न विन्दुओं के आधार पर किया जा सकता है—

1. पंच महायज्ञ, 2. सोलह संस्कार, 3. वैवाहिक नियमों की व्यवस्था, 4. स्त्रियों का आदर, 5. संयुक्त परिवार-प्रथा, 6. शिक्षा, 7. समन्वय या समरसता, 8. यथोचित अर्थ-साधना ।

उपर्युक्त सभी विन्दुओं पर वैदिक संस्कृति के प्रसंग में विचार हो चुका है । यहाँ हम केवल वैदिक गृहस्थ धर्म की मूल प्रक्रिया की ओर ही संकेत कर देना चाहते हैं । यथार्थत: वैदिक गृहस्थ धर्म सम्पूर्ण समाज का केन्द्र-विन्दु बनकर भौतिक और आध्यात्मिक प्रगति का संबल सिद्ध हो सका । सन्यास एवं वैराग्य के पक्षधर एवं ब्रह्म विद्या के साक्षात् पुञ्ज उपनिषद् भी विद्या और अविद्या के समन्वय में समाज की प्रगति को निहारते रहे ।[1] अत: वैदिक युगीन गृहस्थ धर्म सदा के लिए सामाजिक प्रेरणा का स्रोत बन सका है ।

वैदिक युगोत्तर संस्कृति
(Culture after Vedic Period)

वैदिक युग 600 ई. पू. में समाप्ति की ओर था । संस्कृति की दृष्टि से बौद्ध एवं जैन नामक संस्कृतियों के उदय ने एक युगान्तरकारी रूप धारण किया तथा दूसरी ओर लौकिक संस्कृति के उदय ने 'रामायण' एवं 'महाभारत' जैसे पौराणिक महाकाव्यों तथा अनेक पुराणों के उदय ने वैदिक संस्कृति को एक नया रूप प्रदान किया । अत: पुराणों, रामायण एवं महाभारत के प्रणयन से वैदिक संस्कृत साहित्य से एक राहत मिली तथा नवीन जीवन मूल्यों एवं दर्शन का उदय हुआ । अतः वैदिक युगोत्तर संस्कृति को जानने के लिए एक ओर पुराण एवं महाकाव्य आधार स्तम्भ हैं तथा दूसरी ओर बौद्ध एवं जैन साहित्य । पुराणों की अवतारवादी धारणा के विरोध में गौतम बुद्ध या अनीश्वरवादी दर्शन अलग ही महत्त्व रखता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पुराणों एवं महाकाव्यों ने वैदिक साहित्य को आधारभूत बनाकर सांस्कृतिक विकास में योगदान दिया तथा बौद्धों एवं जैनों ने वैदिक साहित्य का विरोध करके एक नवीन संस्कृति को जन्म दिया । यहाँ हम इसी क्रम में पौराणिक एवं महाकाव्य युगीन संस्कृति तथा बौद्ध एवं जैन संस्कृति का उल्लेख कर रहे हैं ।

पौराणिक संस्कृति का स्वरूप
(Mythological Culture)

अठारह पुराणों का प्रारम्भिक रूप 600 ई. पू. ही निर्मित हो चुका था ।

1 यजुर्वेद, 40/4-8

उस समय के पुराण अपने बीज रूप में तो वैदिक युग के साहित्य के समानान्तर ही विकसित हो रहे थे, परन्तु उस समय–अर्थात् 600 ई.पू में तो पुराणों में ब्राह्मण धर्म का बोलबाला स्थान पा चुका था। पुराणों की गूढ़ एवं अतिशयोक्तिपूर्ण शैली अपना ऐसा चमत्कार प्रदर्शित कर रही थी कि जनसाधारण ईश्वर के विरोध मे कुछ सोच ही नहीं सकता था। यही अतिशयोक्तिपूर्ण शैली रामायण तथा महाभारत के परिवर्धन का आधारभूत वन चुकी थी। लौकिक संस्कृत भाषा के इस साहित्य ने भाषा की सरलता के आधार पर भी जनसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट किया। अतः पौराणिक एवं महाकाव्य युगीन संस्कृति के स्वरूप या विशेषताओं को समझने के लिए हम निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर विचार कर सकते हैं—

1. अवतारवाद की धारणा, 2. आदर्श चारित्रिकता, 3. धर्म का समानाधिकार, 4. वर्ण-व्यवस्था, 5. आश्रम-व्यवस्था, 6. नारी-उद्धार, 7. राष्ट्रीयता की भावना, 8. समन्वय, 9. सम्माननीयों का सम्मान।

1. अवतारवाद की धारणा—गौतम बुद्ध ने स्वयं को ईश्वर का अवतार न बताकर पौराणिक अवतारवाद की ओर ही संकेत किया था। 600 ई. पू. से लेकर 400 ई. पू. तक के पौराणिक साहित्य में अवतारवाद का एकछत्र राज्य हो गया था। महाभारत के दर्शन में अवतारवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब-जब धर्म का ह्रास होता है, अधर्म की वृद्धि होती है, दुष्टजन आनन्दित रहते हैं तथा संतजन पीड़ित रहा करते हैं; तब-तब सर्व शक्तिमान् शक्ति धर्म की स्थापना के लिए, दुष्टों के विनाश के लिए, सज्जनों की रक्षा के लिए अवतरित हुआ करती है।[1]

इसी अवतारवाद के आधार पर ईश्वर के अनेक अवतार प्रसिद्ध हो गए। वाल्मीकीय रामायण में राम को ईशावतार बता दिया गया तथा महाभारत के एक अंश गीता नामक शास्त्र में श्रीकृष्ण को अवतार घोषित कर दिया गया। पुराणों में मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम तथा कृष्ण के साथ बुद्ध को भी अवतार कहा जाने लगा। पुराणों का अवतारवाद भारतीय संस्कृति में भक्ति-भावना को विवर्धित करने वाला सिद्ध हुआ। उपनिषदों का ज्ञानमार्ग जनता के लिए दुर्बोध्य सिद्ध हुआ, इसलिए पुराणों में भक्ति मार्ग का प्रतिपादन हुआ। अष्टादश पुराणों में ईश्वर के अनेक रूपों को प्रस्तुत करके भक्ति का अनेक रूपी सबल आधार प्रस्तुत किया। अतः रामायण के राम रावण का वध करके अपने समय के यज्ञों की रक्षा करते हैं,[2] आर्य संस्कृति की रक्षा करते हैं। महाभारत एवं पुराणों के श्रीकृष्ण कंस निकन्दन हैं तथा भक्ति-पथ के समर्थक हैं। ये सभी अवतार वैदिक धर्म की मर्यादाओं की संस्थापना के लिए अवतरित दिखाए गए हैं—

1 यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ —गीता, 4/7–8

2 वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, यज्ञ-रक्षा प्रसंग

2. आदर्श चारित्रिकता— पौराणिक साहित्य के माध्यम से आदर्श चरित्रों को प्रस्तुत करके संस्कृति के स्वरूप को उज्ज्वल बनाने का सफल प्रयास किया गया। भागवत पुराण के जड़ भरत सौवीर नरेश के मद को उस समय दूर करते हैं, जब वह उन्हें अपनी पालकी में जोत देता है तथा पुनः-पुनः सधकर चलने की आज्ञा देता है। जड़ भरत में अपने मानस में बसे ईश्वर के स्वरूप को ध्यान करते चलते हैं तथा वे राजदण्ड की चिन्ता नहीं करते। जब राजा उन्हें प्राणदण्ड का भय दिखलाता है तो वे यही कहते हैं कि—'उनके शरीर के मर जाने पर भी उनका विनाश नहीं होगा।' वे सौवीर नरेश को मानवता और सौजन्यता के पथ पर लाकर खड़ा कर देते हैं। पुराणों के ऐसे ही अनेक आदर्श चरित्रों ने जन-समाज को विश्वबन्धुत्व की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी। वह समाज आदर्श चरित्र को अपनी संस्कृति का सर्वस्व मानता था। पुराणों के राजवंश तथा ऋषिवंश के अनेक चरित्र भारतीय संस्कृति को राष्ट्रीय चरित्र के स्तर पर लाकर खड़ा कर देते हैं। दधीचि एवं शिवि जैसे दानवीर अपनी अस्थियों एवं मांस का दान करके चरम त्याग का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। राजा अम्बरीष ने जनरक्षा में अपना सर्वस्व न्योछावर किया। वह ईश्वर में इतना तल्लीन रहता था कि स्वयं ईश्वर को सशस्त्र रूप में राजा की रक्षा में तैनात रहना पड़ा। विभिन्न राजाओं की प्रजा-वत्सलता भारतीय राजकुल की पवित्र संस्कृति को ही अभिव्यक्त करती है।

'रामायण' के राम समस्त आदर्शताओं को लेकर पौराणिक मंच पर खड़े दिखाई देते हैं। वे भारतीय संस्कृति के महान् रक्षक के रूप में अवतीर्ण होकर आदर्श राजा, आदर्श भाई, आदर्श मित्र, आदर्श योद्धा, आदर्श पति तथा आदर्श जनहितैषी के रूप में प्रकट दिखलाई पड़ते हैं। लक्ष्मण और हनुमान प्रतिपक्षियों अथवा भारतीय संस्कृति के विनाशकों को नष्ट करके अपनी संस्कृति के प्रतिमानों को प्रस्तुत करते हैं। भरत त्याग की मूर्ति के रूप में संस्कृति का उज्ज्वल चारित्रिक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। राम के प्रतिपक्षी पात्र भी अपनी विलक्षण विशेषताओं से संयुक्त होकर संस्कृति के उज्ज्वल स्वरूप को प्रकट कराने में सहायक होते हैं। स्त्री पात्रों में सीता, कौशल्या तथा मन्दोदरी आदर्श पतिव्रता महिलाओं के रूप मे संस्कृति के 'पतिव्रता' लक्षण को उजागर करती हैं। राम का पक्ष अपनी संस्कृति और राष्ट्र की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगाकर राष्ट्रीय चरित्र प्रस्तुत करता है।

महाभारत के कौरव पक्ष के धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन की अविनायकता के विरोध में कृष्ण पाण्डवों को साथ लेकर चारित्रिक सत्य को प्रस्तुत करते हैं। दोनों ही पक्षों के असंख्य योद्धा अपने-अपने पक्ष को सत्यपूर्ण मानकर युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हो जाते हैं। महाभारत के विदुर, धौम्य, उद्दालक, सान्दीपनि जैसे ऋषि पात्र अपने-अपने चरित्र को सत्यता, दृढ़ता, धीरता, गम्भीरता जैसे सांस्कृतिक लक्षणों के रूप में प्रकट करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। महाभारत के स्त्री चरित्रों में अपेक्षाकृत आदर्शता का अभाव है। द्रौपदी का चरित्र गत्यात्मक होता हुआ भी आदर्श नहीं है।

3. धर्म का समानाधिकार—धर्माधिकार की दृष्टि से पौराणिक संस्कृति में अनेक मान्यताएँ दिखलाई पड़ती हैं। भविष्य पुराण में शूद्र को पुराण-वचनों को पढ़ने का अधिकार नहीं बताया है।[1] उस समय के शूद्र ब्राह्मणवाद के अतिरेक से पीड़ित कहे जा सकते हैं। जब शूद्रों को सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय से वंचित रखा गया तो हिन्दू समाज में अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो गईं। शूद्र पुराण-वचनों को सुनने का अधिकारी मात्र था। रामायण भी शूद्रों को द्विजजातियों के स्तर पर लाकर खड़ा नहीं करती। महाभारत में शूद्रों एवं स्त्रियों को आत्मज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी घोषित किया गया है। गीता में भी इसी रहस्य को प्रकट करते हुए कहा गया है कि "ईश्वर को आधार मानकर जो व्यक्ति आध्यात्म-क्षेत्र में आगे बढ़ते हैं, वे चाहे शूद्र हों या स्त्रियाँ—परम गति को प्राप्त होते हैं।" यथा—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्याएतथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

—गीता, 9/33

महाभारतकालीन संस्कृति में ऐसा युगान्तरकारी परिवर्तन दिखलाई पड़ता है, जिसे हम व्यक्ति और समाज का संस्कार करने वाली संस्कृति का प्रधान तत्त्व कह सकते हैं। ईश्वर के लिए सभी जीवधारी समान हैं। सभी जीवधारियों में ईश्वर का निवास है, इसलिए सभी को आत्महित करने का अधिकार है। जो ईश्वर का ध्यान करता है, वह ईश्वर का ही हो जाता है।[2] सम्पूर्ण समाज ने जिस व्यक्ति को धर्म की दृष्टि से बहिष्कृत कर दिया है, वह व्यक्ति भी सदाचार-स्वरूप ईश्वर की आराधना करता हुआ शीघ्र ही पाप-मुक्त हो जाता है तथा पुण्यात्मा कहलाने का अधिकारी होता है।[3] व्यक्ति के ऊपर हीनता केवल आचरण है, अतः धर्म की दृष्टि से सब समान हैं। एक पापी व्यक्ति धर्माचार से शीघ्र ही धर्मात्मा का रूप धारण करके शाश्वत शान्ति को प्राप्त होता है। अतः वेदाध्ययन, पुराणों का स्वाध्याय आदि की दृष्टि से धर्म-धारणा का समान अधिकारी होने पर भी आत्म-साधना का समान अधिकार पौराणिक संस्कृति की महान् विशेषता है। अतः वैदिक संस्कृति में जो विषमताएँ थीं, लगभग वे ही किसी न किसी रूप में पौराणिक संस्कृति में अधिकार कर बैठी थीं। जिस प्रकार वेद के मन्त्र द्रष्टाओं ने सभी को वेदाध्ययन का अधिकारी बताकर भी शूद्र की शोचनीय स्थिति के निराकरण के लिए सामाजिक स्तर पर प्रायः कुछ नहीं किया, उसी प्रकार पौराणिक संस्कृति में शूद्रों को सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करने का अधिकार न देकर केवल सुने-सुनाए ज्ञान के आधार पर

1 अध्येतव्यं न चान्येन ब्राह्मणं क्षत्रियं विना।
श्रोतव्यमिह शूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन॥

2 समोऽहंसर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्तितु मांभक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

3 अपिचेतसुदुराचारो भजतेमामनन्यभाक्।
साधुरेवसमन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः॥ —गीता, 9/29–30

उन्हें आत्म-साधना का अधिकार देना हिन्दू-समाज के सेवक वर्ग के प्रति एक अघोर प्रवंचना है।

4. **वर्ण-व्यवस्था**—पौराणिक संस्कृति में वर्ण व्यवस्था को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व तथा शूद्र नामक चारों वर्णों के कर्मों को प्राकृतिक या जन्मजात गुणों के रूप में समझा गया।[1] ब्राह्मण वर्ण के कर्मों को अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, एवं दान-प्रतिदान के रूप में प्रस्तुत करके ब्राह्मणों के विशिष्ट लक्षणों को भी वर्ण-व्यवस्था की मनोवैज्ञानिकता सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया। मन का शमन करना, इन्द्रियों का दमन करना, मन, वाणी और शरीर की पवित्रता, क्षमाशीलता, चित्त की मृदुलता और ज्ञान और विज्ञान में रुचि का होना ब्राह्मण वर्ण के लक्षण एवं कर्म माने गये। समाज का शैक्षणिक कार्य ब्राह्मण वर्ण के हाथों में था। ब्राह्मण लोग शिक्षा के ऊपर एकाधिकार किये हुए थे। ब्राह्मणों में चारित्रिक पवित्रता का होना अनिवार्य गाना जाता था, ताकि शिक्षा को उपदेशात्मक रूप प्रदान किया जा सके क्षत्रिय वर्ण के लिए शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, रणधीरता तथा नेतृत्व-शक्ति जैसे गुणों को अपरिहार्य माना गया। क्षत्रिय वर्ण के ये गुण ही उसे समाज तथा शासन संचालन के कार्य सौंप सके। क्षत्रियों को युद्धोन्मत्त करने के लिए वीरगति प्राप्त करने वाले शूरवीरों को मोक्ष का अधिकारी बताया गया। रणभूमि में हताहत होने वाले वीर को स्वर्ग प्राप्त करने का अधिकारी बताया गया। गीता की यह उक्ति 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' क्षत्रिय वर्ण को समाज-रक्षा की ओर ही प्रवृत्त करने वाली थी। क्षत्रिय वर्ण को सामाजिक सुरक्षा से जोड़कर संस्कृति का जो स्वरूप प्रस्तुत किया, उसमें त्याग, राष्ट्रीयता की भावना जैसे गुण विद्यमान हैं। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के कर्म उल्लेख के पश्चात् वर्ण-व्यवस्था के आधार पर वैश्यों को कृषि, गोरक्षण तथा व्यापार का कार्य सौंपा गया। परिचर्या या सेवा का कार्य शूद्र वर्ण को सौंपा गया।

पौराणिक वर्ण-व्यवस्था में भी अनेक विषमताएँ विद्यमान थीं। शूद्रों को आत्मसाधना का अधिकार होने पर भी मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार नहीं था। शूद्र मन्दिर के बाहर से ही ईश्वर की प्रतिमा का दर्शन कर सकता था। वह न तो मन्दिर में प्रवेश कर सकता था और न ही उसे वेदाध्ययन या स्वाध्याय करने का अधिकार था। तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था में सभी वर्णों को निर्दिष्ट कार्य करने का आदेश दिया। कोई वर्ण अपने कर्म को हीन समझे, इसलिए यह सांस्कृतिक प्रतिमान भी आरोपित किया गया कि कोई भी व्यक्ति अपने वर्णानुकूल कार्य को करता हुआ सभी प्राणियों में निवसित ईश्वर को प्राप्त होता है।[3] यदि कोई व्यक्ति

1 गीता, 18/41
2 वही, 18/42–44
3 यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ..

अपने कर्म को हीन मानता है तो उसको यही सांस्कृतिक उपदेश दिया गया कि अपना गुणरहित धर्म या कर्म भी दूसरे सुव्यवस्थित धर्म या कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। व्यक्ति अपने कार्य को करता हुआ पाप से लिपायमान नहीं होता।[1] अतः अपना कर्म एवं धर्म ही धारणीय है, अनुकरणीय है। हाँ, इससे हीनता की ग्रन्थि का कर्तन अवश्य हुआ, जिससे वर्णानुकूल कर्मठता में वृद्धि हुई।

5. **आश्रम-व्यवस्था**—पौराणिक संस्कृति में वैदिक संस्कृति की भाँति आश्रम-व्यवस्था नामक विशेषता स्वतः समाविष्ट हो गई। उस समय का समाज विद्याध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य को, धनार्जन के लिए गृहस्थ को, पुण्यार्जन के लिए वानप्रस्थ को तथा आत्मप्रसादार्थ संन्यास आश्रम को विशेष महत्त्व देता था। तत्कालीन समाज में ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ को प्राथमिकता दी जाती थी।

ब्रह्मचारी के लिए कर्म, मन तथा वचन से मैथुन को छोड़ने के अनुदेश दिए गए थे। ब्रह्मचर्य की ऐसी परिभाषा को निम्न रूप में देखा जा सकता है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वदा मैथुनं त्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥

—गरुड़ पुराण

उस समय के ब्राह्मण वृद्ध होने पर भी पुरोहिताई का कार्य करते रहते थे। तथा भीष्म जैसे अखण्ड ब्रह्मचारी 75 वर्ष की आयु को पार करने पर भी सेनापति का कार्यभार सम्भाले रहते थे। गुरुद्रोण जैसे आचार्य वृद्धावस्था में भी अपने पद को न छोड़कर महाभारत कराया करते थे।

जहाँ एक ओर आश्रम-व्यवस्था का शिथिल रूप दिखलाई पड़ता था, वहीं दूसरी ओर अनेक ऋषि-महर्षि वानप्रस्थ की शरण लेकर निःशुल्क अध्यापन कार्य किया करते थे। भिक्षान्न ही उनके जीवन का आधार था। शुकदेव जैसे ब्रह्मर्षि अमरता का सन्देश प्रसार करते हुए बाल्यावस्था से ही संन्यास ग्रहण कर लेते थे। राजा दशरथ जैसे महीप वृद्धावस्था में शान्ति पाने के लिए वन या पर्वत की शरण लेने के लिए संकल्प भी लिया करते थे। अतः आयु सीमा का आश्रम-व्यवस्था से प्रायः कम सम्बन्ध रहता था। आश्रमों का निर्धारण विशेष परिस्थितियाँ ही करती थीं। इस समय भी गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम माना जाता था तथा गृहस्थ ही सभी आश्रमों का आधार था।

6. **नारी-उद्धार**—पौराणिक महाकाव्यों के अध्ययन से पता चलता है कि पौराणिक संस्कृति में नारी-उद्धार की निरन्तर कोशिशें हुईं। राजाओं में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। चाहे दशरथ हों या रावण—आर्य और अनार्य बहुविवाह को महत्त्व देते थे। नारी को भोग की वस्तु भी माना जाता था। दूसरी ओर नारी की ऐसी शोषणात्मक स्थिति को दूर करने के लिए प्रयास भी किए जाते थे।

1 श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः स्वधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम। —गीता, 18/46-47

गौतम की पत्नी अहिल्या अपरिचित पुरुष द्वारा धर्षित होने पर जड़वत या प्रस्तरवत् जीवन व्यतीत करने के लिए वाध्य हो गयी, परन्तु रामचन्द्र जैसे समाज-सुधारक ने उसके एकान्तवास को दूर करके उसे ऋषिकुल के वातावरण में प्रतिष्ठित करके स्वर्ग स्थानीय वनाया।[1] श्रीराम ने सतीत्व की साक्षात् मूर्ति सीता को सांस्कृतिक स्तर पर महत्त्व देकर रावण का विध्वंस करके नारी-उद्धार का प्रतिमान प्रस्तुत किया।

महाभारत की नारी का स्वरूप रामायण की नारी के स्वरूप की अपेक्षा आदर्श न होकर यथार्थवादी है। द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी के रूप में रहकर भी सम्माननीया समझी गई। केवल इतना ही नहीं, काम्यक वन में जयद्रथ के साथ रहने वाली द्रौपदी को पाण्डवों ने संशय की दृष्टि से न देखा। परन्तु नारी के अपमान को संस्कृति का अपमान मानकर महाभारत का होना यह सिद्ध कर देता है कि उस समय भी नारी-उद्धार की धारणा किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान थी।

पौराणिक श्रीकृष्ण कुब्जा जैसी नारियों का उद्धार करने वाले हैं। वे यदुवंशियों के संहार के उपरान्त भी अर्जुन के नेतृत्व व संरक्षण में अनेक महिलाओं को सुरक्षित स्थानों पर भेजने की योजना वनाते हैं। परन्तु सवसे अधिक आश्चर्य का विषय तो यह है कि नारी-उद्धार का नारा लगाने वाले श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष आठ-आठ विवाह करके नारी-शोषण को साक्षात् करते हैं। उस समय के राज समाज में व्याप्त भोगवाद की प्रवलता यही सिद्ध करती है कि नारी-उद्धार का कार्य थोड़ा वहुत होता अवश्य रहा, परन्तु नारी को भोग-विलास की सामग्री मानकर उसका अत्यधिक शोषण किया।

7. **राष्ट्रीयता की भावना**—पौराणिक संस्कृति में राष्ट्रीयता की भावना का संकेत तत्कालीन अश्वमेध एवं राजसूय यज्ञों की परम्परा को माना जा सकता। दशरथनन्दन राम ने केन्द्रीय शक्ति के निर्माण के लिए अश्वमेध यज्ञ सम्पादित कराया था।[2] महाभारत का इतिवृत्त पाण्डवों के राजसूय यज्ञ की सूचना प्रदान करता है। पुराणों में राजा सगर के अश्वमेध यज्ञ का विशद् वर्णन है। ये सभी यज्ञ राष्ट्रीयता की भावना के द्योतक कहे जा सकते हैं। उस समय की संस्कृति में भोगवाद, व्यक्तिवाद आदि से ऊपर राष्ट्रीयता की भावना का होना यही स्पष्ट करता है कि उस समय का समाज पर्याप्त सुसंस्कृत था। पौराणिक समाज में यज्ञों के सम्पादन के अतिरिक्त राजनीतिक एवं सांस्कृतिक या वैचारिक स्तर पर भी राष्ट्रीयता की भावना को पर्याप्त स्थान मिला हुआ था। महाभारत का अनुशासन पर्व राष्ट्रहित की भावना से भरा पड़ा है। रामायण के राम अपने सच्चरित्र के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना को ही परिपुष्ट करते हैं।

1 वाल्मीकीय रामायण, वालकाण्ड, अहिल्योद्धार प्रसंग।
2 वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड

8. समन्वय—पौराणिक अवतारवाद के रहस्य को न समझने के कारण अनेक मत-मतान्तर विकसित हो चले। वैदिक युग के देवताओं के महत्त्व में भी इस युग में पर्याप्त विकास एवं परिवर्तन हो चुका था। वैष्णवों तथा शैवों के बीच होने वाले विवादों को लेकर पुराणकारों को समन्वय का रास्ता अपनाना पड़ा। तत्कालीन समाज में कर्म, ज्ञान, भक्ति के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठता का विवाद उठ खड़ा हुआ। ऐसे विवादों की निराकृति हेतु समन्वय या समझौते का आधार ढूँढ़ा गया। अवतारवाद के रहस्य को स्पष्ट करने के लिए विष्णु और शंकर जैसी महाशक्तियों को ईश्वर के ही दो रूप मानकर विवाद को समाप्त करने की चेष्टा की गई। जिस प्रकार से एक नट अनेक रूप धारण करके अपना पाठ प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अनेक रूपों में प्रकट होने के कारण कभी ब्रह्म, कभी विष्णु तथा कभी शिव के रूप में जाना जाता है। तत्त्वत: ईश्वर एक ही है, परन्तु उसके प्रतीत्यात्मक रूप अनेक हैं। पुराणकार ने शिव पुराण में स्वयं शंकर के मुख से विष्णु और शंकर का समन्वय करते हुए लिखा है—

ममैव हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये ह्यहम्।
उभयोरन्तरं यो वै न जानाति मनो मम ॥

—रुद्र संहिता

इसी प्रकार से विष्णु पुराण में विष्णु और महादेव का ऐक्य सिद्ध करते हुए यहाँ तक कह दिया गया है कि जिस प्रकार घट में स्थित जल के दो रूपों की कल्पना निरर्थक है, उसी प्रकार ईश्वर को महादेव तथा विष्णु के रूप में अलग-अलग मानना भी असंगत है।[1] अत: महादेव और विष्णु एक ही ईश्वर के दो नाम हैं।

शिव और शक्ति का समन्वय प्रस्तुत करना भी उस समय की संस्कृति का महान् गुण रहा है।[2] शिव और शक्ति को एक-दूसरे का परिपूरक बतलाया गया है। शक्ति के बिना शिव शवमात्र रह जाता है शिव के बिना शक्ति मृतप्राय रहती है।

रामायण में आर्यों और द्रविड़ों को एकजुट करके राष्ट्रीय समन्वय प्रस्तुत किया गया है। महाभारत में कर्म, भक्ति तथा ज्ञान का अद्भुत समन्वय है। गीता में निर्गुण और सगुण ईश्वर का समन्वित स्वरूप प्रकट किया गया है। यथार्थत: विभिन्न जातियों तथा विभिन्न मत-मतान्तरों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास संस्कृति के उज्ज्वल रूप को ही प्रस्तुत करता है। पौराणिक समन्वय संस्कृति की महानतम विशेषता है।

9. सम्माननीयों का सम्मान—पुराणों में माता-पिता तथा गुरु के सम्मान के लिए सांस्कृतिक मूल्यों को स्पष्ट किया गया है। गुरु को दण्डवत् प्रणाम करने

1 विष्णुपुराण—"उभयोरन्तरं नास्ति घटस्यजलयोरिव ।"
2 शिवपुराण—एवं परस्परापेक्षा शक्तिशक्तिमतो स्थिता।
न शिवेन विना शक्तिर्न च शक्त्या विना शिव: ॥

से तथा उसके सम्मुख विनम्र जिज्ञासु के रूप में प्रस्तुत होकर रहस्यात्मक ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। गीता की यह शिक्षा आधुनिक युग में कितनी सार्थक प्रतीत होती है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

—गीता, 4/34

रामायण के राम विश्वामित्र तथा वशिष्ठ जैसे गुरुजनों का आदर करके भारतीय संस्कृति के स्वरूप को मूर्तिमान् कर देते हैं। हनुमान तथा सुग्रीव राम के चरणों में अपने आपको धन्य मानते हैं। महाभारत के सुदामा तथा श्रीकृष्ण सान्दीपनि के कमल-चरणों में रहकर अपना अहोभाग्य समझते हैं। पौराणिक मार्कण्डेय शंकर जैसे योगि-प्रवर का सम्मान करके अपने आपको प्रफुल्लित अनुभव करते हैं। गुरु और शिष्य के पवित्र सम्बन्ध, पिता-पुत्र के सम्बन्धों की पावनता, मित्रों की पारस्परिक सदाशयता तथा समाज के अन्यान्य शिष्टाचार यही स्पष्ट करते हैं कि तत्कालीन समाज में जीवन के नैतिक मूल्यों का पर्याप्त आदर था।

पौराणिक और महाकाव्य युगीन संस्कृति में वैदिक संस्कृति से यही भिन्नता रही कि उस समय का समाज देवताओं को ईश्वर के रूप में मानकर पूजने लगा तथा अवतारवाद की धारणा का अत्यधिक विकास हुआ। उस समय के समाज में ब्रह्मवाद कर्मकाण्ड के प्रपंच में जकड़ने के साथ-साथ भक्ति मार्गी प्रपंच में भी बहुत अधिक उलझ गया। वह समाज राजनीतिक वातावरण के विस्तृत होने के कारण आश्रम-व्यवस्था को आवश्यक मानकर भी तत्सम्बद्ध यथासंभव सुविधाओं का भी अभिलाषी रहा। एक मानव का दूसरे मानव के प्रति जो स्वस्थ दृष्टिकोण होना चाहिए उसे प्रस्तुत करने के लिए राम और कृष्ण जैसे महान् चरित्रनायकों को साहित्य के मंच पर खड़ा कर दिया गया। अतः पौराणिक समाज की संस्कृति में रूढ़ियों की जकड़ के बावजूद संस्कृति का विविधमुखी विकास हुआ।

पौराणिक एवं महाकाव्ययुगीन धार्मिक जीवन

पुराणों में तथा पौराणिक महाकाव्यों में तत्कालीन सामाजिकों के धर्म की विशद् विवेचना हुई है। पुराणों एवं महाकाव्यों में धर्म का स्वरूप स्मृति ग्रन्थों के धर्मशास्त्र की देन न होकर मूलतः वैदिक साहित्य के धर्मशास्त्र की देन है। पुराण एवं पौराणिक महाकाव्य वेदों की दुहाई देने वाले हैं, अतः वे उसी धार्मिक जीवन की विवेचना करते हैं, जो वैदिक साहित्य का प्रधान विषय रहा। जब छठी शताब्दी ई. पू. में बौद्ध तथा जैन धर्म भी सामाजिकों के धार्मिक जीवन पर प्रभाव डाल चुके थे तो पौराणिक प्रतिमानों ने भी वैदिक धर्म के मूल्यों को समाज के सामने प्रस्तुत करके एक विशिष्ट धार्मिक जीवन की ओर संकेत किया। तत्कालीन धार्मिक जीवन को जानने के लिए हम निम्नलिखित विन्दुओं के आधार पर विचार कर सकते हैं— (1) धार्मिक शिक्षा-पद्धति, (2) जीवन एवं संसार के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि,

(3) जगत् के नैतिक शासन में आस्था, (4) पुनर्जन्म तथा मोक्ष की मान्यता, (5) वर्णाश्रम धर्म में विश्वास, (6) ईश्वर का जन-सुलभ स्वरूप, (7) न्यायप्रियता (8) राजा और प्रजा का धर्म।

1. धार्मिक शिक्षा-पद्धति—पौराणिक युग की शिक्षा में आयुर्वेद, विज्ञान, ज्योतिष, साहित्य जैसे विषयों को अध्यापित करते समय धर्म को विशेष महत्त्व दिया जाता था। गुरु और शिष्यों के पावन सम्बन्धों को चरितार्थ करने का सम्यक् वातावरण बनाया जाता था। पौराणिक सुदामा और कृष्ण आचार्य सान्दीपनि के प्रिय शिष्य थे। महाभारतकालीन शस्त्र-विद्या के आचार्य गुरु द्रोण को कौरव और पाण्डव जितना आदर देते थे, उतना ही गुरु द्रोण का भी अपने शिष्यों के प्रति अगाध स्नेह था। परन्तु ऐसी धार्मिक शिक्षा-पद्धति के रहते हुए भी धनुर्धर एकलव्य का अगूँठा कटवा लेना, यही सिद्ध करता है कि उस समय भी विभिन्न गुरुकुलों के बीच स्पर्द्धा के फलस्वरूप पर्याप्त विद्वेष था तथा शिष्यों के बीच भी ईर्ष्या की कोई कमी नहीं थी। ऐसा होने पर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि पौराणिक धार्मिक जीवन में शिक्षा का विशेष महत्त्व था और शिक्षा-पद्धति तत्कालीन समाज को एक निर्दिष्ट मार्ग प्रदर्शित करती थी।

2. जीवन एवं संसार के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि—पौराणिक काल में जनसाधारण की यही धारणा थी कि आत्मा एक ऐसा अनुपम तत्त्व है जो जीवधारियों के शरीर में रहता हुआ भी नित्य बुद्ध एवं मुक्त है। जीवन का अस्तित्व आत्मा के ही कारण है। आत्मा के उद्धार के लिए संसार को आध्यात्म की कसौटी पर परखना होगा। जीवन में शिशु, बाल, किशोर, तरुण, प्रौढ़ एवं वृद्ध नामक छः रूपों में से गुजरता हुआ आत्म-तत्त्व उक्त सभी तत्त्वों से ऊपर है। वह न तो किसी से प्रभावित होता है और न ही यादृच्छिकतः किसी को प्रभावित करता है। उसी आनन्दमय तत्त्व को जानने के लिए हमें प्रयास करना चाहिए। तत्कालीन समाज में आत्मा की व्यापकता को महत्त्व देकर संसार को ईश्वर की लीलाभूमि तक स्वीकार किया गया। विराट् ब्रह्म-स्वरूप संसार की उपासना करना धर्म का अंग बन गया। इसी प्रधान धार्मिक जीवन के सन्दर्भ में संसार को समझने के लिए जीवन के आशावादी एवं निराशावादी पहलुओं का विकास हुआ। गीता की सांख्य, योग, वेदान्त आदि दार्शनिक विचारणाएँ यही सिद्ध करती हैं कि पौराणिक एवं महाकाव्ययुगीन समाज में जीवन एवं जगत् के प्रति एक विशेष धार्मिक दृष्टिकोण सृजित हुआ।

3. जगत् के नैतिक शासन में आस्था—पुराणों तथा पौराणिक महाकाव्यों ने पौराणिक युग के धार्मिक जीवन को प्राकृतिक न्याय या नैतिक शास्त्र की धारणा से संकलित किया। उस समय यही माना जाता था कि व्यक्ति का जन्म शुभाशुभ संस्कारों को लेकर होता है।[1] सतोगुण की अभिवृद्धि से व्यक्ति तेजस्वी, ज्ञानवान

1 तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे:।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमाना; पुन: पुन:॥ —विष्णुपुराण

एवं बलवान होता है, रजोगुण की वृद्धि के फलस्वरूप व्यक्ति व्यवहार कुशल व संसारासक्त स्वभाव का होता है, तमोगुण के प्रभाव के कारण व्यक्ति में अज्ञान उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप वह व्यसनों का शिकार बनकर दुरात्मा बनता है। यदि कोई व्यक्ति धनाढ्य है तो वह अपने पूर्व कर्मों के प्रभाव के कारण प्राकृतिक न्याय को प्राप्त करके सुखोपभोग करता है तथा दुर्बल एवं गरीब व्यक्ति अपने पूर्व कर्मों के फलों को भोगता है। इतना होने पर भी हमारा हृदय हमें शुभ कार्यों की ओर अग्रसर करता है। अतः हमें वर्तमान स्थिति को पूर्व कर्मों का फल मानकर संतोष करना चाहिए तथा भविष्यत् को सुधारने के लिए शुभ कार्यों में प्रवृत्त रहना चाहिए। अतः पुराण युगीन धार्मिक जीवन में नैतिक शासन के प्रति विशिष्ट आस्था थी।

4. **पुनर्जन्म तथा मोक्ष की मान्यता**—पौराणिक संस्कृति में जीव का पुनः पुनः जन्म लेना तथा जीव की अविद्या से मुक्ति के सिद्धान्त को धार्मिक जीवन का अंग माना गया। जिस प्रकार से व्यक्ति पुराने कपड़ों को उतारकर नए कपड़े धारण कर लेता हैं, उसी प्रकार जीवात्मा जीर्ण कलेवर का परित्याग करके नव शरीर को धारण करती है।[1] शुभाशुभ कर्मों में आसक्त रहने के कारण पुनर्जन्म का शिकार बनना पड़ता है, अतः व्यक्ति को देव-दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त करके सर्वोत्तम पुरुषार्थ—मोक्ष को पाने का प्रयास करना चाहिए। मुमुक्षा होने पर भी व्यक्ति के जीवन में धर्म की प्रधानता होती चली जाती है।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने के कारण उस समय का समाज धर्म की ओर प्रेरित हुआ। धर्म-साधना के जितने भी अष्टांक योग जैसे प्रचलित नियम थे, उन्हें आधारभूत मानकर तत्कालीन समाज का धार्मिक जीवन वैज्ञानिक दर्शनों की ओर प्रवृत्त एवं अग्रसर होता चला गया। मोक्ष की धारणा ने उस समय के धार्मिक जीवन को धर्म की सूक्ष्मताओं की ओर बढ़ाया।

5. **वर्णाश्रम धर्म में विश्वास**—पौराणिक संस्कृति में चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों को धार्मिक जीवन का आधार माना गया। उस समय का समाज अपने-अपने कर्तव्यों को वर्ण के अनुकूल निर्वाहित करके अपने धर्म को निर्वाहित समझता था। चारों आश्रमों को पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि का आधार माना जाता था। पौराणिक वर्णाश्रम धर्म वैदिकयुगीन वर्णाश्रमधर्म की भाँति विसंगतियों से पूर्ण होता हुआ भी अधिकांश समाज के धार्मिक जीवन का अंग बना हुआ था। इस विषय में हम पहले ही पौराणिक संस्कृति के स्वरूप के सन्दर्भ में विचार कर चुके हैं।

6. **ईश्वर का जन-सुलभ स्वरूप**—पुराणों में ईश्वर के दशावतार का विस्तृत वर्णन ईश्वर के सगुण रूप को प्रतिपादित करता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्ण

1. वासांसि जीर्णानि यथाविहाय नवीन गृह्णाति नरोऽपराणि।
शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयति नवानि देही। —गीता, 2/24

गोलोक या मोक्ष के वासी होने के साथ-साथ गोप-ग्वालों के भी मित्र हैं। उनका सानिध्य पाकर गोपियां धन्य हो जाती हैं तथा महाभारत युगीन कृष्ण के विराट् स्वरूप को देखकर दुर्योधन जैसे तानाशाहों के हृदय भय के कारण विदीर्ण हो जाते हैं। रामायण के राम शारीरिक गठन तथा रूप-सौन्दर्य के समुद्र होने के कारण जनसाधारण के लिए भक्ति के विषय बनते हैं। जिस निर्गुण ईश्वर को प्राय: जन-समाज समझ तक नहीं पाता है, वही ईश्वर सगुण रूप में वन्दना और अर्चना का विषय बन जाता है।

ईश्वर के सर्वग्राही स्वरूप को प्रतिपादन के कारण नवधा भक्ति[1] भी पौराणिक धार्मिक जीवन का विशिष्ट अंग बनी। उस समय का समाज ईश्वर की कथाओं को श्रद्धापूर्वक सुनने लगा, जिसे श्रवण भक्ति के नाम से पुकारा गया। ईश का गुणगान करना कीर्तन भक्ति के नाम से जाना गया। ईश्वर को याद करना 'स्मरण' भक्ति का स्वरूप कहा जाने लगा। ईश्वर की प्रतिमा की पग-सेवा को 'पाद वन्दनम्' भक्ति कहा गया। पुष्प, पत्र, दुग्ध आदि को ईश-प्रतिमा के ऊपर अर्पित करने को 'अर्चना' भक्ति कहा गया। गायन और मनन के द्वारा ईश्वर का अभिवन्दन 'वन्दना' भक्ति माना गया। ईश्वर को स्वामी के रूप में पूजना 'दास्य' भक्ति का स्वरूप स्वीकार किया गया। ईश्वर के आगे अतिविनीत भाव से अपना सर्वस्व-समर्पण करना 'आत्मनिवेदन' भक्ति का रूप स्वीकार किया। यही नवधा भक्ति जो वैदिक संस्कृति बीजमात्र थी पौराणिक संस्कृति में भव्य एवं हृदयग्राह्य स्थान प्राप्त कर सकी।

7. न्यायप्रियता—पौराणिक संस्कृति में न्यायप्रिय कार्य करने की दुहाई दी गई। न्याय की याचना करना धार्मिक जीवन का अधिकार माना जाने लगा। महाभारत में द्रोपदी कौरवों की सभा में न्याय की भीख माँगती है तथा राजा विराट् की सभा में न्याय की भिक्षा माँगती हुई अपने धर्म की रक्षा करना चाहती है। वह तो यहाँ तक कह डालती है कि जहाँ सभासदों के देखते रहने पर भी धर्म को अधर्म द्वारा तथा सत्य को असत्य द्वारा मारा या दबाया जाता है, वहाँ सभासदों को मृतक-तुल्य मानना चाहिए।[2] हम जिस प्रकार से अपने आपको पीड़ित नहीं करना चाहते, उसी प्रकार हमें दूसरों को भी पीड़ित करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।[3] जो वर्ग या देश अपनी संस्कृति को दूसरे देश के वासियों के ऊपर बलपूर्वक आरोपित करना चाहता है, वह दण्डनीय है। हमें न्यायप्रिय होने के नाते रामायण के तेजस्वी राम की भाँति अपने धर्म की रक्षा का प्रयास करना चाहिए। अत: पौराणिक संस्कृति में न्यायप्रियता धार्मिक जीवन का अंग बनी है।

1 श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ —श्रीमद्भागवत

2 यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासद:॥ —महाभारत, उद्योग पर्व, 95/49

3 श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥ —महाभारत

8. **राजा और प्रजा का धर्म**—राष्ट्र और न्याय की रक्षा करना राजा के प्रशासनिक जीवन का धर्म है। पुराणों में राजा की अयोग्यता को प्रशासनिक धर्म के विपरीत बताकर राजधर्म की आलोचना की गई है। रामायण के राम और भरत प्रजा को संतुष्ट रखना अपने धार्मिक जीवन का प्रमुख कर्तव्य समझते हैं। महाभारत में तो राजा और प्रजा के धर्म को लेकर परिस्थितिवश महाभारत भी हो जाता है। प्रजा को करों की चोरी न करके अपना धार्मिक जीवन कलुष-शून्य रखना चाहिए तथा राजा को विषयों का दास न बनकर जन-रक्षण के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक युग के समाज का धार्मिक जीवन वैदिक धार्मिक जीवन की अपेक्षा अधिक विशद दार्शनिक विचारणाओं से संयुक्त था। उस समय धर्म की ऐसी दुहाई दी गई कि व्यक्ति और समाज का प्रत्येक कार्य धार्मिक जीवन का अंग बन गया। वैदिक धार्मिक जीवन में जिस यज्ञवाद या कर्ममार्ग का बोलबाला था, वही पौराणिक काल में भक्तिमार्ग का रूप धारण करके धर्म को एक नई दिशा की ओर अग्रसर कर बैठा।

पौराणिक समाज

पुराणों तथा पौराणिक महाकाव्यों के आधार पर पुराण युगीन समाज का स्वरूप जाना जा सकता है। यह तो हम पहले ही पौराणिक संस्कृति एवं धर्म के सन्दर्भ में स्पष्ट कर चुके हैं कि पौराणिक समाज वैदिक समाज से बहुत कुछ साम्य रखता हुआ भी भक्तिवादी आदर्शों के कारण कुछ वैषम्य-पूर्ण भी था। तत्कालीन समाज की स्थिति को समझने के लिए हम निम्नलिखित बिन्दुओं का सहारा ले सकते हैं—1. वर्ण-व्यवस्था, 2. आश्रम-व्यवस्था, 3. वैवाहिक प्रणाली, 4. नारियों की स्थिति, 5. अन्धविश्वासों का बोलबाला, 6 वर्गगत संघर्ष, 7. शिक्षा का प्रसार तथा 8. समन्वयात्मकता।

1. **वर्ण-व्यवस्था**—पौराणिक संस्कृति एवं धर्म के सन्दर्भ में समाज को वर्ण-व्यवस्था के द्वारा व्यवस्थित बताया गया है। अतः उस समय का समाज अपने-अपने कर्त्तव्य को पूरा करता हुआ भाग्यवादिता का आश्रय लेकर विभिन्न कार्यों में प्रवृत्त रहता था, यही निष्कर्ष सर्वमान्य है। इस प्रसंग में हम इसी अध्याय में प्रामाणिक विवेचन कर चुके हैं। अतः उसकी पुनरावृत्ति करना कथमपि उचित नहीं है।

2. **आश्रम-व्यवस्था**—पौराणिक समाज में वैदिक समाज की भाँति आश्रम-व्यवस्था का प्रचलन था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास नामक आश्रमों के कर्म-विधान में भी पूर्वोक्त साम्य रहा। हाँ, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गृहस्थ आश्रम में याज्ञिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा भक्ति को प्राधान्य मिला। आश्रम-व्यवस्था के सन्दर्भ में पौराणिक संस्कृति में नवधा भक्ति तथा वैदिक आश्रम-व्यवस्था नामक प्रसंग मननीय हैं।

3. **वैवाहिक प्रणाली**—पौराणिक काल में बहुविवाह-प्रथा राजवंशों में प्रचलित रही। राजा दशरथ की तीन रानियाँ थी। श्रीकृष्ण ने आठ विवाह किये थे। जरासन्ध के यहाँ अनेक राजबालाओं को कैद करके रखा गया था। परन्तु तत्कालीन आम समाज में विवाह को एक परम पवित्र संस्कार—पाणिग्रहण संस्कार के रूप में माना जाता था। विवाह दम्पत्ति को जीवन-निर्वाह का एक पवित्र और सवल माध्यम प्रदान करता था। विवाह में दहेज के लिए भी स्थान था। सुदामा के विवाह में भी दहेज को स्थान मिला। राम और कृष्ण के विवाह अपार दहेज से पूर्ण रहे। राजवंश की वैवाहिक प्रणाली स्वयंवर के रूप में ही प्रचलित थी। राजा किसी राजकुमारी की इच्छा के अनुसार उसका अपहरण करने में भी संकोच नहीं करते थे। श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी को इसी रूप में परिणीत किया था।

संयोगवश यदि कोई कन्या यौन सम्बन्ध का शिकार बनती थी तो उसका जीवन भेद खुल जाने पर विषम विवाह की विभीषिका का शिकार बनता था। महाभारत मे आर्यो और अनार्यों के बीच वैवाहिक सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है। भीम ने हिडिम्बा के साथ प्रेम-परिणय करके घटोत्कच को प्राप्त किया। अर्जुन ने उलूपी नामक नाग कन्या तथा चित्रा नामक भील कन्या के साथ विवाह किया था। परन्तु ये सभी विवाह दाम्पत्य-सूत्र के उदाहरण नहीं कहे जा सकते। क्योंकि अर्जुन तथा भीम जैसे राजकुमार इन सम्बन्धों को आजीवन निर्वाहित करने की कल्पना तक नहीं कर सके। अतः पौराणिक युगीन समाज में वैवाहिक प्रणाली अनेक रूपों में विकसित थी।

4. **नारियों की स्थिति**—पौराणिक समाज में नारी को वेद पढ़ने का अथवा आत्मसाधना करने का अधिकार मिला हुआ था। परन्तु शिक्षा की दृष्टि से नारियों की स्थिति सोचनीय ही थी। कुछ उच्च परिवारों की महिलाएं ही शिक्षा प्राप्त कर पाती थीं। नारी को बहुविवाह का शिकार बनाकर शोषित किया जाता था। एक पत्नी के रहते हुए भी राजा या राजकुमार अन्यत्र अनेक प्रेम-सम्बन्ध स्थापित किया करते थे। नारी को विषय-भोग की सामग्री तक माना जाने लगा था। वेश्याओं की भी कोई कमी नहीं थी। राजकुलों में वेश्याओं का रहना प्रायः आवश्यक था। परन्तु महाभारत के पात्रों को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि 600 ई. पू. से लेकर 400 ई. पू. तक के युग में भी राजाओं ने स्त्री को मानवी के रूप में स्वीकार करके उसे सम्मान्य समझने की चेष्टा की। श्री रामचन्द्र का सीता के प्रति अगाध प्रेम नारी के सम्मान का ही सूचक है।

5. **अन्धविश्वासों का बोलबाला**—पौराणिक साहित्य की कल्पनाओं के कारण समाज में अनेक अन्धविश्वास प्रचलित हो चुके थे। उस समय का समाज पुराणों एवं महाकाव्यों के आधार पर रावण को दश मुखों वाला व्यक्ति, सहस्रबाहु को हजारों भुजाओं वाला वीर पुरुष मानने लगा था। उस समाज में विकासवाद को भ्रान्त धारणा कहकर उल्टी ही गंगा वहाई जा रही थी, सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग के क्रम को सत्य मानकर मानव की प्रगति को झुठलाया जा रहा था।

हनुमान जैसा वानर वंशी योद्धा एक वन्दर-स्वरूप देवता बन चुका था। राक्षसों के विचित्र रूपों की कल्पनाएँ समाज को पूरी तरह से गुमराह कर चुकी थीं। एक ओर वैदिक कर्मकाण्ड समाज के प्रत्येक कार्य को आच्छन्न कर चुका था तथा दूसरी ओर भक्तिमार्ग का दासता-प्रपंच समाज को एक निरर्थक ढकोसला बनाये दे रहा था। पण्डितों के उक्ति-वैचित्र्य का फल यही हो रहा था कि समाज व्यंग्य को भी वाच्य रूप में ग्रहण करके कुछ से कुछ समझ बैठा था। अतः पुराणों की अतिशयोक्ति-पूर्ण शैली ने पौराणिक साहित्य को जिस रूप में प्रस्तुत किया, वह केवल दिग्भ्रामक था तथा वामन जैसे राजाओं के ऊपर ईश्वरत्व का आरोप कुछ और ही कमाल दिखा रहा था।

6. **वर्गगत संघर्ष**—पौराणिक समाज आर्य-अनार्य, सुवर्ण-अवर्ण, कुलीन-अकुलीन वर्गों में विभक्त था। उस समय काम्बोज, यवन, शकादि के न होने पर भी आर्य और अनार्य पारस्परिक संघर्ष में रत रहते थे। ब्राह्मण देवता तरह-तरह की युक्तियाँ प्रतिपादित करके शूद्र वर्ण को शोषित करने का सफल प्रयास किया करते थे। भीलों तथा किरातों के प्रति आर्यों का दृष्टिकोण स्वस्थ एवं तर्कसंगत न था। अर्जुन से भी श्रेष्ठ धनुर्धर एकलव्य के दक्षिण हस्त का अंगूठा विद्वेष के ही कारण कटवाया गया था। केवल इतना ही नहीं, अपितु किरातों, नागों तथा भीलों की कन्याओं का वरण करके भी उन्हें दाम्पत्य-सूत्र में सुबद्ध नहीं रखा जाता था।

7. **शिक्षा का प्रसार**—पौराणिक समाज में शिक्षा के केन्द्रों में अवश्य वृद्धि हुई। मगध के शासक शिक्षा के प्रसार को महत्त्व देते थे। गीता में गुरु के महत्त्व को प्रतिपादित करके श्रद्धावान् शिष्य को ज्ञान-प्राप्ति का अधिकारी माना गया है। उस समय के समाज में शिक्षा के प्रसार के कारण सामाजिक सम्बन्धों में बहुत कुछ मृदुलता बनी। पौराणिक संस्कृति एवं धार्मिक जीवन के सन्दर्भ में यह तथ्य स्पष्ट हो चुका है।

8. **समन्वयात्मकता**—पौराणिक समाज में शैवों-वैष्णवों, आर्यों-अनार्यों के समन्वय के प्रयास भी किये। जहाँ राम का केवट एवं निषाद से प्रेम समन्वय का सच्चा उदाहरण है, वहीं राजा रामचन्द्र का शूद्रक के प्रति कठोर व्यवहार समन्वय-भंजक तथ्य जान पड़ता है। श्रीकृष्ण का जामवन्ती से परिणय आर्यों और अनार्यों का समन्वयक तथ्य है, परन्तु भीलों के द्वारा कृष्ण के रनिवास को लूटना उक्त समन्वय को परिस्थितियों की देन ही सिद्ध करता है। अतः पौराणिक समाज में परिस्थितिवश जो समन्वय स्थापित हुआ, वह भी मानव संस्कृति के अध्याय में एक अनुपम देन है।

पौराणिक समाज में वैदिक समाज की अपेक्षा अनेक कट्टरताएँ प्रवेश पा चुकी थीं। परन्तु हम पौराणिक समाज को केवल वैदिक समाज का ही विकसित रूप मान सकते हैं। पौराणिक समाज का अध्ययन करने के लिए हमें साहित्य को ही आधार मानकर आगे चलना होता है।

पौराणिक आर्थिक स्थिति

पौराणिक समाज की अर्थव्यवस्था का विकास वैदिक अर्थव्यवस्था के आधार पर हुआ, तत्कालीन समाज की आर्थिक स्थिति को जानने के लिए वर्ण-व्यवस्था के आधार पर ही आगे बढ़ा जा सकता है। उस समय के आर्थिक विकास में न केवल वैश्य वर्ग ने, अपितु समाज के समस्त वर्गों ने यथोचित योगदान किया। अतः पौराणिक रीतियों को आधारभूत मानकर विकसित होने वाले समाज की आर्थिक स्थिति मुख्यतः निम्न कार्यों एवं उद्योगों के ऊपर आधारित रही—1. पशुपालन, 2. कृषि, 3. कुटार उद्योग, 4. व्यापार, 5. आखेट, 6. शिक्षा एवं 7. सेवा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पौराणिक काल में वर्ण-व्यवस्था के प्रतिमान बहुत-कुछ पूर्ववत् बने रहे। अतः कृष्ण को गोपाल कहा जाना, बलराम को हलधर कहा जाना पशुपालन एवं कृषि को ही महत्त्व देना है। हलोत्सव राजा जनक के समय में भी मनाया जाता था तथा पौराणिक रचना-काल में भी अतः कृषि को सभी प्रकार से महत्त्व दिया गया। इस युग में फसलों में भी बहुत कुछ विकास हुआ। अन्य कार्यों की जानकारी के विषय में भी इसी अध्याय की वर्ण-व्यवस्था तथा वैदिक युगीन समाज की आर्थिक स्थिति ही द्रष्टव्य है। यथार्थतः पौराणिक काल में अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में जो भी प्रगति हुई, वह प्रायः वैदिक युग में उसी रूप में थी। इसीलिए पौराणिक काल में युद्ध के शस्त्र भाला, तलवार, धनुष-बाण आदि ही बने रहे। विज्ञान के विकास के अभाव में पौराणिक समाज की आर्थिक स्थिति में किसी प्रकार की कोई विशेष प्रगति नहीं हुई।

पौराणिक समाज के धर्म, संस्कृति एवं अर्थतन्त्र का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समाज को वैदिक मर्यादाओं में बंधकर युगानुकूल संस्कृति को अपनाना पड़ा, वह परम्परा-प्रिय होने के कारण कोई विशिष्ट विकास न कर सका। आश्रम-व्यवस्था के नियमों का अनुपालन अत्यन्त कठिन होने के कारण तथा परिस्थितियों की अनेकरूपता के फलस्वरूप पौराणिक भक्तिमार्ग अनेक रूपों में विकसित हुआ। जहाँ वैदिक संस्कृति कर्म और ज्ञान के समन्वय का उल्लेख करती हुई विकसित होती रही, वहीं पौराणिक संस्कृति भक्ति को प्रधानता देकर विकसित हुई। वस्तुतः कर्म की नीरसता तथा ज्ञान की दुराग्रहिता के फलस्वरूप जिस भक्ति-मार्ग का उदय हुआ, वह अपने आप में अत्यन्त सरस, सरल और सुबोध सिद्ध हुआ। ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी समाज को अवतारवाद के माध्यम से एकीकृत करने का श्रेय पौराणिक संस्कृति को ही है। इसीलिए गौतम बुद्ध जैसे वेद एवं ईश विरोधी महापुरुष को ईश्वर का नवाँ अवतार माना गया। 'महाभारत' एवं 'रामायण' जैसे पौराणिक महाकाव्यों का परिवर्धन पौराणिक संस्कृति का ही प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता।

बौद्ध संस्कृति
(Boddha Culture)

गौतम बुद्ध ने ईसा पूर्व छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म का जो स्वरूप निर्मित

किया, उसी को बौद्ध संस्कृति के रूप में ग्रहण किया जाता है। यद्यपि 600 ई. पू. से 400 ई. पू. के अन्तराल में बौद्ध धर्म की दो संगीतियाँ सम्पन्न हो चुकी थीं, तथापि बौद्ध धर्म का विकास आठवीं तथा नवीं शताब्दी तक अनवरत होता रहा। यहाँ हम मुख्यतः बौद्ध धर्म के मूल रूप को प्रस्तुत कर रहे हैं, जो आगे चलकर बौद्ध दार्शनिकों के हाथों में पड़कर सुसंस्कृत रूप धारण करता चला गया तथा भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के परिवेश में पहुँचकर स्वतः अधःपतित होता चला गया। बौद्ध संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले सिद्धान्त मुख्यतः इस प्रकार हैं—(1) चार आर्य सत्य, (2) क्षणिकवाद, (3) विचार-स्वातन्त्र्य, (4) आडम्बरों का विरोध, (5) निर्वाण की मौलिक मान्यता, (6) वसुधैव कुटुम्बकम् तथा (7) वर्णाश्रम धर्म पर प्रहार।

1. चार आर्य सत्य

गौतम बुद्ध ने वैदिक एवं पौराणिक मान्यताओं का पर्याप्त विरोध करने पर भी दुःखवादी सिद्धान्त को स्वीकार किया। समस्त बौद्ध संस्कृति दुःखवाद के ही इर्द-गिर्द चक्कर काटती है। बुद्ध ने दुःखों के स्पष्टीकरण तथा दुःखावरोधक तत्त्वों के प्रतिपादन हेतु चार आर्य सत्यों को प्रस्तुत किया। चार आर्य सत्य इस प्रकार हैं—(1) दुःख, (2) दुःख का समुदाय, (3) दुःख-निरोध तथा (4) दुःखनिरोधक मार्ग।

(1) दुःख—बुद्ध ने प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर दुःख के स्वरूप को समझा। व्यक्ति का जन्म, वार्धक्य तथा मरण सब दुःख-स्वरूप ही हैं। प्रियों का वियोग शोक का कारण बनता है। बौद्ध पंच उपादान स्वरूप स्कन्ध की रूप, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार एवं विज्ञान के रूप में दुःख का स्रोत मानते हैं। वस्तुतः समस्त नश्वर जगत्-व्यापार दुःख की प्रतीति कराता है। दु.ख की प्रत्यक्षानुभूति का निषेध संभव नहीं है।

(2) दुःख का समुदाय—दुःख की उत्पत्ति का मूल कारण तृष्णा है। प्रत्येक व्यक्ति अनेक सुखों तथा भोगों की ओर प्रवृत्त होता है। यही प्रवृत्ति तृष्णा है। तृष्णा के मूल में अविद्या का निवास रहता है। अज्ञान के ही कारण व्यक्ति, व्यक्ति का शत्रु बन जाता है। घोर स्वार्थों की ग्रन्थियाँ अज्ञान के ही कारण विकसित होती हैं। इसीलिए एक वर्ग दूसरे वर्ग से लड़ता है। राजाओं को तृष्णा-स्वरूप महत्त्वाकांक्षाओं को साकार करने के लिए युद्ध करने पड़ते हैं। धन की तृष्णा के कारण भाई-भाई के झगड़े होते हैं। अधिकार लिप्सा के कारण निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। व्यक्ति पराजित होकर भी विजयैषणा का शिकार बनकर पुनः संघर्षरत होता है। यही समूचा संघर्ष दुःखस्वरूप है तथा इसी के पृष्ठक्षेत्र में तृष्णा और अविद्या का निवास है।

(3) दुःख-निरोध—दुःख को दूर करने के लिए 'दुःख-निरोध' आर्य सत्य को स्वीकार किया है। यदि कारण को हटा दिया जाय तो कार्य का अभाव हो जाता है। अतः तृष्णा तथा अविद्या को दूर या निरुद्ध करना ही दुःख निरोध है। यदि व्यक्ति का जन्म ही न हो तो जन्म, वार्धक्य तथा मरण जैसे दुःखों का स्वयमेव

निरोध हो जाता है। दुःख स्वरूप संसार को दुःख निरोध का आश्वासन देना एक आशावादी दृष्टिकोण कहा जा सकता है। परन्तु आधुनिक दर्शन के अनुसार बौद्ध संस्कृति का दुःख-निरोध आशावादी न कहलाकर निराशावादी ही कहा जाएगा।

(4) दुःख-निरोधक मार्ग--बौद्ध धर्म एवं संस्कृति में अष्टांग योग को दुःख निरोधक पथ माना गया है। अष्टांग योग का क्रम इस प्रकार है—(1) सम्यक् दृष्टि, (2) सम्यक् संकल्प, (3) सम्यक् वचन, (4) सम्यक् कर्म, (5) सम्यक् जीविका, (6) सम्यक् प्रयत्न, (7) सम्यक् स्मृति तथा (8) सम्यक् समाधि। सम्यक् दृष्टि का सम्बन्ध यथार्थ दर्शन से है। व्यक्ति को अपने जीवन की यात्रा का पथ स्वतः निश्चित करना है। अतः दुःखों से मुक्ति पाने के लिए सम्यक् दृष्टि या दर्शन का होना नितान्त आवश्यक है। दूसरे व्यक्ति को आघात न पहुँचाते हुए अपने विकास के लिए विचार करना ही सम्यक् संकल्प कहलाता है। सत्य एवं प्रिय भाषण को ही सम्यक् वचन का नाम दिया गया है। सम्यक् वचन के द्वारा अनात्मक कटुतावर्धक वार्ता से बचा जा सकता है। व्यक्ति को बिना किसी रिश्वत के तथा आनन्दपूर्वक परिश्रम करने से जो कर्मानुभव होता है, वही सम्यक् कर्म का स्वरूप है। परिवार की संपोषिका तथा कलहशून्य आजीविका ही सम्यक् जीविका है। व्यक्ति द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो पवित्र एवं उत्साही कदम उठाने होते हैं, वही सम्यक् प्रयत्न के नाम से जाने जाते हैं। सदाचार को याद रखना अथवा करणीय एवं अकरणीय का स्मरण रखना ही सम्यक् स्मृति है। चित्त की वृत्तियों को रोककर स्वयं को शून्य में विलीन कर देना ही समाधि है। अतः मध्यम मार्ग को ही अष्टांग योग का स्वरूप समझना चाहिए।

बुद्ध ने समस्त कर्म-व्यापार को अष्टांग योग के अन्तर्गत रखकर कर्म की ही मीमांसा की। आचरण की पवित्रता की प्रतिष्ठापना करके समाधि की ओर प्रयाण किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध संस्कृति में पातंजल योग की भाँति अष्टांग योग को प्रस्तुत नहीं किया गया है।

2. क्षणिकवाद

बौद्ध संस्कृति अनात्मवादी है, किन्तु भौतिकवादी नहीं। बुद्ध ने आत्मा नामक स्थायी तत्त्व को कभी स्वीकार नहीं किया। क्षणिकवाद के आधार पर व्यक्ति का हित करने के लिए जो संस्कृति विकसित हुई, उसमें ईश्वर, आत्मा जैसे नित्य तत्त्वों का निषेध करके स्कन्ध, आयतन और धातु नामक तत्त्वत्रय के आधार पर आगे बढ़ा गया।

पाँच तत्त्वों—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान को 'स्कन्ध' नाम से जाना जाता है। स्कन्ध, द्वादश आयतन के अन्तर्गत ही गिना जा सकता है, क्योंकि बौद्ध दर्शन एवं संस्कृति का मूलाधार प्रतीत्य समुत्पाद है,[1] जो द्वादश आयतन का ही स्वरूप है। द्वादश आयतन का प्रारम्भ 'अविद्या' से होता है। पूर्व जन्म के पाप

1 माध्यमिक वृत्ति, पृ. 9.

पुण्य-स्वरूप कर्मों को 'संस्कार' कहा गया है। संस्कारों के वशीभूत रहकर प्राणी गर्भ में ग्राता है तथा चैतन्य को प्राप्त होता है, जिसे 'विज्ञान' कहते हैं। शारीरिक तथा मानसिक ग्रवस्थाग्रों को 'नामरूप' कहा जाता है। छः इन्द्रियों—ग्राँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा ग्रौर मन को 'षडायतन' कहा गया है। विषय-संसर्ग को 'स्पर्श' कहा गया है। सुख-दुःख तथा उदासीनता की ग्रनुभूति को 'वेदना' कहा है। वस्तु के ग्रधिकाधिक लाभ प्राप्त करने की प्रवृत्ति को 'तृष्णा' कहा जाता है। विषय की ग्रासक्ति को 'उपादान' कहा जाता है। विषयाशक्ति के कारण प्राणी का जन्म होता है तथा उसे 'भव' कहा जाता है। भविष्य कालीन जन्म को 'जाति' नाम से जाना जाता है। 'जरामरण' को बारहवाँ ग्रायतन माना गया है।

कुछ विद्वानों के ग्रायतन के बारह रूपों में छः इन्द्रियों या 'षडायतन' के साथ उनके छः विषयों—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पष्ट द्रव्य तथा धर्म को गिना है।[1] ग्रायतन के पश्चात् धातु के ग्रठारह रूपों—छः इन्द्रिय, छः इन्द्रिय विषय तथा छः इन्द्रियों ग्रौर उनके विषयों के सम्पर्कजन्य विज्ञानों को प्रतिपादित किया गया है। यथार्थतः ये सभी तत्त्व केवल 'द्वादशायतन' के ही विभिन्न रूप हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध संस्कृति या दर्शन का क्षणिकवाद जहाँ संसार को नश्वर एवं दुःख-स्वरूप सिद्ध करके समाज को निर्वाण की ग्रोर प्रवृत्त करने वाला है, वहीं इसका प्रतिपादन वैदिक मान्यताग्रों से कुछ हटकर किये जाने के कारण वैज्ञानिक नहीं बन पाया। छः इन्द्रियों की मान्यता न तो वैज्ञानिक है ग्रौर न ही इन्द्रियों के दमन के स्वरूप को भली-भाँति उजागर करती है। क्षणिकवाद की प्रतिपादना व्यक्ति को ग्रात्मा के साथ क्षणभंगुर बताकर निराशावाद को ग्रधिक व्यापक बना देती है। ग्रतः बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद दुःखवाद की वीणा बजाता हुग्रा भी व्यक्ति को दुःख-मुक्ति का सच्चा ग्राश्वासन नहीं दे पाता। यदि ग्रात्मा भी क्षणिक है तो क्षणिक तत्त्व मुक्ति का विषय किस प्रकार बन सकता है? यह समस्या विकट रूप में खड़ी हो जाती है। फिर भी क्षणिकवाद वैराग्य की भावना को संपुष्ट करता है।

3. विचार-स्वातन्त्र्य

बौद्ध संस्कृति में विचार प्रकट करने तथा विचार ग्रहण करने या धारणा निर्मित करने की ग्रावश्यकता पर बल दिया गया। वेद को स्वतः प्रमाणभूत मानकर व्यक्ति वैदिक साहित्य की मान्यताग्रों में बँध जाता है तथा उसे वैचारिक संस्कार का ग्रवसर नहीं मिलता। बौद्ध संस्कृतियों में जिज्ञासा के परितोषार्थ तर्क-वितर्क को विशेष स्थान नहीं मिला है। फिर भी बौद्ध धर्म को प्राणी के हित में मानकर उसे ग्रहण करने का ग्रनुमोदन करती है।[2] ग्रतः जो तर्क द्वारा सत्य सिद्ध हो जाता है, वही ग्राह्य होता है। बौद्ध धर्म के ग्रभ्युदय के समय जैनधर्म भी विकसित हो रहा

1 डॉ. रतिभानुसिंह नाहर : प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 148.
2 अंगुत्तर निकाय 3/7/5

था। अतः कुछ लोग जैनधर्म की दुहाई देते थे तथा बहुत से लोग वैदिक या सनातन धर्म की। इसलिए बुद्ध ने सत्य को ग्रहण करने के लिए वैचारिक स्वतन्त्रता को यथावश्यक महत्त्व प्रदान किया।

4. आडम्बरों का विरोध

गौतम बुद्ध ने वैदिक कर्मकाण्ड अथवा ब्राह्मण धर्म के आडम्बरों के विरोध में बौद्ध संस्कृति को खड़ा किया था। बौद्ध युगीन समाज में देवी-देवताओं के नाम आडम्बरों का विविधमुखी प्रचार था। इसलिए बुद्ध ने अनीश्वरवादी संस्कृति को ही जीव के उद्धार का रास्ता बताया। ईश्वर तथा आत्मा जैसे तत्त्वों के विषय में गौतम मौन रहे। बौद्ध संस्कृति में दश अव्याकृत तत्त्व हैं—

(क) संसार के विषय में—1. क्या संसार नित्य या अमर है?
2. क्या संसार या लोक अनित्य है?
3. क्या लोक सान्त है?
4. क्या लोक अनन्त है?

(ख) जीवात्मा एवं शरीर के विषय में
5. क्या जीव और शरीर एक हैं?
6. क्या जीव अन्य तत्त्व है और शरीर अन्य कोई?

(ग) निर्वाण प्राप्त कर लेने के पश्चात्
7. क्या मृत्यु के अनन्तर तथागत या बुद्ध का मुक्त रूप रहता है?
8. क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत होते भी है या नहीं?
9. क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत होते हैं?
10. क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत होते ही हैं या निश्चयतः नहीं होते?

यथार्थतः बुद्ध ने अनीश्वरवादी संस्कृति में समस्त रहस्य के ऊपर पर्दा डालने की कोशिश की। यदि निर्वाण को मानकर उसके स्वरूप के विषय में ही नहीं जाना गया तो निर्वाण की मान्यता ही असंगत है, यह सिद्ध हुआ। फिर भी धर्म और ईश्वर के नाम पर जो आडम्बर प्रचलित थे, उनके विषय में मौन साधना बहुत कुछ हितकर कहा जा सकता है।

बुद्ध ने अपने समकालीन महापुरुष महावीर की सर्वज्ञता को भी आडम्बर बताया। यदि महावीर सर्वज्ञ हैं तो वे भिक्षा माँगते समय घरों की पहचान दूसरों के माध्यम से क्यों करते हैं? यदि वे सर्वशक्तिमान् हैं तो कुत्ते को डराने के लिए दण्ड क्यों धारण करते हैं? इसी प्रकार जब गौतम के शिष्यों ने बुद्ध को ईश्वर कहा तो वे भावुकता का परिहार करने के लिए सदैव सचेत रहे। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म तथा श्रमण धर्म के आडम्बरों या भ्रान्तियों को दूर करने के लिए बुद्ध ने बीड़ा को उठाया था।

5. निर्वाण की मौलिक मान्यता

बुद्ध ने निर्वाण को अनन्त और अनुपम शान्ति का धाम न मानकर तृष्णा के बुझने की स्थिति या अवस्था माना। जब साधक के अविद्या रूपी तम-तोम का विनाश हो जाता है तो तृष्णा के अभाव में संस्कारों का कोष रिक्त हो जाता है तथा जन्म-मरण का बीज समाप्त हो जाता है। गौतम द्वारा मान्य निर्वाण कोई स्थिर शान्ति का तत्त्व न होकर जीव की मुक्ति की द्योतक अवस्था मात्र है। यथार्थतः गौतम ने स्थिर तत्त्व की धारणा के खण्डन के लिए ही निर्वाण को ऐसा स्वरूप स्वीकार किया।

6. वसुधैव कुटुम्बकम्

बौद्ध संस्कृति में समस्त मानव-समुदाय को एक ही परिवार के रूप में देखा गया है। इसीलिए गौतम बुद्ध ने बौद्ध धर्म की दीक्षा का द्वार स्त्रियों और पुरुषों के लिए समानतः अपावृत किया। बुद्ध के हृदय की अपार करुणा ने समस्त संसार को अपने परिवार के रूप में देखकर अहिंसा तथा सत्य को यथोचित महत्त्व दिया।

7. वर्णाश्रम धर्म पर प्रहार

बुद्ध ने मानव को विभिन्न वर्गों में विभाजित देखकर व्यापक विचार करके ही वर्णाश्रम धर्म का विरोध किया। ब्राह्मण वर्ग अनेक धार्मिक आडम्बरों की आड़ में जनता का शोषण कर रहा था। शूद्रों का अनवरत शोषण हो रहा था। ऐसी स्थिति में बुद्ध ने वर्णवादिता पर प्रहार किया तथा आश्रम-धर्म के नियमों को भी शिथिल एवं सरल करने पर बल दिया। बुद्ध के श्रेष्ठ प्रयासों के बावजूद समाज की वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा। हाँ, बुद्ध के प्रयत्नों से जातिवादिता का विष अवश्य कम हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध ने बौद्ध संस्कृति के निर्माण में वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध-स्वरूप ध्वज का फहराने का प्रयास किया। बौद्ध संस्कृति धर्म सिद्धान्तों की सरलता के कारण, यज्ञवाद के विरोध के फलस्वरूप, बुद्ध के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण, समानता की भावना के कारण, जनभाषा पालि के प्रयोग के कारण, प्रचार शैली की रोचकता के आधार पर, मठों तथा विहारों के निर्माण के फलस्वरूप, प्रचारकों के उत्साह तथा राज्याश्रय के कारण भारत में ही नहीं, अपितु एशिया के विशाल भू-भाग पर फैली। बौद्ध संस्कृति की सबसे बड़ी देन समानता की भावना को लाने में तथा आडम्बरों का परिहार करने में है।

बौद्ध युगीन धार्मिक जीवन

बुद्ध के समय बौद्ध संस्कृति ही बौद्ध धर्मप्र-भावित समाज के धार्मिक जीवन का आधार बनी। बौद्ध धर्म संन्यासियों के क्षेत्र में ही नहीं, गृहस्थियों के क्षेत्र में भी प्रसृत हुआ। अतः बौद्ध संस्कृति से प्रभावित लोगों का धार्मिक जीवन स्थविरों तथा महासंघिकों के जीवन के रूप में साकार देखा जा सकता है। हम बौद्ध संस्कृति के विषय में विचार करते समय बौद्ध धर्म के विषय में लगभग सब कुछ कह चुके हैं, अतः यहाँ धार्मिक जीवन के बिन्दुओं का संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा—

1. संसार के प्रति विरक्तिपूर्ण दृष्टिकोण, 2. अनीश्वरवादी मान्यता का पसार, 3. अष्टांग योग का व्यवहार, 4. धार्मिक समानता का दृष्टिकोण, 5. वर्णाश्रम धर्म का विरोध, 6. अहिंसात्मक दृष्टिकोण तथा 7. कर्म और ज्ञान का समन्वय ।

बौद्ध युगीन समाज की स्थिति

बुद्ध के समय का समाज पौराणिक भावनाओं के विरोध में सुसंगठित हुआ । अतः उस समय के समाज को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर जाना जा सकता है—

1. समाज के वर्गीकरण में नवीनता, 2. वैवाहिक स्थिति, 3. समाज में स्त्रियों का स्थान, 4. अस्पृश्यता की कमी, 5. दैनिक जीवन ।

1. समाज के वर्गीकरण में नवीनता—ईसा पूर्व छठी शताब्दी में ब्राह्मण धर्म का बोलबाला होने से बुद्ध को वर्ण-व्यवस्था की अघोर कट्टरताओं का विरोध करने के लिए विवश होना पड़ा । बुद्ध ने मुक्ति का द्वार सभी वर्गों के लिए खोला । जिसका परिणाम यह हुआ कि सभी वर्गों के व्यक्ति धर्म के समान अधिकारी बनें तथा पारस्परिक सहानुभूति का अनुभव करने लगें । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों में विभाजित समाज मानवता को समाज के वर्गीकरण में एक ठोस आधार मानने लगा । यद्यपि वर्ण तो बने रहे, तथापि विशिष्ट परिवर्तन यही परिलक्षित हुआ कि आम जन-समाज में यदि कोई उच्च वर्ण का व्यक्ति निम्न वर्ण की किसी कन्या से प्रेम करता था अथवा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करता था तो उसकी निन्दा नहीं की जाती थी । मानने मानवता के सूत्र में बँधने की विशिष्ट पहल करना सीखा ।

वर्ण-व्यवस्था में व्यवसाय की दृष्टि से भी परिवर्तन परिलक्षित हुआ । एक ब्राह्मण व्यापार करने का अधिकारी था । ब्राह्मण क्षत्रिय-वृत्ति को भी अपना सकते थे । वैश्य वर्ण कृषि, दुग्ध-व्यवसाय तथा व्यापार को करता हुआ भी उद्योगों को अपनाने में स्वतन्त्र था । समाज में उद्योग की दृष्टि से पर्याप्त लोच आ चुकी थी । समाज के औद्योगीकरण की दृष्टि से उक्त लोच महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है ।

बौद्धयुगीन समाज में शूद्र वर्ण को शुद्ध शूद्र तथा हीन वर्ग के रूप में विभाजित देखा जाता है । हीन वर्ग बहेलिया, रथकार, नाई, कुम्भकार, बुनकर, आदि के रूप में देखा जाता था । जन्म और जातिजन्य अभिमान को दूर करने के लिए बुद्ध के उपदेश समाज के वर्गीकरण में पर्याप्त नवीनताएँ परिपूरित करने वाले सिद्ध हुए । ब्राह्मण और क्षत्रिय को समान मानने की विशुद्ध परम्परा का श्रीगणेश इसी समाज से शुरू हुआ । जिस समय में सदाचार को आधारभूत मानकर समाज का वर्गीकरण किया गया, उसे हम पुराण में नव्य रूप कहें तो तर्कसंगत होगा ।

यद्यपि गौतम बुद्ध के धर्म-प्रचार के कारण समाज में एक नवीन चेतना अवश्य उत्पन्न हुई, तथापि यह कहना असंगत होगा कि बौद्धयुगीन समाज पूर्णतया नवीन समाज का दर्शन कर सका । जैसा कि हम पौराणिक संस्कृति के सन्दर्भ में

यह स्पष्ट कर चुके हैं कि उसी युग में पुराण-धर्म से प्रभावित समाज में वर्ण-व्यवस्था अनेक रूढ़ियों एवं कट्टरताओं में जकड़ चुकी थी। इसलिए बौद्ध युगीन समाज में जहाँ एक ओर नवीन समाज की संरचना पर बल दिया जा रहा था वही भिक्षुओं और भिक्षुणियों के समाज में भी जाति-पाँति का पूरा प्रभाव था। रक्त की पवित्रता के लिए सभी वर्ण सतर्कता बरत रहे थे। एक ब्राह्मण किसी शूद्र या चाण्डाल की छाया पड़ने पर अपने को दूषित मानकर स्नान करने का उपक्रम करने लगता था।

यथार्थतः बुद्धि ने गुणों के आधार पर ब्राह्मण को ब्राह्मणत्व, क्षत्रिय को क्षत्रियत्व, वैश्य को वैश्यत्व तथा शूद्र को शूद्रत्व का अधिकारी मानकर भी समस्त समाज को निर्वाणोन्मुख करने के लिए वर्ण-व्यवस्था के बन्धनों को अत्यन्त शिथिल कर दिया। बुद्ध के व्यक्तित्व ने समाज की कट्टरताओं से संत्रस्त जनता को समाज में मानवतावादी चेतना का प्रसार करके एक बार पुनः उबार लिया।

1. वैवाहिक स्थिति—बौद्ध धर्म से प्रभावित समाज में वैवाहिक स्थिति में भी कुछ लोच अवश्य आई थी। प्रायः सभी वर्ण अपने-अपने वर्ण में वैवाहिक सम्बन्ध संयोजित करते थे। यदि किसी उच्च वर्ण का व्यक्ति निम्न वर्ण की युवती से विवाह कर लेता था तो उसे निन्दनीय न मानकर धर्मानुकूल भी समझा जाने लगा था। रक्त सम्बन्ध की कट्टरताएँ अब तक प्रचलित थीं। एक ओर ऐसा वर्ग था जो वैदिक व्यवस्थाओं को पुरजोर समर्थन दे रहा था तथा दूसरी ओर वैवाहिक स्थिति में लोच लाने का प्रयास किया जा रहा था। परन्तु उच्च वर्ण के व्यक्ति का निम्न वर्ण की युवती से प्रेम भले ही निन्दनीय न रहा हो, परन्तु सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता, जबकि निम्न वर्ण के पुरुष ने उच्च वर्ण की युवती से विवाह-सम्बद्ध बनाया हो। अतः बौद्ध युगीन समाज में वैवाहिक सम्बन्धों की स्थिति में कोई सन्तोषप्रद सुधार न हुआ।

2. समाज में स्त्रियों का स्थान—बुद्ध ने स्त्रियों को मोक्ष या निर्वाण पाने का अधिकारी माना। इस प्रकार तो यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार वैदिक एवं पौराणिक समाज में स्त्रियों को मोक्ष का अधिकारी माना जाता था, उसी प्रकार बौद्ध समाज में भी उन्हें वही अधिकार प्रदान किया गया। बौद्ध समाज में एक स्त्री भिक्षुणी बनकर निर्वाण की साधना तो कर सकती थी, परन्तु स्त्री वर्ग के ऊपर लगे अंकुशों को देखते हुए पुरुष वर्ग की अपेक्षा स्त्रियों को कम आदर ही मिलता था। एक भिक्षुणी बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण करके कई वर्ष तक साधना करने पर भी सद्य दीक्षित भिक्षु के सम्मुख करबद्ध मुद्रा में खड़ी होकर सत्कार किया करती थी, परन्तु भिक्षु भिक्षुणी की प्रार्थना करने या सत्कार करने के लिए बाध्य नहीं था। बौद्ध विहार में एक भिक्षुणी स्वतन्त्र रूप से किसी भिक्षु से वार्ता नहीं कर सकती थी, जबकि भिक्षु भिक्षुणियों से वार्ते करने के लिए स्वतन्त्र थे। यदि इस तथ्य को समालोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि बुद्ध के समाज में सामाजिक मर्यादाओं का ही ध्यान न रखकर, अपितु मनोवैज्ञानिक प्रतिमानों को ध्यान में रखकर कार्य किया गया। ऐसा केवल

उस समाज में ही नहीं, अपितु आज के समाज में भी बहुत कुछ होता है। इससे हमें यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं जान पड़ता कि बुद्ध की दृष्टि में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ हीन थीं। भिक्षुओं और भिक्षुणियों को संयम रखने का जो प्रावधान था, उसे एक आलोचक मनोवैज्ञानिक स्तर पर आदरणीय ही मानेगा। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भिक्षु भी केवल व्यवस्था की दृष्टि से ही भिक्षुणियों से ही वार्ता करते थे, अनर्गल और अनावश्यक प्रलाप नहीं करता था। इसीलिए बुद्ध का यह उपदेश 'मा कामरति सन्थवं'—अर्थात् काम-वासना में रत मत होओ, कितना सारगर्भित है ?

गौतम बुद्ध स्त्रियों को अपने धर्मसंघ में दीक्षित करके प्रसन्न नहीं थे। उन्हें अपने धर्म की पावनता की रक्षा संदिग्ध जान पड़ने लगी थी। इसलिए गौतम ने अनुयायी आनन्द से कहा था—"पर जब स्त्रियों का प्रवेश हो गया है, आनन्द ! धर्म चिरस्थायी न रह सकेगा। जिस प्रकार ऐसे घरों में जिनमें अधिक स्त्रियाँ और कम पुरुष होते हैं, चोरी विशेष रूप से होती है, कुछ इसी प्रकार की अवस्था उस सूत्र और विनय की समझनी चाहिए, जिसमें स्त्रियाँ घर का परित्याग करके गृहविहीन जीवन में प्रवेश करने लग जाती हैं। धर्म चिरस्थायी न रह सकेगा···जिस प्रकार धान के खेत पर पाला पड़ जाय तो वह अधिक नहीं टिक सकता। अथवा जिस प्रकार गन्ने की खेती लाल बीमारी से जिसमें पौधों में कीड़े लग जाते हैं, मारी जाती है। उसी प्रकार आनन्द ! उस सूत्र और विनय की दशा होती है, जिसमें स्त्रियों को छोड़कर गृहविहीन जीवन में प्रवेश करने का अधिकार मिल जाय फिर भी आनन्द ! मनुष्य जैसे भविष्य को सोचकर जलाशय के लिए बाँध बनवा देता है, जिससे जल बाहर न बहने लग जाय, उसी प्रकार आनन्द भावी के लिए मैंने ये आठ कठोर नियम बना दिए हैं, जिनका पालन भिक्षुणियों के लिए अनिवार्य है; जब तक धर्म है, उन नियमों के पालन में प्रमाद न होना चाहिए।"[1]

बुद्ध गृहस्थ आश्रम के कार्यों में व्यस्त स्त्रियों का भी आदर करते थे।[2] यदि कोई गृहस्थ वैवाहिक वेला में भिक्षुओं के साथ उन्हें निमन्त्रित करता था तो वे यथासमय उपस्थित होकर वर-कन्या को आशीर्वाद दिया करते थे। बौद्ध समाज में किसी कन्या के हाथ से बने खाने की कोई मनाई नहीं थी। अतः स्त्रियों को आदर देने के लिए बौद्ध समाज रूढ़ियों से ऊपर उठकर मनोवैज्ञानिक स्तर पर कार्य करने की चेष्टा किया करता था। बौद्ध समाज में स्त्रियों की ऐसी स्थिति को व्यवस्था की दृष्टि से सोचनीय नहीं कहा जा सकता।

4. **अस्पृश्यता की कमी**—बुद्ध के मानवतावादी सन्देश को पाकर सभी मोक्ष के अधिकारी माने जाने लगे। अतः छुआछूत की भावना की निराकृति का अवसर उपस्थित हुआ। पौराणिक समाज में अस्पृश्यता का जो रूप विकसित हुआ,

1 विनयपिटक (चुल्लवग्ग) 1/1
2 सुत्तवग्ग, 1/4

उसी को दूर करने के लिए बुद्ध ने जातिगत समानता का सन्देश फूंका। परन्तु उस समय में पुराण-धर्म से प्रभावित लोग मन्दिरों में शूद्र का प्रवेश स्वीकार नहीं करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जो महिलाएँ मन्दिरों में पूजन के लिए जाती थीं, यदि वे मार्ग में चाण्डाल का दर्शन कर लें तो वे पूजन को स्थगित कर देती थीं तथा चाण्डालों को प्रताड़ना सहन करनी पड़ती थी। यदि किसी मन्दिर के प्रांगण में एकत्रित सहभोज के इच्छुक अपने बीच में किसी चाण्डाल को देख लेते तो वे उसे बुरी तरह से ताड़ित करते थे। ऐसी परिस्थितियों में जाति-पाँति की भावना को दूर करके ही समाज का संस्कार किया जा सकता था। अतः बुद्ध ने स्पृश्यता को ग्राह्य तथा अस्पृश्यता को त्याज्य बताकर समाज को समानता के मंच पर खड़ा करने की चेष्टा की।

5. दैनिक जीवन—बौद्धयुगीन समाज में व्यक्ति का जीवन कुछ कुण्ठाओं से मुक्त देखा जा सकता है। बुद्ध ने शाक्यों और कोलियों के बीच होने वाले रोहिणी नामक नदी के जल विवाद को लेकर यही शिक्षा दी कि पानी साधारण मूल्य वाला है, जबकि मनुष्य अमूल्य है। अतः मानव को अपने दैनिक जीवन को सुखी बनाने के लिए पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। बौद्ध भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों का दैनिक जीवन बौद्ध धर्म के नियमों से नियमित रहता था। प्रत्येक व्यक्ति प्रातः से लेकर सन्ध्या पर्यन्त धर्मादिक क्रियाओं से लेकर धर्म-प्रचार तक को अपने दैनिक जीवन का अभिन्न अंग मानने के लिए तैयार रहता था।

बुद्ध की शिक्षाओं ने व्यक्ति को इतना प्रभावित कर दिया था कि व्यक्ति दिन-रात निर्वाण-साधना के नियमों को ही अपनी दिनचर्या का विषय मानता था। नियमित आहार तथा नियमित विहार को दैनन्दिनी में प्रमुख स्थान प्राप्त था। धार्मिक साधना के अतिरिक्त आमोद-प्रमोद को भी महत्त्व दिया जाता था।

बौद्धकालीन समाज पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समाज में वर्ण-व्यवस्था का विरोध करके जातिगत समानता को स्थापित करने का प्रयास किया। स्त्रियों को केवल सैद्धान्तिक रूप में ही नहीं, अपितु बौद्ध संघ में दीक्षित करके निर्वाण की प्राप्ति के लिए व्यावहारिक अधिकार प्रदान किया। अष्टांग योग का पालन दैनिक जीवन को स्वस्थ और सुखमय बनाने के लिए जादू का सा काम करता रहा। जहाँ वचन के क्षेत्र में भी हिंसा का विरोध होता था तथा जहाँ व्यक्ति को दुःखी देखकर करुणा का पारावार उद्वेलित हो उठता था, हमें उस समाज की स्थिति को प्रशंसनीय ही कहना पड़ेगा।

बौद्धयुगीन आर्थिक स्थिति

बुद्ध के समाज में तो आर्थिक दृष्टि से कोई विशेष कदम नहीं उठा, परन्तु तत्कालीन समाज में कृषि, पशुपालन, व्यापार तथा उद्योग उसी प्रकार से प्रचलित रहे, जिस प्रकार कि वैदिक तथा पौराणिक समाज में। यद्यपि आर्थिक सम्पन्नता के लिए वर्णानुकूल कार्य को छोड़कर अन्य किसी कार्य को करने की छूट और स्वतन्त्रता थी, परन्तु दीन वर्ग तब भी दीन बना रहा तथा उच्च वर्ग समाज का

यथासंभव शोषण करता रहा। यहाँ हम सांकेतिक रूप में बौद्धयुगीन समाज का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त समझते हैं। तत्कालीन अर्थव्यवस्था को निश्चित करने वाले प्रमुख कार्य एवं व्यवस्था निम्नलिखित रूपों में समझे जा सकते हैं–1. कृषि, 2. पशुपालन 3. व्यापार 4. उद्योग तथा 5. शिक्षा।

1. कृषि—बुद्धकालीन समाज में कोलिय तथा शाक्यों के बीच क्षेत्रीय सिंचाई को लेकर रोहिणी नदी का जल-विवाद उठ खड़ा हुआ था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय सिंचाई को महत्त्व दिया जाता था। नदी के जल को खेतों तक ले जाने की व्यवस्था थी। कृषि में गेहूँ, धान तथा गन्ने को प्राथमिकता दी जाती थी। बुद्ध की शिक्षाओं में धान तथा गन्ने की खेती की बीमारियों का उल्लेख होने से यह निश्चित हो जाता है कि बुद्धयुगीन समाज में खेती को पर्याप्त महत्त्व मिल चुका था।

2. पशुपालन—बौद्धयुगीन समाज में दुधारू जानवरों को पाला जाता था। पशुओं को चराने के लिए हरे-भरे चरागाहों की व्यवस्था रहती थी। गाय को दूध एवं कृषि की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था। घोड़ा, बकरी, भेड़ आदि जानवरों को क्रमशः सवारी एवं दूध प्राप्त करने जैसी दृष्टियों से पाला जाता था। पशुपालन की व्यवस्था के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बौद्धयुगीन समाज में पशुपालन परम्परागत रूप मे ही रहा।

3. व्यापार– बौद्धयुगीन समाज में रेशम, मलमल, अस्त्र-शस्त्र, जरी तथा नक्काशी के कार्य से युक्त वस्तुओं, औषधिओं, आभूषणों, हाथी-दांत से बनी वस्तुओं आदि का निर्माण होता था। पड़ौसी देशों में भी इन वस्तुओं को निर्यात किया जाता था। नौका-संचालन की सुविधा होने के कारण हमारे देश के व्यापारी अनेक देशों में व्यापार किया करते थे। नदियों और समुद्रों में नौकाओं द्वारा यात्रा करके यथास्थान चुंगी देकर विभिन्न वस्तुओं का आयात एवं निर्यात किया जाता था। अतः बौद्ध-युगीन भारत में व्यापार की विशेष प्रगति न होने पर भी विभिन्न देशों से सम्पर्क अवश्य बढ़ा।

4. उद्योग—उद्योग निम्न वर्गों के हाथों में ही न होकर उच्च वर्ग की आर्थिक स्थिति को सुधारने में सहायक सिद्ध होकर विभिन्न रूपों में विकसित हुआ। बौद्ध जातियों में अठारह प्रकार के उद्योग-धन्धों का वर्णन किया है। डेविड्स ने अठारह उद्योग-धन्धों का क्रम इस प्रकार रखा है–बढ़ई, लुहार, प्रस्तरकार, बुनकर, चर्मकार, कुम्भकार, हाथी-दांत के कारीगर, रंगरेज, जौहरी, मछुए, कसाई, बहेलिया, हलवाई, नाई, माली, नाविक, टोकरी बनाने वाले एवं चित्रकार। यथार्थतः ये सभी उद्योग-धन्धे वैदिक कालीन समाज से ही प्रचलित थे। अतः उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में भी वैज्ञानिक साधनों के अभाव में कोई विशेष विकास न हो सका।

5. शिक्षा—ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग शिक्षा विभाग में कार्यरत रहकर अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने की चेष्टा करते थे। ब्राह्मण शास्त्रों की तथा क्षत्रिय

शस्त्रों की शिक्षा देकर अर्थोपार्जन किया करते थे। क्षत्रिय वर्ग ने भी इस युग में अन्य अनेक कार्य अपनाकर अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने का प्रयास किया।

समालोचनात्मक दृष्टि से देखने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि बौद्धकालीन समाज में वैदिक समाज की अर्थव्यवस्था का प्रतिदर्श ही विकसित होता रहा। जो व्यवस्था वैदिक युग में प्रवर्तित हुई थी, उसी के आधार पर भारतीय समाज कई हजार वर्षों तक आगे बढ़ता रहा। विकास की दृष्टि से देखा जाए तो यही कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी तक भारतवर्ष में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन अर्थ-तन्त्र के रूप में नहीं हुआ। अतः बुद्धयुगीन समाज वैदिक अर्थ-नीतियों के आधार पर ही विकसित हुआ।

जैन संस्कृति
(Jain Culture)

वैदिक युगोत्तर संस्कृति के क्षेत्र में अनीश्वरवादी दर्शन के आधार पर समाज का परिष्कार करने का श्रेय जैन संस्कृति को भी है। एक ओर पुराण-धर्म का प्रचार हो रहा था तथा दूसरी ओर बौद्ध एवं जैन धर्म युगान्तरकारी संस्कृति का प्रचार कर रहे थे। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर वर्धमान अथवा महावीर ने वासनाओं को जीतने के सिद्धान्त को 'जैन' नाम से पुकार जैन संस्कृति का विकास किया। यद्यपि 'जैन' शब्द का अर्थ विजेता या वासनाजयी ही है, तथापि संस्कृति के क्षेत्र में 'जैन' एक साँस्कृतिक सिद्धान्त का ही वाचक है। जैन संस्कृति को समझने के लिए जैन साहित्य के ऊपर अवलम्बित रहना पड़ता है। यहाँ हम जैन संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए निम्न विन्दुओं का सहारा ले सकते हैं—1. अहिंसा की प्रबलता, 2. त्रिरत्न, 3. विभिन्न व्रत, 4. धर्म एवं पाप का स्वरूप, 5. सरल दार्शनिक अनुचिन्तन, 6. गुण प्रधान वर्ण-व्यवस्था का समर्थन तथा 7. जातिगत समानता।

1. अहिंसा की प्रबलता—अहिंसा को चरमोन्नत रूप में स्थापित करने का श्रेय जैन धर्म को ही है। यद्यपि जैन धर्म के आचार्य प्राचीन काल से ही अहिंसा की दुहाई देते आ रहे थे तथा वैदिक धर्म में भी अहिंसा के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता था, परन्तु अहिंसा को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय वर्धमान तथा उनके अनुवर्ती आचार्यों को ही है।

जैन धर्म में वैदिक कर्मकाण्ड में होने वाली हिंसा का विरोध किया गया है।[1] मन्त्र की सिद्धि के लिए, देवता को प्रसन्न करने के लिए, यज्ञ को सम्पादित करने के लिए, अतिथि के सत्कार के लिए तथा भोजन तैयार करने में जो भी हिंसा की जाती है, उसे अहिंसा कदापि नहीं कहा जा सकता। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' सिद्धांत का विरोध करने के लिए जैनाचार्यों ने अहिंसा के पावन स्वरूप को कर्मकाण्ड के

1 मन्त्रौषधिदेवतायज्ञातिथि भोजनाद्यर्थं कृताऽपि हिंसा हिंसैव तत्फलमपि तीव्रपापसञ्चय एव
—जैनदर्शनसार, पृ. 138

क्षेत्र में भी प्रतिष्ठित किया। ऐसी हिंसा के फल को भी पुण्य न बता कर पाप ही बताया गया है।

कार्य में अरुचि दिखलाने वाला व्यक्ति अथवा प्रमादी जीव भी हिंसक होता है।[1] वह अपने भाव-स्वरूप प्राणों की हिंसा करता है। भावात्मक प्राण के हिंसित होने से चिन्ता का अतिरेक होता है तथा द्रव्यप्राण को भी आघात पहुँचता है। प्राणों के वियोग को हिंसा कहा गया है तथा उससे पापों का अनेकमुखी संचय होता है।

जैन संस्कृति में मान्य अहिंसा के कारण आर्थिक स्थिति भी प्रभावित हुई। इसके उचित समाधान के लिए जैन संस्कृति एक तर्कसंगत मार्ग प्रदर्शित करती है। मनुष्य को समाज में अस्तित्व बनाए रखने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष को समुचित रूप देने के लिए हिंसा का दो रूपों—सांकल्पिकी तथा असांकल्पिकी में विभाजित किया गया।[2] मन, वचन तथा कर्म से मच्छ्याकृत हिंसा सांकल्पिकी हिंसा कहलाती है। सांकल्पिकी हिंसा घोर पाप है। इससे समाज में अशान्ति तथा अनाचार प्रस्तुत होता है। कार्य की प्रकृतिवश न जानकर की जाने वाली हिंसा असांकल्पिकी की हिंसा कहलाती है। इस हिंसा के भी तीन भेद माने गए हैं—आरंभी, उद्योगी तथा विरोधी। चक्की, चूल्हा, ओखली, झाड़ू तथा स्नानघर से सम्बद्ध हिंसा आरंभी हिंसा कहलाती है। अतः स्वच्छता रखना मानव का धर्म है। अपने उद्योग को चलाने के लिए न्यायसंगत अहिंसक व्यापार को सुरक्षित रखने के लिए जो हिंसा होती है, उसे उद्योगी हिंसा माना जाता है। दूसरे व्यक्ति द्वारा आक्रमण किए जाने पर स्व का तथा तथा स्वजनों की रक्षा में जो हिंसा होती है उसे विरोधी हिंसा माना जाता है। जैन संस्कृति में सांकल्पिकी हिंसा को त्यागने तथा असांकल्पिकी हिंसा को जीवन-रक्षा के लिए उचित एवं उपयोगी ठहराया गया है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि जैन संस्कृति उक्त हिंसा को केवल गृहस्थियों के लिए ही उपयोगी मानती है। इसीलिए विरक्त मुनिजनों को अहिंसा की चरम स्थिति पर पहुँचाने के लिए सभी प्रकार की हिंसा को त्याज्य माना गया है।

जैन संस्कृति में अहिंसा को समाज में शान्ति स्थापित करने का सर्वोत्तम एवं एक मात्र साधन माना गया है। अहिंसा को धर्म का लक्षण तथा हिंसा को पाप का लक्षण माना गया है।[3] संसार की धात्री अहिंसा जगन्माता है, वह आनन्द की प्रगति का श्रेष्ठ मार्ग है।, वही श्रेष्ठ गति है तथा वही अविनाशी लक्ष्मी है।[4] अहिंसा समस्त मंगलों को प्रदान करने वाली है। स्वर्गदायिका है, सुखकारी है तथा दुःखों की समूल विनाशिका है।[5] अहिंसा से जन्म-मरण के भयंकर रोग से मुक्ति मिलती है।

1 प्रमत्तो हिंसको, हिंस्या द्रव्यभावस्वभावकाः।
प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा, तत्फलं पापसंचयः॥ वही, पृ. 138
2 जैनदर्शनसार, पृ. 141
3 वही, पृ. 144
4 वही, पृ. 144
5 वही, पृ. 144

अहिंसा एक उत्कृष्ट संजीविनी है तथा स्वर्गपुरी के मार्ग में पौष्टिक कलेवे के समान है।[1] अहिंसा को इतना महत्त्व देने के कारण जैन धर्म के अनुयायी मुनिजन अपने मुँह पर पट्टी बाँध कर अहिंसा की पराकाष्ठा को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। अहिंसा का मृदुल और उज्ज्वल स्वरूप जैन संस्कृति की ही महान् देन है।

2. त्रिरत्न—जैन संस्कृति में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र को 'त्रिरत्न' के नाम से पुकारा गया है। त्रिरत्न को मोक्ष का मार्ग भी कहा गया है। 'सम्यक् दर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्ष मार्गः।' यथार्थ स्थिति को प्राप्त करना ज्ञान की उज्ज्वल स्थिति है, जिसमें कर्म के सभी आवरण भस्मसात् हो जाते हैं। सभी प्रकार के आचरणों, धर्म तथा पापादि की स्थिति का दिग्दर्शन ही सम्यक् दर्शन है, जिससे व्यक्ति को अपना चरित्र उज्ज्वल बनाने का प्रशस्त पथ प्राप्त होता है, जब व्यक्ति अपने आचरण को दर्शन-सम्मत बना लेता है तो उसे कर्मावरणों से ऊपर उज्ज्वल चरित्र की प्राप्ति होती है। अतः जैन संस्कृति मानव को पूर्णतः परिष्कृत करने पर बल देती रही है, जो विकासवादी अवसर-प्रक्रिया का एक विशिष्ट अंग है।

3. विभिन्न व्रत—जैसे संस्कृति मानव-समाज को उत्तम आचरण की ओर प्रेरित करने लिए तीन प्रकार के व्रतों की प्रतिपादिका रही है। तीन व्रत इस प्रकार हैं—

1. पंच अणुव्रत, 2. गुणव्रत तथा 3. शिक्षणव्रत।

पंच अणुव्रत में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को गिना गया है। किसी व्यक्ति को पीड़ित न करके, जानवरों को यथासम्भव चारा-पानी देकर के, सम्बन्धित व्यक्तियों तथा जीवधारियों से यथोचित् काम लेकर के अहिंसा का पालन किया जाता है। कटु, निन्दनीय एवं पापपूर्ण वचनों को छोड़कर सत्य वचनों को बोलना एक महाव्रत माना गया है। किसी की वस्तु को चुराना, असली माल में नकली माल न मिलाना, यथोचित् तोलना, राजाज्ञा का पालन करना आदि को अस्तेय या अचौर्य की परिधि में गिना गया है। मन, वचन तथा कर्म से मैथुन का त्याग करना ब्रह्मचर्य माना गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने 'ब्रह्मचर्य' को अणुव्रत के अन्तर्गत नहीं गिना था। परन्तु वर्धमान ने ब्रह्मचर्य को अणुव्रत के रूप में मानकर जैन संस्कृति को चारित्रिक उज्ज्वलता का विशिष्टाधार प्रदान किया। पाँचवाँ अणुव्रत अपरिग्रह है, जिसका अर्थ है—माया-मोह में न फँसकर अपनी आवश्यकतानुसार धन का संचय करना। इस अणुव्रत के द्वारा अनावश्यक संचय को हिंसा-स्वरूप माना गया है। जहाँ एक ओर समाज दाने-दाने के लिए मुहताज हो रहा हो, वहीं दूसरी ओर अनाज के भण्डार लाभ-प्राप्ति के लिए भरे पड़े हों—उस परिग्रह वृत्ति की जैन संस्कृति निन्दा करती है।

उपर्युक्त पंच अणुव्रतों के आधार पर गुणव्रतों को भी निर्धारित किया

1 वही, । 145

गया। प्रथम गुणव्रत दिग्व्रत' दिशाओं में मर्यादित भ्रमण करने से सम्बद्ध है, जिससे पर्यटक स्वस्थ रूप से धर्म-प्रचार कर सके तथा भ्रमण का पूरा उपयोग उठा सके। दूसरा अणुव्रत—'अनर्थदण्डवत्' है, जो निरर्थक तथा पाप को उत्पन्न करने वाली वस्तुओं के परित्याग से सम्बद्ध है। तीसरा गुणव्रत—'भोगोपभोग परिमाण' है जो भोग्य पदार्थों की सीमा के निर्धारण से सम्बद्ध है।

जैन संस्कृति ने चार प्रकार के शिक्षाव्रतों का अनुमोदन किया है। प्रथम शिक्षाव्रत 'देशावकाशि' नाम से जाना जाता है, जो प्रगत्योचित दिशाओं में भ्रमण करने से सम्बद्ध है। दूसरा शिक्षाव्रत 'सामयिक' है, जो धर्मपरायण होकर चिन्तन करने से सम्बन्धित है। 'प्रोषधो पवास' तीसरा शिक्षाव्रत है, जो यथासमय उपवास करने का अनुमोदन करता है। 'वैयावृत्य' चतुर्थ शिक्षा व्रत है, जो दान करने तथा पूजाचार से सम्पृक्त माना गया है।

जैन संस्कृति के निर्माण में विभिन्न व्रतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन-दर्शन का संचालन विभिन्न व्रतों के आधार पर ही समझना चाहिए। इन व्रतों ने भारतीय समाज को विशुद्ध आचरण की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी तथा समाज में शान्ति स्थापित करने का पुनः एक अध्याय प्रारम्भ किया।

4. धर्म एवं पाप का स्वरूप—जैनधर्म में विभिन्न व्रतों के आधार पर धर्म के दश लक्षण स्वीकार किए गए हैं। 'उत्तम क्षमा' धर्म का प्रथम लक्षण है, जिसको 'क्रोध' को दूर करने की स्थिति का वाचक माना जाता है। यदि अपराधी को भी अपने प्रभाव से शिक्षा देकर क्षमाकर दिया जाए तो वह रोष को जीतने की स्थिति है तथा वही उत्तम क्षमा है। 'उत्तम मार्दव' धर्म का द्वितीय लक्षण है। इस लक्षण में अभिमान को दूर करने के कारण चित्त की मृदुलता को महत्त्व दिया जाता है। 'उत्तम आर्जव' को धर्म का तृतीय लक्षण माना गया है। इस लक्षण में हृदय की सरलता अर्थात् कुटलिता का त्याग परिगणित किया गया है। आत्मा के शुद्धीकरण को 'उत्तम शौच' कहा है, जो धर्म का चौथा लक्षण है। उत्तम शौच का सम्बन्ध माया-मोह से मुक्ति पाने से है। प्रिय, यथार्थ एवं मृदु वचनों को 'उत्तम सत्य' कहा गया है। यह धर्म का पाँचवाँ लक्षण है। इन्द्रियों को संयमित करने का नाम 'उत्तम संयम' है। इससे व्यक्ति चित्त की शुद्धि अथवा प्रत्याहार की ओर बढ़ता है। यह धर्म का छठा लक्षण है। धर्म के सातवें लक्षण 'उत्तम तप' में स्वाध्याय, प्रश्न पूछना, मनन, अभ्यास तथा धर्मोपदेश को विशिष्ट स्थान दिया गया है। प्रायश्चित, विनय, परोपकार, संयमित आहार-विहार तथा ध्यान को भी उत्तम तप की सीमा में रखा गया है। इससे व्यक्ति को जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त होता है। 'उत्तम अकिंचन' को धर्म का आठवाँ लक्षण माना गया है। उत्तम अकिंचनता का केवल आत्मिक गुणों से सम्बन्ध है। आत्मा के गुण ही व्यक्ति के सर्वस्व हैं। उनसे इतर जो कुछ है, वह व्यक्ति का नहीं है तथा आत्म-गुण के ही हैं और किसी के नहीं हैं। यही यथार्थ बोध व्यक्ति को आत्मा के स्वरूप की ओर अग्रसर करता है। इससे व्यक्ति का चरित्र परम उज्ज्वल बनता है। धर्म का व्यक्ति दशक लक्षण 'उत्तम त्याग' है, जिसमें

आकर्षक पदार्थों के त्याग के साथ-साथ वासनाओं के त्याग को भी गिना गया है। अतः जैन संस्कृति में धर्म का स्वरूप आचरण को पवित्र बनाने के लिए निर्धारित किया गया है। धर्म के दश लक्षण कुछ भिन्न रूप में धर्मशास्त्र में भी गिनाए गए हैं।[1]

व्यक्ति को अवनति की ओर ले जाने वाले तत्त्वों या पापों को जैनधर्म मुख्यतः अठारह रूपों में स्वीकार करता है। अठारह पापों का क्रम इस प्रकार है—

1. हिंसा, 2. झूठ, 3. चोरी, 4. मैथुन, 5. परिग्रह, 6. क्रोध 7. मान, 8. माया, 9. लोभ, 10. राग, 11. द्वेष, 12, कलह, 13. दोषारोपण, 14. चुगली, 15. असंयम में रति और संयम में अरति, 16. निन्दा, 17. छल-कपट तथा 18. मिथ्या दर्शन या दृष्टि।

जैन संस्कृति उक्त सभी पापों में परिहार के लिए विभिन्न व्रतों की शिक्षा देकर व्यक्ति और समाज को सांस्कृतिक धरातल पर खड़ा करने में योग्य और सक्षम सिद्ध हुई है।

5. सरल दार्शनिक चिन्तन—जैन संस्कृति के स्वरूप को निर्धारण करने में सरल दार्शनिक अनुचिन्तन का भी योगदान रहा है। कर्म के आचरणों की व्याख्या करते समय समस्त कर्म-बन्धनों का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है। उन कर्मों को 'ज्ञानावरणीय कर्म' कहते हैं, जिनसे सम्यक् ज्ञान पर पर्दा पड़ा रहने के कारण आत्मा का बोध नहीं होता। यथार्थ दर्शन के अभाव में 'दर्शनावरणीय कर्म' होते रहते हैं। जब व्यक्ति विषयाशक्ति के कारण किसी कर्म को करना प्रारम्भ करता है, परन्तु उस कर्म का फल या परिणाम दुःखद होता है, तो ऐसे कर्म को 'वेदनीय कर्म' कहते हैं। संसार में जीवित रहने के लिए जिन कर्मों को किया जाता है, उन्हें 'आयुकर्म' कहते हैं। जिन कर्मों से मानव का मनःस्तर तैयार होता है, उन कर्मों को 'नामकर्म' कहते हैं। जब व्यक्ति अपने कुल या गोत्र के वैभव के लिए कर्म करता है, तो तब उसके कर्म 'गोत्र कर्म' कहे जाते हैं। दान, पुण्यादि में बाधक सिद्ध होने वाले कर्मों को 'अन्तराय कर्म' कहा गया है। आत्मा को वैभव-विभोर या मोहग्रस्त करने के कर्मों को 'मोहनीय कर्म' कहते हैं। अतः कर्म का विवरण व्यक्ति को मुक्ति का मार्ग दिखलाने में उपयोगी कहा जा सकता है।

जैन संस्कृति आत्मा के अस्तित्त्व को स्वीकारती है तथा आत्मा ही समस्त आवरणों से मुक्त होकर कैवल्य को प्राप्त होती है। संसार में संसरण की स्थिति में आत्मा ही जीव का वाचक बनती है। सांसारिक कार्यों में रत रहने के कारण जीव को कर्त्ता तथा भोक्ता भी माना गया है। यही जीव एक चैतन्य तत्त्व के रूप में उद्भूत होता है और उसे अजर और अमर तक कहा गया है। जीव चेतना स्वरूप होने के कारण सूक्ष्म है। वह जिस शरीर में निवास करता है, उसी के परिमाण का हो जाता है। जीव को चौदह गुणस्थानों से संयुक्त माना गया है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति आत्मा के यथार्थ स्वरूप की ओर बढ़ता है, त्यों-त्यों वह कैवल्य के निकट

1 धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ —मनुस्मृति

चलता चला जाता है। केवल ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जीव कैवल्य का अधिकारी हो जाता है। जैन दर्शन में जीव को कैवल्यावस्था में भी सास्तित्व सिद्ध किया गया है। जीव और निर्वाण का सम्बन्ध बतलाकर जीव के पूर्ण परिष्कार का मार्ग ही जैन संस्कृति की चरम उपलब्धि है।

जैन संस्कृति में जड़ प्रकृति को 'अजीव' कहा है। भावात्मक प्रकृति को आस्रव, बन्ध, संवर तथा निर्जरा के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रकृत्यतीत तत्त्व कैवल्य है। इन सभी तत्त्वों की विशेष जानकारी इसी पुस्तक में जैन दर्शन के सन्दर्भ में प्रस्तुत की गई है। अतः यहाँ उनकी पुनरावृत्ति उचित नहीं है।

जैन संस्कृति में जीवन, दर्शन के प्रति भी सरल और सुबोध विचार मिलते हैं। संन्यासियों के लिए कठोर तपश्चर्या के सिद्धान्त कितने सरल रूप में रखे गए हैं। संन्यासियों के लिए बाईस चीजों को परिषद् या विषय बताकर जेय बताया गया है—(1) क्षुधा, (2) तृषा, (3) शीत, (4) उष्ण, (5) वेशभूषा, (6) याचना, (7) अरति, (8) अलाभ, (9) दंशमशकादि, (10) आक्रोश, (11) रोग, (12) मल, (13) तृणस्पर्श, (14) अज्ञान, (15) अदर्शन, (16) प्रज्ञा, (17) सत्कार-पुरस्कार, (18) शय्या, (19) चर्य्या, (20) वधबन्धन, (21) निषिद्या तथा तथा (22) स्त्री।

अतः जैन संस्कृति समाज को शान्त एवं अनुशासित रखने के लिए विशेष अनुचिन्तन के आधार पर सफलता की कुञ्जी रखने वाली है।

6. गुणप्रधान वर्णव्यवस्था का समर्थन—जैन धर्म में वर्ण व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक स्तर पर समर्थन किया गया है। कोई व्यक्ति आचरण के आधार पर ही किसी कारण किसी विशेष वर्ण का हो सकता है, जन्म के आधार पर नहीं। ज्ञानोचित् कर्म के ही कारण कोई व्यक्ति ब्राह्मण होता है, समाज की रक्षा में तत्पर रहने के कारण कोई व्यक्ति क्षत्रिय होता है, कृषि तथा व्यापार में निपुण होने के कारण कोई व्यक्ति वैश्य वर्ण का माना जाता है तथा शिल्प कार्य को स्वीकार करने के कारण कोई व्यक्ति शूद्र वर्ण का होता है।[1] यदि कोई व्यक्ति सत्य, शुचिता, तप, शील, ध्यान, स्वाध्याय आदि में रत रहता है तभी वह उच्च वर्ण को सुशोभित करता है।[2] परन्तु उच्च वर्ण में उत्पन्न होने पर अधम प्रवृत्ति का व्यक्ति उच्च नहीं माना जा सकता। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जैन संस्कृति किसी वर्ण को उच्च या निम्न रूप में स्वीकार नहीं करती। जैन संस्कृति के आधार पर व्यक्ति के गुण एवं आचार ही उसके वर्ण को निश्चित करने वाले होते हैं।

7. जातिगत समानता—जैन धर्म में सभी जातियों को मानव-जाति के रूप में एकीकृत किया गया है। मानव, पशु, पक्षी आदि जातियां हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इत्यादि वर्ण या जातियां आचारगत जातियां हैं। जैन धर्म में ब्राह्मणवाद के इस तर्क का खण्डन किया है कि यदि कोई ब्राह्मण शूद्र का अन्न खाता

1 जैनदर्शनसार, पृ 150
2 वही, पृ. 151

है तथा शूद्र से सम्पर्क रखता है तो वह इस जन्म में शूद्रत्व को प्राप्त होता है तथा आगे के जन्म में कुत्ता बनता है।[1] जातिमात्र से कभी धर्म की उपलब्धि नहीं होती। जिसमें गुणों की कमी है, वह उच्च जाति का होने पर भी नीच है और जिसमें गुणों की प्रधानता है, वह नीच वर्ण का होने पर भी महान् है।[2] शुभ और अशुभ आचरण के भेद के ही कारण जाति भेद की कल्पना की गई है। अतः मानव-जाति के विभिन्न रूपों को पृथक् जाति नहीं कहा जा सकता।

यथार्थतः जैन संस्कृति उच्च और निम्न के भेद को दूर करने के लिए ही विनिर्मित हुई। अतः समाज को संस्कारित करने के लिए मानवतावादी जीवन-दर्शन के आधार पर जो भी तत्त्व-प्रतिपादन हुआ, उसी को जैन संस्कृति से प्रभावित होकर जो धार्मिक जीवन बना, हम उसे भी संस्कृति के विवेचन के माध्यम से ही स्पष्ट कर चुके हैं।

जैनयुगीन समाज में अर्थव्यवस्था के ऊपर बौद्धकालीन तथा पुराणयुगीन समाज एवं आर्थिक स्थिति के प्रसंग में प्रकाश डाला जा चुका है। अन्तर केवल इतना ही है कि जैनयुगीन समाज जातिगत समानता को लेकर विकसित हुआ तथा पुराण-प्रेमी समाज वर्ण-व्यवस्था को लेकर। आर्थिक अवस्था की दृष्टि से तत्कालीन समाज में कोई हेर-फेर नहीं हुआ। अतः 600 ई. पू. से लेकर 400 ई. पू. तक के युग के समाज में अर्थतन्त्र के विषय में पुनरावृत्ति करना कदापि ठीक नहीं है।

धर्म की भारतीय अवधारणा
(Indian Conception of Religion)

भारत के मनीषियों ने मानव-समाज को मर्यादित रखने के लिए 'धर्म'[3] नामक तत्त्व का आविर्भाव किया। जो तत्त्व मानव-जीवन में सदैव धारणीय है, उसी को धर्म कहा गया। जिससे मानव का परम हित हो, वही सत्य है—वही धर्म है।[4] अतः भारतीय संस्कृति के आधार पर धर्म का निष्कर्ष निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसका स्वरूप सांस्कृतिक इतिहास के सन्दर्भ में स्पष्ट किया जा चुका है—

1. धर्म की दार्शनिक अवधारणा
2. धर्म और वर्ण-व्यवस्था
3. धर्म और आश्रम-व्यवस्था
4. धर्म और वैवाहिक स्थिति
5. धर्म और नारी
6. धर्म और अर्थोपार्जन
7. धर्म और कर्त्तव्यपरायणता
8. धर्म और सुखभोग

1 वही, पृ. 152
2 वही, पृ. 150
3 धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौचं इन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ —मनुस्मृति
4 यद् भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम॥ —महाभारत

9. वसुधैव कुटुम्बकम्
10. धर्म और राष्ट्रीयता की भावना
11. समन्वयात्मकता

धर्म के स्वरूप का विवेचन करते समय भारतीय मनीषियों की दृष्टि आध्यात्मिक एवं भौतिक पहलुओं पर भली-भाँति टिकी रही। वे दोनों पहलुओं के सन्तुलन पर सदैव बल देते रहे। भारतीय धर्म ईश्वर के सगुण-निर्गुण रूपों को लेकर इतना विस्तृत हो गया कि समय-समय पर उसमें अनेक आडम्बर प्रविष्ट हो गए। विभिन्न आडम्बरों को दूर करने के लिए बौद्ध तथा जैन धर्मों का उदय हुआ। परिणाम यही हुआ कि भारतीय धर्म ईश्वर को न मानकर भी त्रिविध दुःख को दूर करने के लिए पुरुषार्थ-चतुष्टय के आधार पर धर्म के स्वरूप को संयोजित रखते हुआ प्रस्तुत हुए। विभिन्न जातियों, परम्पराओं, मत-मतान्तरों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप भारतीय धर्म में समन्वय की भावना का सर्वाधिक महत्त्व बना रहा। निष्कर्षतः यही कहना उचित है कि भारतीय धर्म समाज के सर्वांगीण विकास के लिए विशिष्ट अनुशासन को स्थापित रखने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाहित करता रहा, जिसकी स्वरूप-साधना में विभिन्न विद्वानों ने सामयिकता के आधार पर यथासमय परिष्कार भी किया।

7 ऐतिहासिक अवशेषों का इतिहास

(मौर्यकाल से 12वीं शताब्दी तक)

(Historical Ruins of Ancient India)

हमारे देश में सिन्धु घाटी की सभ्यता के परिचायक कुछ अवशेषों के अतिरिक्त मौर्यकाल तक कोई भी नमूना उपलब्ध नहीं है। अतः भारतवर्ष में ऐतिहासिक तथ्यों को सुरक्षित रखने का कलापरक श्रीगणेश मौर्यकाल से ही हुआ। वस्तुतः ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर हिन्दू शासन बारहवीं शताब्दी तक बना रहा। इसलिए मौर्यकाल में अशोक, शुंग काल में पुष्यमित्र, कुषाण काल में कनिष्क, गुप्तकाल में समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य आदि राजा तथा तत्पश्चात् हर्ष से लेकर पृथ्वीराज एवं जयचन्द जैसे पूर्व मध्यकालीन राजाओं के संरक्षण में जो भी कलागत उन्नति हुई, उसके अवशेष आज तक सुरक्षित हैं। हम यहाँ प्राचीन भारत के मन्दिरों, स्तूपों, दरीगृहों तथा तथा विभिन्न कलाओं को ऐतिहासिक अवशेषों के रूप में ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से प्रस्तुत कर रहे हैं।

मौर्ययुगीन कला एवं ऐतिहासिक अवशेष

चन्द्रगुप्त मौर्य ने ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में मौर्य शासन की स्थापना की। उसका शासन संघर्ष की विभीषिका बना रहा, इसलिए उसके राज्य में कोई विशिष्ट कला विकसित नहीं हुई। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के शासन-काल में भी किसी प्रकार का कलात्मक विकास नहीं हुआ। अतः ऐतिहासिक अवशेषों के आधार पर यही माना जाता है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अनेक स्तूपों, स्तम्भों, गुफाओं एवं आवासीय भवनों का निर्माण कराया। मौर्य काल में सारनाथ का स्तम्भ तथा सांची का स्तूप नामक उल्लेखनीय ऐतिहासिक कलाकृतियों का अवतरण हुआ।

अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रचार के लिए अनेक स्तूपों का निर्माण कराया। जनश्रुति के अनुसार अशोक ने 84,000 स्तूपों का निर्माण कराया था। चीनी यात्री ह्वेनसांग (छठी-शताब्दी) ने अशोक द्वारा बनवाये गए स्तूपों की बड़ी संख्या का उल्लेख किया है। 2300 वर्ष की अवधि में स्तूपों का विनष्ट हो जाना स्वाभाविक है। परन्तु आज सांची का स्तूप ही ऐतिहासिक अवशेष के रूप में

अवशिष्ट है । अशोक के शासन काल में तीस से चालीस तक स्तम्भ भी बनाए गए जिनमें आज सारनाथ का स्तम्भ ही ऐतिहासिक अवशेष के रूप में विद्यमान है । कला की दृष्टि से ईंटों या पत्थरों से बने हुए ठोस गुम्बदों को स्तूप कहा जाता है । नीचे से मोटे, बीच में पतले तथा ऊपर से कुछ बड़े आकार वाली मीनारनुमा आकृति को स्तम्भ कहा जाता है । गुफाओं में चित्रों को खुदवाना गुफागत कलाकृति का नमूना होता है । संन्यासियों या धर्म-प्रचारकों के लिए जो भवन बनवाए गए, उन्हें मौर्य युग में आवासीय भवनों के नाम से जाना गया ।

सारनाथ

पूर्वी उत्तर प्रदेश में वाराणसी के निकट सारनाथ नामक स्थान है । इसी स्थान पर सम्राट् अशोक ने 'सारनाथ' नामक स्तम्भ का निर्माण कराया था । ईसा पूर्व तीसरी शती में निर्मित सारनाथ का स्तम्भ आज जीर्ण-शीर्ण स्थिति में ऐतिहासिक अवशेष के रूप में सुरक्षित है । सारनाथ स्तम्भ के निर्माण में निम्नलिखित कलागत वैशिष्ट्य के दर्शन होते हैं—

1. ध्वज या स्तम्भ का तना बिल्कुल सादा और चिकना है । इसकी चमक देखते ही बनती है ।

2. स्तम्भ का अण्ड या गला जो गोलाकार है, अनेक धार्मिक प्रतीकों—चक्र, पशु-पक्षी, लता-पुष्पादि से सुसज्जित है । प्रतीकों की रचना पृथक्-पृथक् रूप में दर्शनीय है ।

3. सबसे ऊपर स्तम्भ का शीर्ष भाग, जिसमें वृषभ, सिंह, हस्ति तथा अश्व की मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर रूप में बनी हुई हैं ।

4. स्तम्भ का निर्माण एक ही पत्थर से हुआ है । पत्थर की काट-छाँट तथा पालिश को देखकर ऐसा भ्रम होता है कि मानो स्तम्भ का निर्माण धातुओं के सम्मिश्रण से किया गया है । स्तम्भ का निर्माण चुनार के बलुआ पत्थर से किया गया है ।

5. स्तम्भ पर पशुओं की जो आकृतियाँ खुदी हुई हैं, उनकी सजीवता प्रशंसनीय है । दर्शकों को उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वे उनसे वार्ता करने के लिए तैयार हैं । मौर्य युग के कलाकार का प्रकृति से प्रेम इसी रूप में प्रकट हो जाता है कि कलाकार पशुओं की मूर्तियाँ बनाते समय अपने हृदय को ही अवतीर्ण कर देते थे ।

6. स्तम्भ का निर्माण स्थानान्तरणीय कलाकृति के रूप में हुआ है । मौर्य-युगीन स्तम्भों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता था, जिसका ज्वलन्त उदाहरण सारनाथ का स्तम्भ है ।

7. सारनाथ का स्तम्भ भारतीय संस्कृति के समन्वय का द्योतक है ।

सारनाथ स्तम्भ में प्रतीक-योजना—सारनाथ स्तम्भ के मध्य भाग में चक्र, पशु-पक्षी, लता-गुल्म आदि चित्रित हैं । स्तम्भ के शिरोभाग में सिंह, अश्व, हस्ति

तथा वृषभ की मूर्तियाँ सुसज्जित हैं। इन सभी प्रतीकों के पीछे भारतीय संस्कृति छिपी हुई है, जिसका यहाँ संकेत किया जा रहा है।

स्तम्भ में चक्र को स्थान देना निरन्तर उन्नति का प्रतीक है। जिस प्रकार से चक्र घूमता रहता है, उसी प्रकार संसार का चक्र जन्म, वृद्धि तथा क्षय के क्रम से सदैव उन्नति की ओर विकसित रहता है। इसी प्रतीकावस्था को प्रकट करने के लिए धर्मशास्त्र में बताया गया है—'जन्मवृद्धिक्षयैः नित्यं संसारयति चक्रवत्।' जिस प्रकार से संसार का चक्र सदैव चलता है, परन्तु उसके रहस्य को समझने वाला व्यक्ति जन्म, वृद्धि तथा क्षय जैसी शारीरिक अवस्थाओं के आधार पर वीतराग या तृष्णा-मुक्त होकर धर्म-चक्र की विजय का आदर्श प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार स्तम्भ का चक्र भारतीय संस्कृति की गहनताओं को प्रकट करने के लिए धर्म के राज्य का आदर्श प्रस्तुत करता है।

स्तम्भ में चित्रित एवं मूर्तिमान् पशु-पक्षियों की सजीवता यही सिद्ध करती है कि मानव समुदाय के बीच पशु और पक्षियों का समुदाय विद्यमान रहकर उसे जैविक समुदाय के समन्वय का पाठ पढ़ाता है। 'एकाकी न रमते'—अर्थात् अकेला व्यक्ति आनन्दित नहीं रह सकता, अतः मानव को पशु-पक्षियों के समुदाय को अपने जीवन में यथेष्ठ स्थान देकर समन्वयवादिता को अपनाना चाहिए तथा आनन्द की अनुभूति को विकसित करना चाहिए।

स्तम्भ में चित्रित लताएँ तथा गुल्म भारतवर्ष की शस्य-श्यामला भूमि की ओर संकेत करते हैं। हमारे देश की वनस्पति सदैव हरी-भरी एवं अपार बनी रहे तथा मानव-समुदाय के विकास को द्योतित करती रहे, यही लता-गुल्म के चित्रण में छिपे प्रतीक का रहस्य है।

सारनाथ का स्तम्भ सिंह, हस्थि, अश्व तथा वृषभ की मूर्तियों से अलंकृत है। सिंह वीरता और साहस के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। हस्थि समृद्धि के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत हुआ है। अश्व कार्य-गति का तथा वृषभ धर्म के प्रतिनिधि या प्रतीक का द्योतक है। वस्तुतः यह सब प्रतीक योजना भारतीय संस्कृति के रहस्य को स्पष्ट करने के लिए ही संयोजित की गई है।

सारनाथ का स्तम्भ-लेख—बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए सम्राट् अशोक को सारनाथ के स्तम्भ पर लेख भी उत्कीर्ण कराया, जो इस प्रकार है—'देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार आदेश देते हैं कि……पाटलिपुत्र …कोई संघ में फूट न डाले। जो कोई चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, संघ में फूट डालेगा उसे सफेद कपड़े पहनाकर उस स्थान पर रख दिया जाएगा, जो भिक्षु-भिक्षुणियों के योग्य नहीं है। इस प्रकार हमारा यह आदेश भिक्षु-संघ और भिक्षुणी संघ को सादर बता दिया जाए। 'देवानां प्रिय' इस प्रकार कहते हैं—इस प्रकार का एक लेख (आपके) संसरण (कार्यालय) मे भेज दिया गया है जिससे कि वह आपको सुगम हो। ऐसा ही एक लेख आप लोग रख छोड़ें जो उपासकों के लिए सुगम हो और ये उपासक प्रत्येक उपवास दिवस पर आएँ, जिससे कि वे इस आदेश को समझ सकें और जब प्रत्येक

महामात्र बारी-बारी से उपवास-दिवसों पर उपवास के लिए आए तब वह भी इस आदेश के मर्म को समझ ले और जहां तक आपका अधिकार है, वहां-वहां आप इस आदेश के प्रचार हेतु दौरा करें। इसी प्रकार आप लोग सब दुर्गीकृत नगरों और सब विशयों (प्रान्तों) में (अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा) दौरा करवा कर आदेश का) प्रचार करवाएँ।"

सारनाथ का पाषाण-स्तम्भ अशोक के स्तम्भों में अद्वितीय सौन्दर्य-युक्त माना जाता है। मार्शल महोदय ने इस स्तम्भ के सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है—"सारनाथ का स्तम्भ निश्चयतः एक आदर्श प्रतिदर्श या नमूना है, जो ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की सुविकसित कला का परिचायक है तथा साथ ही यह भी संकेत देता है कि उससे पूर्व अनेक पीढ़ियों की परम्परा में कलागत विकास हो रहा था।"[1]

यथार्थतः सारनाथ का स्तम्भ कलागत सौन्दर्य का साक्षी होकर कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों को भी प्रकट करने वाला है, जो प्राचीन भारत के विवादों को निर्मूल करने में समर्थ है। सारनाथ का स्तम्भ स्थापत्य कला का अद्भुत नमूना है। एक ही पत्थर को काट-छांटकर कला और संस्कृति के समन्वय का साक्षात् स्वरूप सारनाथ का स्तम्भ सहज रूप में प्रशंसनीय है। सारनाथ का स्तम्भ अशोक के धर्म के सार स्वरूप ही जान पड़ता है।

मौर्ययुगीन अन्य ऐतिहासिक अवशेष—सम्राट् अशोक ने मध्य प्रदेश में सांची का स्तूप बनवाया था, जो ईंटों का ही बना हुआ था। गुम्बदाकार इस स्तूप का विकास अशोक के पश्चात् हुआ, जिसका हम आगे वर्णन करेंगे। प्रयाग का स्तम्भ जो पहले कभी कौशाम्बी में निर्मित किया था, सारनाथ के स्तम्भ के प्रतिदर्श को लेकर ही बनाया गया है। अशोक के स्तम्भों तथा स्तूपों पर एक से ही लेख उत्कीर्ण हैं। अशोक ने अनेक गुहा-गृहों का निर्माण कराया था, जो आज भी नागार्जुन की पहाड़ियों में सुरक्षित हैं। इन दरीगृहों की दीवारें इतनी चिकनी हैं कि शीशे की दीवार के समान सुन्दर और चमकदार प्रतीत होती हैं। पर्वतों को काट-काटकर गुहा-गृहों के निर्माण की कला ने गुप्त युग में अजन्ता और एलोरा की कला को भी प्रभावित किया। ऐसे गुहा-गृहों में भिक्षु लोग निवास करते थे।

अशोक ने पाटलिपुत्र में अपना राजप्रासाद बनवाया था, जिसे देखकर पांचवीं शताब्दी में आने वाले चीनी यात्री फाह्यान को यहां तक कहना पड़ा कि "यह भवन मानवकृत न होकर देवकृत है। पत्थर चुनकर दीवारें और द्वार बनाए गये हैं। उन पर सुन्दर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के मनुष्य उन्हें नहीं बना सकते। वे अब तक नए के समान हैं।"

1 "The Sarnath capital, on the other hand, though by no means a masterpiece, is the product of the most developed out of which the world was cognisant in the third century B. C.—the handwork of one who had generations of artistic effort and experience behind him"

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने 84000 स्तूप तथा अनेक गुहा-गृहों का निर्माण कराया था परन्तु कालक्रम के फलस्वरूप आज मौर्य युग के कुछ ही ऐतिहासिक अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। इन अवशेषों की कला के विषय में वी. ए. स्मिथ ने ठीक ही लिखा है—"निर्माण, स्थानान्तर और स्थापना मौर्ययुगीन शिल्प आचार्यों और शिला तक्षकों की बुद्धि एवं कुशलता का अद्भुत प्रमाण प्रतिष्ठित करते हैं।"

शुंगयुगीन कला एवं ऐतिहासिक अवशेष

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में पुष्यमित्र शुंग तथा अग्निमित्र जैसे शुंगवंशी राजाओं ने मौर्ययुगीन कला को एक नया मोड़ दिया। मौर्ययुगीन कला धर्म-प्रचार के लिए उत्कृष्टता को प्राप्त हुई थी, परन्तु शुंगयुगीन कला में जनता के बौद्धिक, मानसिक तथा सामाजिक जीवन को चित्रित करने का अभूतपूर्व प्रयास किया गया।[1] शुंगयुगीन कला गौतम बुद्ध के विभिन्न रूपों को प्रतीक रूप में—स्तूप, धर्मचक्र, पदचिह्न तथा छत्र आदि के रूप में ही प्रदर्शित करती रही, न कि शारीरिक अवस्था में। मौर्ययुगीन कला की लकड़ी तथा ईंटों के स्थान पर पाषाण का प्रयोग भी शुंगयुगीन कला की एक उल्लेखनीय विशेषता है। शुंगकाल में भरहुत, बोध गया तथा सांची कला के केन्द्र रहे। इन तीनों ही स्थानों पर शुंगयुगीन राजाओं के स्तूप बने हुए हैं, जिनका ऐतिहासिक अवशेषों के रूप में वर्णन किया जा रहा है।

भरहुत-स्तूप—भरहुत का स्तूप ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में सम्राट् अशोक ने सामान्य रूप में निर्मित कराया था। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में शुंगवंशी राजा पुष्यमित्र ने इस स्तूप को वृहदाकारता प्रदान कराई। आजकल यह ऐतिहासिक अवशेष के रूप में कलकत्ता के संग्रहालय में सुरक्षित है। शुंगयुग में भरहुत स्तूप का आकार तो मौर्ययुगीन स्तूप के आकार की भाँति ही रहा, परन्तु इसके चारों ओर 7 फीट ऊँची चहारदीवारी निर्मित की गई। इस चहारदीवारी में चार तोरण-द्वार निर्मित किये गये, जो स्थापत्य कला के सुन्दर प्रतिदर्श हैं। स्तूप के तोरण-द्वारों पर देवी-देवताओं, संतों तथा यक्षों की मूर्तियां धार्मिक भावनाओं और विश्वासों को, वेशभूषा तथा शिष्टाचार सम्बन्धी व्यवहारों को सूचित करती हैं। इन मूर्तियों में सजीवता झलकती है। उनको देखकर दर्शक भारत के जनसाधारण की मानसिकता की स्पष्ट सूचना मिलती है। प्राचीन भारत के जीवन की आशावादिता ऐसी ही मूर्तियों के अंकन से प्रतिबिम्बित होती है, जो भारतीय दर्शन के निराशावादी स्वर को तिरोहित करती जान पड़ती है।

भरहुत स्तूप के तोरण-द्वारों पर पशुओं एवं वृक्षों के भी चित्र हैं, जो बौद्ध कलाकारों की इस मनःस्थिति को सूचित करते हैं कि वे प्रकृति के कितने अनुरागी

1 "It reflects more of the mind, than Mauryan art was capable tradition and culture-ideology of doing the larger section of the people."
—*Dr. N. R. Ray*

थे। लताओं और गुल्पों को तोरणों के ऊपर उट्टंकित करने वाले कलाकारों का हृदय उन चित्रों में साकार जान पड़ता है। भरहुत की स्थापत्य कला में कोई नया आकर्षण जान नहीं पड़ता। अनेक मूर्तियाँ एक-दूसरे से असम्बद्ध जान पड़ती हैं तथा उनकी भावशून्यता भी ग्राह्य है।[1] भरहुत के स्तूप के चित्रों को देखने से पता चलता है कि उस समय मानव जीवन की आचारगत गहराइयों को चित्रित करने का अधिक प्रयास किया जाता था। इस विषय में प्रोफेसर कुमार स्वामी का कथन दर्शनीय है—"भरहुत-स्तूप में चित्रांकन न तो आध्यात्मिक है और न ही नीतिशास्त्रीय, अपितु वह तो मानव-जीवन के समग्र आचार का प्रदर्शक है।" इस स्तूप को शुंगयुगीन सिद्ध करने में 'सुगनं रजे' उट्टंकित पदबन्ध सहायक सिद्ध हुआ है। 'सुगनं रजे'—अर्थात् शुंगों के राज्य में ही इस स्तूप का निर्माण हुआ। अतः भरहुत ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का एक ऐसा ऐतिहासिक अवशेष है जो मानव जीवन के आचार और कला-प्रेम का परिचायक है।

बोध गया का स्तूप—बिहार प्रान्त के गया नामक स्थान पर ही बोध गया स्तूप निर्मित कराया गया था। बोध गया का स्तूप भी भरहुत के स्तूप की भाँति शुंगयुग में बनवाया गया। इसकी चहारदीवारी आज तक सुरक्षित है। इस स्तूप की स्थापत्य मूर्तियों में भावशून्यता के स्थान पर भाव-प्रवणता है। भरहुत की स्थापना कला में सामूहिक चित्रों की प्रधानता थी जो कि बोध गया के स्तूप में दिखलाई नहीं पड़ती। इस स्तूप के ऊपर जो कुछ भी उट्टंकित है, उससे कथानक की सांगोपांगता स्पष्ट नहीं होती।

साँची का स्तूप—सम्राट् अशोक ने ही साँची का स्तूप बनवाया था, जिसका विस्तार शुंगयुगीन राजाओं ने कराया। मौर्ययुगीन स्तूप साधारण कोटि के होते थे। वे ईंटों के बने होते थे। कच्ची ईंटें विशेष माप—16″ × 10″ × 3″ की होती थीं। स्तूप की बाहरी सतह के ऊपर मोटा प्लास्टर कर दिया जाता था और फिर उसके ऊपर आकर्षक रंग कर दिया जाता था। स्तूप के ऊपर कभी-कभी पत्थर की बनी हुई छत्रयष्टि स्थापित की जाती थी। कभी-कभी तो स्तूप को तोरणों तथा पताकाओं से सुसज्जित किया जाता था। स्तूप के चारों ओर धर्म की दृष्टि से प्रदक्षिणा-पथ भी निर्मित किया जाता था। शुंगयुगीन स्तूपों में धर्म के स्थान पर आचरण की प्रधानता को स्थान दिया गया तथा स्तूपों को विशालाकार भी बनाया गया। साँची में अशोक का स्तूप छोटे से आकार का था, परन्तु शुंगकाल में इसका आकार 54 फीट ऊँचा तथा 120 फीट के व्यास का हो गया था। स्तूप के चारों ओर 16 फीट ऊँचा एक चबूतरा भी बनवाया गया। इस चबूतरे के ऊपर चढ़ने के लिए दक्षिण की ओर सीढ़ियाँ बनाई गईं। स्तूप के ऊपर वर्गाकार वेदी की स्थापना की गई। इस वेदी में 9-9 फीट के स्तम्भ हैं, जो दो-दो फीट की दूरी पर खड़े हुए

1 "The meticulous care to play in the scenes, and are with which the details are exhence without any expression." —*Dr. S.K. Saraswati*

हैं। इन स्तम्भों को जोड़ने वाले लम्बवत् तीन-तीन डण्डे की चौड़ाई दो फीट की है। दो डण्डों के बीच में पौने चार इन्च का फासला है। स्तूप के ऊपरी भाग में स्थित वेदी के भीतर एक आधारपृष्ठिका बनाई गई है जिसके ऊपर छत्रयष्टि को खड़ा किया है। वेदी की विशालता को प्रभावोत्पादकता का केन्द्र कहा जा सकता है।

साँची-स्तूप में चार तोरण हैं। प्रत्येक तोरण सीधे खड़े दो-दो स्तम्भों के ऊपर बना है। तोरण स्तम्भ की ऊँचाई 15 फीट की है। साँची स्तूप की कला अनेक परम्परागत विशेषताओं से परिपूर्ण दिखलाई पड़ती है। मौर्य युग में लकड़ी की निर्माण-प्रणाली थी, जो शुंगकाल में पत्थर के ऊपर प्रयुक्त कर दी गई। अतः लकड़ी को जोड़ने की भाँति पत्थरों को जोड़कर साँची का स्तूप एक नये रूप में निर्मित किया गया। फिर भी साँची का स्तूप वास्तुकला की दृष्टि से उच्च कोटि का नहीं है।[1] स्तूप के ऊपर जो स्थापत्य की मूर्तियाँ नियोजित की गई हैं वे उच्च कोटि की हैं। द्वारों के ऊपर मूर्तियों के माध्यम से जो अलंकरण हुआ है, वह दर्शनीय है। पशु-पक्षियों, लता-गुल्मों, यक्ष-यक्षणियों आदि की मूर्ति प्राणवत्ता को लिये हुये है, जो तत्कालीन कलाकारों के प्रकृति-प्रेम को अभिव्यंजित करती हैं।

साँची का स्तूप साम्प्रदायिकता अथवा धार्मिकता का परिचायक नहीं है। इसमें बौद्ध धर्म के कथानक अवश्य मिलते हैं, परन्तु वे गौण हैं। इस स्तूप में जिस वनस्पति का चित्रण हुआ है, शहर के जिस वातावरण को सजीव किया गया है तथा ग्रामीण जीवन की जो सरलता तथा सरसता चित्रित हुई है, उसे सामाजिकता का अवतरण ही कहा जा सकता है। भरहुत के स्तूप में मानवों की वेशभूषा में एक कसाव तथा कठोरता का आभास मिलता है, परन्तु साँची का स्तूप वस्त्रों एवं आभूषणों की स्वाभाविकता को स्पष्ट करता है। जहाँ भी वेशभूषा का प्रदर्शन हुआ है, वहाँ चुन्नटों और सिलवटों के प्रयोग से शरीर को अधिक सजीव बनाने की चेष्टा की गई है। स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ मानों बातें करती हुई जान पड़ती हैं। शृंगार रस को उज्ज्वल तथा दर्शनीय रूप प्रदान किया गया है। शारीरिक गठन माँसलता को लिये होने पर भी वासना को उद्दीप्त करने वाला सिद्ध नहीं किया जा सकता।

साँची-स्तूप की मूर्तियों में किसी कथानक को कहने की शक्ति परिपूरित की गई है। मूर्तियाँ अपने अंगों के माध्यम से किसी घटना की ओर संकेत करती जान पड़ती हैं। मूर्ति स्थापना की ऊर्ध्वाकार एवं क्षितिजाकार योजना के कारण मूर्ति विशेष तथा अंग विशेष को अधिक प्रभावशाली बना दिया गया है। बैशम महोदय ने इस स्तूप-कला की प्रशंसा करते हुए ठीक ही लिखा है—"भारतीय स्थापत्य कला में मूर्तियों की सज्जा उल्लेखनीय है तथा अंग-विशेष की सज्जा ताजगी और आकर्षण से परिपूर्ण हैं।"[2]

1 "The Sanchi gateways are perhaps more notworthy for their carved ornamentation than their architecture." —*Basham*

2 "The finish, on the other hand, is remarkably good, and the carrings are among the most fresh and vigorous products of the Indian sculpture."

साँची के स्तूप के चारों तोरण एक ही समय में निर्मित नहीं हुए परन्तु इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पहले तथा चौथे तोरण के निर्माण-काल में बहुत वर्षों का अन्तर नहीं है। यथार्थतः साँची का स्तूप शुंगयुगीन कला का उसी प्रकार अद्वितीय उदाहरण है, जिस प्रकार मौर्ययुगीन कला का सारनाथ।

उपर्युक्त स्तूपों के अतिरिक्त शुंगकाल के कुछ अन्य ऐतिहासिक अवशेष भी प्राप्त हुए हैं, जिनमें विदिशा का गरुड़ध्वज, भाजा का चैत्य एवं विहार, अजन्ता का नवाँ चैत्य मन्दिर, नासिक तथा कार्ले के चैत्य तथा मथुरा की अनेक यक्षों एवं यक्षिणियों की मूर्तियाँ। अतः शुंगयुगीन ऐतिहासिक अवशेष अपने अभिलेखों तथा कला-प्रदर्शन के कारण एक ओर ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करते हैं तथा दूसरी ओर कला की प्रगति को सूचित करते हैं। इसीलिए शुंगयुगीन कला को भारतीय कला के विकास का दूसरा अध्याय मानना चाहिए।

कुषाणयुगीन कला एवं ऐतिहासिक अवशेष

ईसा की प्रथम शताब्दी में बौद्ध धर्म के संरक्षक कुषाणवंशी सम्राट् कनिष्क ने कला को विशेष महत्त्व दिया। बौद्ध धर्म का हीनयान सम्प्रदाय गौतम बुद्ध को महत्त्व देकर भी उनकी मूर्तियों को महत्त्व प्रदान नहीं करता था। हीनयान सम्प्रदाय में आवश्यकतानुसार धर्मचक्र, घोड़े, छत्र, सिंहासन तथा चरण-पादुका आदि को प्रदर्शित करके बुद्ध का अस्तित्व स्पष्ट कर दिया जाता था। परन्तु कनिष्क के समय तक महायान सम्प्रदाय का विकास हो चुका था। अतः कनिष्क ने पेशावर, तक्षशिला तथा मथुरा आदि नगरों को कला के केन्द्रों के रूप में महत्त्व दिया। पेशावर और तक्षशिला में गौतम बुद्ध की मूर्तियाँ बनीं, जिन्हें गान्धार कला के अन्तर्गत माना जाता है तथा मथुरा कला-केन्द्र में बनी बुद्ध की मूर्तियों को मथुरा कला के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। कनिष्क ने अपनी राजधानी पुरुषपुर में 400 फीट ऊँचा 13 मंजिलों का एक टावर बनवाया था। इसी को 11वीं शताब्दी में अलबरूनी ने कनिष्क चैत्य के नाम से अभिहित किया। वस्तुतः कनिष्क ने बौद्ध विहारों के अतिरिक्त बुद्ध मूर्तियों को विशेष महत्त्व दिया, जो आज तक अनेक संग्रहालयों में प्रतिदर्श के रूप में सुरक्षित हैं।

गान्धार कला—गान्धार प्रदेश या अफगानिस्तान के क्षेत्र में जो कुषाणयुगीन कला बुद्ध-मूर्तियों में सन्निहित है, उसे ही गान्धार कला कहा जाता है। यह हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि गान्धार कला का विकास महायान सम्प्रदाय के अस्तित्व के कारण हुआ। कनिष्क के शासन-काल में महात्मा बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण करना धर्म-प्रचार का साधन समझा जाने लगा। अतः उस समय जो मूर्तियाँ बनीं उन्हें विषय की दृष्टि से भारतीय तथा कला की दृष्टि से यूनानी कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। मूर्तियों का विषय महात्मा बुद्ध का जन्म, सम्बोधि, धर्मचक्र-प्रवर्तन, तथा परिनिर्वाण से सम्बन्धित रहा है। कला की दृष्टि से महात्मा बुद्ध की ध्यान-मुद्रा तथा अभय-मुद्रा भी भारतीय ही हैं क्योंकि महात्मा बुद्ध ध्यानावस्था के ही कारण समाधि को सिद्ध कर सके तथा बोधि-तत्त्व

को प्राप्त कर सके। इसी प्रकार गौतम बुद्ध ने संसार के उद्धार के लिए यथार्थ ज्ञान का उपदेश दिया, वही यथार्थ ज्ञान उनकी अभय मुद्रा के रूप में या एक हाथ को कुछ ऊपर उठाये जाने की स्थिति में स्पष्ट किया गया है। गौतम बुद्ध को ईश्वरत्व रूप में प्रदर्शित करने वाली मूर्तियाँ भी भारतीय कला का ही उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। महात्मा बुद्ध की मूर्ति के मुख्य-भाग के चारों ओर प्रभा-मण्डल प्रदर्शित किया गया है, जो भारतीय दर्शन की छाया का सूचक है।[1]

भारतीय विषय को चित्रित करते समय यूनानी कला का प्रभाव गान्धार कला के ऊपर दर्शनीय है। बुद्ध तो भारतीय संस्कृति के स्तम्भ हैं, परन्तु उनका आकार-प्रकार यूनानी देवता अपोलो जैसा दिया गया है, जो यूनानी कला का परिचायक है। बुद्ध के शरीर पर जो वस्त्र और आभूषण हैं, वे भी विदेशी हैं। बुद्ध की मूर्तियाँ मोटे वस्त्रों से ढकीं है। अधिकांश मूर्तियाँ बुद्ध के पुष्ट शरीर को प्रदर्शित करती हैं। मूर्तियों में बुद्ध के होंट मोटे हैं तथा आँखें दूर तक खिची हुई हैं। बुद्ध के शीश के ऊपर उष्णीश या जूड़ा भी दिखाया गया है और कभी-कभी वे सिंहासन पर आसीन दिखाये गये हैं। बुद्ध के पैरों में चप्पलों का होना विदेशी प्रभाव ही है। गान्धार कला की बुद्ध-मूर्तियों में संन्यासी बुद्ध के केश बड़े-बड़े तथा अलंकृत दिखाये गये हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यूनानी कला के प्रदर्शन की चकाचौंध में कलाकार बुद्ध की संन्यासी मुद्रा को विस्मृत कर बैठे हैं। बुद्ध ने संन्यासी हो जाने पर केशों को मुड़वा दिया था तथा आभूषणों को उतार दिया था। गान्धार कला के प्रभाव में निर्मित बुद्ध मूर्तियों में न तो आध्यात्मिक गहराइयाँ हैं और न ही विश्व-कल्याण की प्रभावशीलता। बुद्ध की मुख-मुद्रा में या तो इतनी कठोरता का निवास हो गया है कि बुद्ध कठोरता के अवतार जान पड़ते हैं अथवा वे इतने भावुक दिखलाई पड़ते हैं कि उनकी भावुकता स्त्री-स्तम्भ भावुकता ही कही जा सकती है। बुद्ध के शरीर के ऊपर अनावश्यक साज-सज्जा आडम्बर ही जान पड़ती है, जिसके फलस्वरूप न तो बुद्ध का दिव्य व्यक्तित्व ही चित्रित किया जा सका है, और न ही भावनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति हो सकी है।[2] अतः गान्धार-कलाकारों ने बुद्ध के शारीरिक सौन्दर्य तथा बौद्धिकता पर विशेष बल दिया है, वे आध्यात्मिकता तथा भौतिकता को तो प्रायः भुला ही बैठे हैं।[3]

निष्कर्षतः गान्धार-कला के अन्तर्गत निर्मित मूर्तियों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

1. ये मूर्तियाँ स्लेटी पत्थर की हैं। परवर्ती मूर्तियाँ चूना, प्लास्टर तथा धातु की भी हैं।

1 "न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्" —श्वेताश्वतरोपनिषद

2 "The relicks representing scenes from the life of the master, inspite of their minute details, have the appearance of mechanical reproductions, lacking all the spontaneity." —*Dr. S. K. Saraswati*

3 "To the Greek man's beauty and intellect were everything. The vision of the Indian was bounded by the immortal rather than the mortal."--*Marshal*

2. गान्धार-कला की मूर्तियों के विषय भारतीय हैं।
3. गान्धार-कला में भारतीय तथा यूनानी कला का सम्मिश्रण है।
4. गान्धार-कला में यूनानी शैली की प्रधानता है।
5. गान्धार-कला की मूर्तियों में विषयानुकूलता का अभाव है।
6. इन मूर्तियों में धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी विशेष स्थान नहीं है।
7. गान्धार-कला की मूर्तियों में आध्यात्म की अपेक्षा भौतिकता की प्रधानता है।
8. गान्धार-कला को इण्डोग्रीक कला के नाम से भी जाना जाता है।

मथुरा-कला—कनिष्क के शासनकाल में मथुरा-कला का अभ्युदय विशुद्ध भारतीय कला के रूप में हुआ। उत्तर प्रदेश के जनपद मथुरा में इसका विकास होने के कारण इस कला को मथुरा-कला नाम दिया गया। प्रारम्भ में वैदेशिक इतिहासविदों ने मथुरा-कला का उद्भव और उद्गम गान्धार-कला के प्रभाव से ही माना। परन्तु अब विषय एवं कला का अनुशीलन हो जाने के उपरान्त यह निश्चित हो गया कि मथुरा-कला की मूर्तियां गान्धार-कला के प्रभाव से शून्य हैं। मथुरा-कला को जन्म देने का श्रेय भरहुत तथा सांची की कलाओं को है। मथुरा-कला का जन्म मथुरा के देशी कलाकारों के मानस में संयोजित बुद्ध की विभिन्न भंगिमाओं के कारण हुआ, जिन्हें सुसज्जित करने की प्रेरणा सांची और भरहुत की कलाओं से मिली। अनेक विद्वानों ने मथुरा-कला का अस्तित्व गान्धार-कला के जन्म से पूर्व ही स्वीकार किया है।[1] कालान्तर में मथुरा-कला के ऊपर गान्धार-कला यत्किंचित् प्रभाव भी अवश्य पड़ा।

मथुरा-कला के अन्तर्गत निर्मित मूर्तियों में गौतम बुद्ध के जीवन की सात घटनाओं को प्रदर्शित किया गया है। सातों घटनाएँ इस प्रकार हैं——1. बुद्ध का जन्म, 2. बुद्ध को बोधि-तत्त्व की प्राप्ति, 3. धर्म प्रचार, 4. महापरिनिर्वाण, 5. इन्द्र को भगवान् बुद्ध का दर्शन, 6. बुद्ध द्वारा त्रयत्रिंश स्वर्ग से माता को ज्ञान देकर वापस आना तथा 7 लोकपालों द्वारा बुद्ध को भिक्षापात्र अर्पित करना। पहले चारों मूर्ति-भेद गान्धार-कला में भी मूर्तिमान् किए गए हैं। पिछले तीनों भेदों में ब्राह्मण धर्म की छाप दिखलाई पड़ती है क्योंकि पौराणिक या ब्राह्मण धर्म में ईश्वर को सभी देवताओं से श्रेष्ठ माना गया है। इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि राजा भगवान् की उसी प्रकार से सेवा करते हैं, जिस प्रकार सेवक स्वामी की। इन्द्रादि देवता भगवान् के दर्शन करके स्वयं को कृतकृत्य मानते हैं। इसीलिए इन्द्र को भगवान् बुद्ध के समक्ष ईश-दिदृक्षु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। बुद्ध की माता महामाया से भेंट भी पौराणिक धारणा को ही सूचित करती है कि तैंतीस देवताओं के निवास

1 "The latest opinion, indeed, is that the earliest Buddha's image of the Mathura school were pre-gandharan, and that the latter's history runs parrallel to and independent of the main Current of Indian Art."
—*Cristmas*

स्वर्ग में अवतार प्रवेश कर सकते हैं। बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, इन्द्र तथा प्रजापति से युक्त भूमि को स्वर्ग कहा गया है। बुद्ध को लोकपालों द्वारा भिक्षापात्र अर्पित करने के पीछे भी पौराणिक धारणा ही काम करती जान पड़ रही है।

मथुरा की मूर्तियाँ मांसलता और विशालता के लिए प्रसिद्ध हैं। मथुरा-कला की मूर्तियों में बुद्ध के मूछें नहीं दिखाई गई हैं, जिसे हम अवतारवादी भारतीय कला एवं संस्कृति का ही प्रभाव कह सकते हैं। मथुरा की कुषाणकालीन मूर्तियों में बुद्ध के दाहिने कन्धे पर वस्त्र दिखलाई नहीं पड़ता। दक्षिण हस्त कुछ ऊपर को उठा हुआ दिखाया गया है, जो अभय मुद्रा का प्रदर्शक है। बुद्ध को बोधि-तत्त्व प्राप्त करते हुए चित्र में आध्यात्मिकता परिपूर्ण जान पड़ती है। मथुरा की बुद्ध-मूर्तियों में सिंहासनासीनता की प्रधानता रही है। इस कला में बुद्ध की मुख-मुद्रा प्रभामण्डल से आवृत है, जो गान्धार-कला से इस बिन्दु पर भिन्न है कि मथुरा की मूर्तियों का प्रभामण्डल किनारे की ओर वृत्ताकार चिह्नों से सुशोभित किया गया है।

मथुरा-कला पर सांची तथा भरहुत की कलाओं का प्रभाव रहा है, यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। साँची और भरहुत की कलाकृतियों में प्राकृतिक प्रेम की प्रधानता तथा आध्यात्मिकता का बोलबाला जान पड़ता है, जबकि मथुरा की कला में यक्षणियों की प्रतिमाओं में इन्द्रियपरकता की प्रधानता है। हाँ, मथुरा की कला का आकर्षण भौतिक क्षेत्र में भी उतना ही चमत्कारपूर्ण है, जितना कि आध्यात्मिक क्षेत्र में। निष्कर्षतः मथुरा-कला की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

1. मथुरा की मूर्तियाँ लाल बलुए पत्थर की बनी हैं।

2. गान्धार-कला की भाँति मथुरा-कला की मूर्तियों के बुद्ध के मुख के चारों ओर प्रभा-मण्डल है, परन्तु वह गान्धार-कला की अपेक्षा अधिक आकर्षक है।

3. महात्मा बुद्ध मुण्डित शीश तथा दाढ़ी-मूछ विहीन दिखाए गए हैं।

4. प्रतिमाओं में आध्यात्मिकता की अपेक्षा भौतिकता की प्रधानता है।

5. महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ सिंहासनासीन भी हैं तथा खड़ी मुद्रा में भी।

6. मूर्तियों का एक कन्धा ढका है तथा दूसरा खुला।

7. यक्षों तथा यक्षणियों की मूर्तियों में कामुकता का अतिरेक है।

8. मूर्तियों के वस्त्र प्रायः शरीर से चिपटे हुए हैं।

गान्धार कला तथा मथुरा-कला से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुषाणयुगीन मूर्तियाँ ब्राह्मण धर्म तथा बौद्ध धर्म के सम्मिश्रण एवं स्वदेशी एवं विदेशी कला के समन्वय के युग की देन हैं। धार्मिक सहिष्णुता का वह युग निश्चयतः कला को प्रोत्साहित करने वाला सिद्ध हुआ। गान्धार-कला तथा मथुरा-कला कनिष्क के शासन की संस्कृति को प्रकट करने के लिए ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करती हैं। कुषाण युग की कला को समझने के लिए आज विभिन्न संग्रहालयों में गान्धार-कला तथा मथुरा-कला की मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं। कुषाणयुगीन कला का विकास धर्म और कला दोनों के विवर्धन हेतु हुआ। आज कुषाणयुगीन चैत्य या बौद्ध

विहार तो अनुपलब्ध हैं, परन्तु उस युग की मूर्तियाँ ऐतिहासिक अवशेषों की पूर्ति करती हैं।

गुप्तयुगीन कला एवं ऐतिहासिक अवशेष

भारतवर्ष के इतिहास में गुप्तयुगीन कला को कला का स्वर्ण-युग माना जाता है। चौथी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के मध्य तक गुप्तकालीन कला का विकास होता रहा। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य तथा स्कन्दगुप्त के शासन काल में कला के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। गुप्तवंशी राजाओं ने धर्म-निरपेक्षता को अपनाया, जिसका प्रभाव तत्कालीन कला पर पड़ा। विष्णु, शिव, बुद्ध तथा महावीर से सम्बद्ध मन्दिर एवं मूर्तियों का निर्माण हुआ। गुप्तयुगीन कला को माध्यम बनाकर तत्कालीन ऐतिहासिक अवशेषों को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है—1. वास्तुकला, 2. मूर्तिकला, 3. चित्रकला, 4. मुद्रा-निर्माण-कला।

1. वास्तुकला—वास्तुकला के अन्तर्गत स्तूप, चैत्य, दरीगृह, मन्दिर, भवन, मठ आदि के निर्माण को गिना जाता है। गुप्तकाल में अनेक भव्य भवनों का निर्माण हुआ था, परन्तु ऐतिहासिक अवशेष के रूप में आज केवल जबलपुर जिले के तिगवा नामक स्थान में विष्णु मन्दिर, नागोद में भूमरा का शिव मन्दिर, बोध गया के बौद्ध मन्दिर, झाँसी जिले में देवगढ़ का मन्दिर, ग्वालियर में भिलसा के निकट उदयगिरि की गुफा इत्यादि।

गुप्तकालीन वास्तुकला में पत्थर और ईंटों को प्रयेता में लिया गया है। गुप्तकाल से पूर्व भवन-निर्माण में बाँस तथा लकड़ी का प्रयोग किया जाता था, जिससे कि भवन जल्दी ही विनष्ट हो जाता था। परन्तु गुप्तयुगीन वास्तुकला में पत्थरों तथा ईंटों के प्रयोग का आज यह फल प्राप्त है कि तद्युगीन अनेक मन्दिर ऐतिहासिक अवशेषों के रूप में प्राप्त हैं। निष्कर्षतः गुप्तयुगीन कला की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(i) मन्दिरों के निर्माण में ईंटों तथा पत्थरों का प्रयोग हुआ है।

(ii) मन्दिरों में मेहराब को जो स्थान मिला है, वह भारतीय कला का प्राचीनतम नमूना है।

2. मूर्तिकला—गुप्तकालीन मूर्तिकला कुषाणयुगीन मूर्तिकला से भी उन्नत मानी जाती है। कुषाणयुग में गान्धार-कला तथा मथुरा-कला का प्रादुर्भाव एवं विकास हुआ था, परन्तु उन दोनों ही कलाओं में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का असंतुलन रहा। गुप्तकाल में इसी अभाव की विशेषतः पूर्ति की गई। आज मथुरा के संग्रहालय में गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमा सुरक्षित है। यह कलावशेष बुद्ध शारीरिक संतुलन के साथ-साथ मानसिक संतुलन को भी व्यक्त करता है। समझा जाता है कि गुप्त कालीन मूर्तियों में अनुशासन, स्नेह, संतुलन, मुस्कान आदि भावों एवं अनुभावों का समन्वय स्थापित कर दिया गया है। गुप्तयुगीन सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा उक्त संतुलन का श्रेष्ठ उदाहरण है। उदयगिरि की विशाल वाराह मूर्ति, सूर्य, दुर्गा, स्वामी-कार्तिकेय तथा अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी आध्यात्मिक

संतुलन को ही व्यक्त करती हैं। अतः गुप्तयुगीन मूर्तिकला की निष्कर्षतः निम्न-लिखित विशेषताएँ हैं—

(i) गुप्तकालीन मूर्ति-कला विदेशी प्रभाव से मुक्त हो चुकी थी।

(ii) गुप्तयुग की मूर्तियों में भौतिकता और आध्यात्मिकता का संतुलन मिलता है।

(iii) गुप्तकालीन मूर्तियों की सुन्दरता एवं भाव-प्रवणता विषयानुकूल रही है।

(iv) गुप्तकालीन मूर्ति-कला के विषय समूची भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(v) गुप्तयुगीन मूर्ति-कला में धार्मिकता की प्रधानता है।

3. चित्रकला—गुप्तयुगीन चित्रकला का सर्वोत्तम नमूना अजन्ता और बाघ की चित्रकारी है। अजन्ता महाराष्ट्र में औरंगाबाद के समीप एक कन्दरा के रूप में भित्तिचित्रों के माध्यम से चित्रकला का अद्वितीय नमूना है। बाघ मालवा के अन्तर्गत है, जो अजन्ता की भाँति भित्तिचित्रों को समाहित किये हुए है।

अजन्ता के मन्दिर चट्टानों को काटकर बनाये गए हैं। उनके अन्तर्गत भित्तियों को सममिति करके चित्रकारी की गई है। इन दीवारों के ऊपर नाटकीय वातावरण चित्रित कर दिया गया है। अनेक राजकुमार राजकीय कार्यों को करते दिखाए गए हैं। साधुगण भारतीय संस्कृति को प्रकट करते हुए जान पड़ते हैं। योद्धा अपने देश की रक्षा के लिए युद्धोन्मत्त दिखाए गए हैं। सामान्य नर-नारी सामाजिक समृद्धि को सूचित करते हुए चित्रित किए गए हैं।

अजन्ता की कन्दराओं की भित्तियों के ऊपर बन्दरों, हथियारों, हरिणों तथा मृगशावकों को सुन्दर रूप में चित्रित किया गया है। वन्यों एवं पक्षियों को देखने से पता चलता है कि हमारे प्राचीन समाज में पशु-पक्षियों को सृष्टि-समुदाय का अभिन्न अंग माना जाता था। तद्युगीन कलकारों, दार्शनिकों, साहित्यकारों तथा विचारकों को समूची सृष्टि से बड़ा प्रेम था। अजन्ता की दीवारों पर अनेक उद्यानों तथा सरोवरों का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। ऐसे चित्रों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अजन्ता गफा के स्तम्भों तथा दीवारों पर एक विशाल नाटक होता जान पड़ता है।[1]

अजन्ता के चित्रों के विषय अत्यन्त विस्तृत हैं। कहीं स्वर्ग के दूत आकाश में घूमते हैं तो कहीं गौतम बुद्ध का समग्र जीवन-चरित्र चित्रित है। बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध चित्रों में 'महाभिनिष्क्रमण' का चित्र सर्वाधिक आकर्षक है। इस चित्र में एक ओर भौतिकता वैभव को संयोजित किए हुए दिखलाई गई है तथा दूसरी ओर आध्यात्म-सत्य दिव्य ज्योति के रूप में प्रकट किया सा जान पड़ता है। भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच में खड़े बुद्ध का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक और प्रेरणास्पद जान पड़ता है। इस ऐतिहासिक चित्र में जो कल्पना साकार हुई है, उसके विषय

1 "The walls and pillars of the Ajanta caves constitute the back-screen of vast drama."

में भगिनी निवेदिता ने ठीक ही लिखा है—"यह चित्र सम्भवतः भगवान् बुद्ध का सबसे महान् कल्पनात्मक चित्रण, जिसे संसार ने आज तक उत्पन्न किया है। ऐसी अद्वितीय कल्पना पुनः उत्पन्न नहीं की जा सकती।"

अजन्ता की भित्ति पर चित्रित मरणासन्न राजकुमारी का चित्र दर्शकों को प्रभावित किए बिना नहीं रहता। इस चित्र की भावाभिव्यक्ति इतनी मार्मिक है कि मरणासन्न राजकुमारी की करुण गाथा उससे स्वतः स्पष्ट हो जाती है। इस चित्र में करुणा और भावावेश का अद्भुत समन्वय है। इसी प्रकार से किसी स्थान पर जुलूसों के चित्र दर्शकों को दंग करते हैं तो कहीं माता और पुत्र के विचित्र सम्बन्ध विस्मय के विषय बनते हैं।

अजन्ता के चित्र भारतीय मानवपरक दृष्टिकोण को साकार करते हैं। इसीलिए इस कला को भारत की सर्वोत्तम कला भी कहा गया है। अजन्ता के चित्रकार अनेक भावों के भेदों के ज्ञाता थे। वे किसी भी भावावस्था को सहज रूप में चित्रित करना जानते थे। अनेक चित्रों में स्वाभाविकता, लालित्य एवं चेतना की अभिव्यंजना का अद्भुत सामञ्जस्य है। अजन्ता के चित्रों में जो शारीरिक संतुलन दिखलाई पड़ता है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकालीन वीरों के शरीर सुगठित थे। उन चित्रों में प्रतिभा एवं भावना के अभूतपूर्व सामञ्जस्य को देखकर आज के चित्रकार भी विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं।

अजन्ता के सन्दर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यह गुफा चौथी शताब्दी में वाकाटक वंश के राजाओं के शासन-काल में ही बननी शुरू हो गई थी। अजन्ता की चैत्य गुफाएँ वाकाटक काल की देन हैं। इसकी विहार गुफा क्रमांक 16 को राजा हरिषेण के मन्त्री वराहदेव ने निर्मित कराई थी। इस गुफा में एक विशाल भवन है, जिसकी लम्बाई 66 फीट, चौड़ाई 65 फीट तथा ऊँचाई 50 फीट है।

अजन्ता की गुफा की चित्रकारी ने एक ओर धर्म का प्रचार करने में सहयोग प्रदान किया था तथा दूसरी ओर वह कलात्मक विकास में अत्यन्त प्रशंसनीय योगदान देने वाली सिद्ध हुई है। सारांशतः अजन्ता की चित्रकला की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(i) अजन्ता की चित्रकला एक लम्बे समय की देन है।
(ii) अजन्ता की चित्रकला विभिन्न विषय से सम्बद्ध रही है।
(iii) इस गुफा की चित्रकला में अश्लीलता के लिए स्थान नहीं है।
(iv) इन गुफाओं की दीवारों के चित्रों में सभी धर्मों को समाहित किया गया है।
(v) अजन्ता के चित्र सामयिक परिस्थितियों के परिचायक हैं।
(vi) अजन्ता के चित्रों में भारतीय संस्कृति मूर्तिमान दिखलाई पड़ती है।

4. मुद्रा-निर्माण-कला—गुप्त सम्राटों के शासन-काल में स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन था। गुप्तकालीन सिक्कों से पता चलता है कि उस समय गायन, वादन

तथा नृत्य कलाओं के प्रति जनता की अत्यधिक रुचि थी। गुप्त राजाओं की प्रशस्ति भी स्वर्ण-मुद्राओं पर उत्कीर्ण मिलती है। 'अप्रतिस्थो विजित्य क्षिति सुचरितैः दिवं जयति' अर्थात् जो पृथ्वी को शौर्य से जीतकर अपने उज्ज्वल चरित्र से स्वर्ग को भी जीतते हैं—ऐसे गुप्तवंशी शासक हैं। गुप्तयुगीन मुद्राओं में कलात्मक सौन्दर्य देखते ही बनता है। आज समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कई सिक्के ऐतिहासिक अवशेष के रूप में प्राप्त हैं।

पूर्वमध्यकालीन कला एवं ऐतिहासिक अवशेष

गुप्तकालीन कला छठी शताब्दी तक विकसित रही अतः इतिहास में उसके परवर्ती युग को पूर्वमध्यकाल कहा गया है। पूर्वमध्यकालीन कला सातवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक विशेषतः विकसित रही। यहाँ हमारा लक्ष्य तत्कालीन कला एवं ऐतिहासिक अवशेषों को क्रमशः स्पष्ट करने का है।

सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का युग भारतीय संस्कृति के समन्वय का युग रहा। इस युग में हिन्दू धर्म का बोलबाला रहा तथा जिसका परिणाम कला पर भी पड़ा। इस युग में मुसलमानों के आक्रमणों के फलस्वरूप अनेक ऐतिहासिक कलाकृतियों को विनष्ट भी कर दिया गया। भारत के कुछ राजाओं ने इस युग में भारत से बाहर भी औपनिवेशिक स्तर पर कला का विकास किया। पूर्वमध्ययुगीन कला में गुप्तकालीन कला से पृथक शैली को अपनाया गया। वस्तुतः पूर्वमध्यकाल में विशिष्ट शिल्पशास्त्र का निर्माण हो चुका था। शिल्पशास्त्र के नियमों के अनुसार ही मूर्तियों की लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई निर्धारित की जाती थी। इस शिल्पशास्त्र के आधार पर ही मन्दिरों तथा स्तूपों का निर्माण किया जाता था। इस समय में आर्य एवं द्रविड़ कला-शैलियाँ सम्मिश्रित होकर भी कलागत चमत्कार प्रदर्शित करने लगी थीं। उड़ीसा शैली इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उत्तरी भारत में मन्दिरों के निर्माण में खुजराहो शैली का भी विकास किया गया। गुफाओं के निर्माण में ऐलोरा तथा एलीफेंटा जैसी गुफा-निर्माण कला को प्रदर्शित किया गया। यहाँ हम कलाओं के समन्वय को प्रस्तुत करने वाले प्रसिद्ध ऐतिहासिक अवशेषों को स्पष्ट कर रहे हैं। प्रमुख ऐतिहासिक अवशेष इस प्रकार हैं : खुजराहो, भुवनेश्वर के मन्दिर, एलोरा, ऐलीफेंटा, बारोबुदूर तथा अंगकोरवाट के मन्दिर तथा कुछ विशिष्ट मूर्तियाँ।

खुजराहो—खुजराहो मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले में एक ऐतिहासिक अवशेष के रूप में प्रसिद्ध है। खुजराहो एक विशिष्ट शैली के रूप में भी प्रसिद्ध है। इस शैली का विकास खुजराहो में ही हुआ, इसलिए इसे खुजराहो शैली के नाम से जाना जाता है। कण्डरिया महादेव का मन्दिर भूमि में गहराई तक खोदकर बनाया गया है। इस मन्दिर के निर्माण में खुजराहो शैली का यथार्थ रूप प्रकट हुआ है। इस मन्दिर में स्तम्भों की रचना सममिति में दिखलाई पड़ती है। स्तम्भों को कलात्मक रूप में सुसज्जित किया गया है। ये सभी स्तम्भ मजबूत पत्थरों के बने हुए हैं। इस मन्दिर के तीनों कमरे स्तम्भों पर ही बने हुए हैं। सभी कमरों के ऊपर वृत्ताकार

गुम्बद निर्मित किए हैं। गुम्बदों के निर्माण से मन्दिरों की शोभा शतगुणित हो गई है। वृत्ताकार गुम्बदों के भीतर कमल बने हुए हैं। गुम्बदों के भीतर कमलों को देखने से भारतीय संस्कृति का वह रूप साकार हो जाता है, जिसमें योगदर्शन के आधार पर मानव के शिरोभाग में सहस्रदल कमल की आकृति खींची गई है। गर्भगृह के ऊपर चौकोर शिखर का निर्माण है। यह चौकोर शिखर उस युग की आर्य शैली की देन है। इसमें मध्य शिखर के नीचे शिखराकार गुम्बद प्रधान शिखर के चारों ओर बने हुए हैं। प्रधान शिखर सबसे ऊपर निकला हुआ है। इस शिखर की यह विशेषता है कि इसमें कलश के स्थान पर सुन्दर-सुन्दर पत्थर सुसज्जित किये गए हैं। इन पत्थरों की कटाई-छटाई की शोभा देखते ही बनती है। शिखर के ऊपर जो पच्चीकारी की गई है, वह भी कम दर्शनीय नहीं है।

खुजराहो के मन्दिर बहुत ऊँचे नहीं हैं। इन मन्दिरों में हवा और रोशनी का विशेष प्रबन्ध रखा गया है। दीवालों में गहरे-गहरे ताख निर्मित किये गये हैं, जिनमें देवी-देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। खुजराहो शैली भारतीय संस्कृति के समन्वित रूप को प्रकाशित करती है। इसीलिए शिव, विष्णु, देवी आदि के मन्दिरों के साथ-साथ जैन मन्दिरों को भी प्रधानता दी गई है।

खुजराहो की मूर्तियों को देखने से पता चलता है कि उस समय शंकर, विष्णु तथा गणेश को पुराणों की भव्य कल्पना के आधार पर सुन्दर स्वरूप प्रदान किया जा चुका था। विष्णु को चतुर्भुज दिखाया है तथा शंकर को तीन नेत्रों से विभूषित किया गया है। देवी को सिंह के ऊपर आसीन दिखाया गया है। अतः इन मन्दिरों के दर्शन से जहाँ एक ओर खुजराहो शैली का साक्षात्कार होता है, वहीं दूसरी ओर मन्दिर भगवद्भक्ति को उद्दीप्त करने में भी पूर्णतः समर्थ हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि खुजराहो शैली जहाँ एक ओर भगवद्भक्ति को सूचित करती है, वहीं वह दूसरी ओर ऐसे चित्रों को भी प्रस्तुत करने वाली सिद्ध हुई है कि जिन्हें कला का उन्मुक्त और मर्यादाहीन स्वरूप कह सकते हैं। ऐसा लगता है कि आठवीं-नवीं शताब्दी में सिद्ध-सम्प्रदाय के विकास के फलस्वरूप यौनाचार इतना प्रबल हो गया था कि धर्म में उसे दर्शन का कवच चढ़ाकर विशिष्ट रूप में ग्रहण कर लिया गया था। खुजराहो के नग्न चित्रों को देखने से पता चला है कि उस समय आचार्य भरत द्वारा मान्य श्रृंगार रस की उज्ज्वलता तथा दर्शनीयता तिरोहित हो चुकी थी।

खुजराहो के मन्दिरों पर आर्य शैली का भी विशिष्ट प्रभाव पड़ा है। आर्य शैली के मन्दिरों में प्रायः ईंटों का अधिक प्रयोग होता था। गुम्बज के एक सिरे पर एक वर्गाकार पत्थर लगा रहता था, जो खुजराहो के मन्दिरों की मूर्ति-पूजा के दृष्टिकोण से बनाया जाता था। अतः खुजराहो एक विशिष्ट शैली के रूप में विकसित होने पर भी आर्य शैली से अत्यधिक प्रभावित है।

भुवनेश्वर के मन्दिर—उड़ीसा में भुवनेश्वर के मन्दिर उड़ीसा शैली के प्रभाव को परिलक्षित करते हैं। पूर्वमध्यकाल में उड़ीसा शैली का विकास हुआ, जो आर्य और द्रविड़ शैलियों का समन्वित स्वरूप है। द्रविड़ शैली में एक ही विशाल पत्थर को काटकर गुफा का निर्माण किया जाता था। निर्मित गुफा में जो ऊँना

भाग होता था, उसे मन्दिर कहा जाता था। आर्य शैली में मन्दिरों का निर्माण ऊँचे चबूतरों के ऊपर होता था। उड़ीसा शैली में प्रस्तर की काट-छाँट को विशेष महत्त्व देकर द्रविड़ शैली का अनुकरण किया गया तथा मन्दिर के शिखर के निर्माण में आर्यशैली की अनुकृति की गयी। इन दोनों तत्त्वों के अतिरिक्त उड़ीसा शैली का विकास एक सर्वथा नवीन रूप में भी हुआ। शिखर के निर्माण में विशेष प्रकार के प्रस्तरों को समायोजित किया गया। उड़ीसा शैली के मन्दिरों में शिखर के अन्तिम भाग में शेर की आकृति चित्रित रहती है। शेर की मूर्ति के पश्चात् आमलक का विशाल पत्थर जड़ा रहता है। उड़ीसा शैली के मन्दिरों में आलंकारिता का विशेष रूप द्रष्टव्य रहा है। मन्दिरों की विशालता का अलग ही चमत्कार होता है। उड़ीसा शैली के अवशेषों में लिंगराज का मन्दिर तथा कोणार्क का सूर्य मन्दिर विशेषतः उल्लेखनीय हैं। कोणार्क के मन्दिर में सूर्य को एक कोण विशेष से देखने की कला समायोजित की गई है।

एलोरा—महाराष्ट्र में औरंगाबाद के निकट एलोरा की गुफायें आज भी प्राप्त होती हैं। एलोरा की गुफा कला की एक विधि अथवा शैली के रूप में प्रसिद्ध है। इसमें एक कमरा खुदाई के माध्यम से जमीन के अन्दर निर्मित किया जाता था तथा उस कक्ष में वैदिक धर्म तथा जैन धर्म की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। इस गुफा में बरामदे को भी स्थान दिया जाता था तथा अन्त में एक कोठरी निर्मित की जाती थी। एलोरा का कैलाश मन्दिर एक ऐतिहासिक अवशेष के रूप में प्रसिद्ध है। एलोरा कला पर आर्य शैली और द्रविड़ शैली के प्रभाव के साथ-साथ चित्रकला के रूप में अजन्ता की चित्रकला का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। कैलाश मन्दिर पहाड़ी को काटकर बनाया गया है, जो प्रारम्भिक रूप में द्रविड़ शैली के आधार पर ही निर्मित हुआ है। मन्दिर का भाग आर्य शैली की सूचना देता है तथा चित्रकारी अजन्ता की चित्रकला का स्मरण दिलाने लगती है।

एलोरा की मूर्तियों में पौराणिक संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है। समझा जाता है कि ये मूर्तियाँ अवतारवाद, भक्ति-भावना तथा अहिंसा को विशेषतः सूचित करने वाली हैं। दशावतार तथा चौबीस तीर्थंकरों के चित्र उपदेश देते प्रतीत होते हैं। एलोरा कला में विभिन्न शैलियों का समावेश होने से एक विचित्र आकर्षण उत्पन्न हो गया है। एलोरा को हम विशुद्ध भारतीय कला कह सकते हैं। इसके विस्तार के लिए अजन्ता कला का वर्णन देखने योग्य है।

एलीफेंटा—महाराष्ट्र में बम्बई के निकट एलीफेन्टा की गुफा एक ऐतिहासिक अवशेष के रूप में विद्यमान है। यह भी एक गुफा-निर्माण की कला है। इस कला में चट्टान को काटकर मन्दिर बनाते समय शिव की प्रतिमाएँ भी काटकर ही बना दी जाती हैं। इस गुफा को हम ब्राह्मण गुफा या वैदिक धर्म की गुफा कह सकते हैं। यह गुफा एक सुन्दर मन्दिर के रूप में बनी हुई है। इसका ढाँचा अत्यन्त रमणीक होता है। पच्चीकारी की बारीकियाँ इस कला में दर्शनीय हैं। एलीफेंटा की गुफाओं में शिव की प्रतिमाओं का सौन्दर्य दर्शनीय है। एलीफेंटा गुफा की कीर्ति का केन्द्र उसकी प्रतिमाएँ ही हैं। आदिनाथ शिव की योग-साधना का चमत्कार, नटराज का

स्वरूप तथा शिव-सम्बन्धी अन्य कथाओं को एलीफेंटा गुफा-निर्माण-कला में चित्रों या प्रतिमाओं के माध्यम से स्थान दिया गया है।

वारोवुदूर तथा अंगरकोरवाट के मन्दिर—सातवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक जावा और कम्बुज भारतीय उपनिवेश के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे, जिसका हम पहले ही अध्ययन कर चुके हैं। पूर्वी द्वीप-समूह में जावा के मध्यम भाग में वारोवुदर के मन्दिर देखते ही बनते हैं। वारोवुदर के स्तूप-मन्दिर बौद्ध सम्प्रदाय के हैं तथा मन्दिर शैव मत के हैं। इन मन्दिरों को संसार के आश्चर्यों में गिना जाता है। वारोवुदर का प्रधान मन्दिर सात मन्जिला है। इसमें प्रतिष्ठित मूर्तियों की संख्या काफी बड़ी है तथा उन मूर्तियों की चौड़ाई भी काफी है। यदि इन मूर्तियों को धरातल पर पंक्तिवद्ध किया जाय तो उनकी चौड़ाई 400 फीट की होगी तथा लम्बाई साढ़े चार किलोमीटर की। शैवराज दक्ष के शिव मन्दिरों में शिव की मूर्तियों के साथ-साथ रामायण तथा महाभारत की कथाएँ मूर्तियों के माध्यम से चित्रित की गई हैं।

कम्पूचिया (कम्बुज) में यशोवर्मा ने यशोधरपुर नामक नगर की स्थापना की थी, जिसे आज अंगरकोट थोम बोलते हैं। अंगरकोट थोम तथा अंगरकोट में जो मन्दिर बने, वे बारहवीं शताब्दी के हैं। इन दोनों ही स्थानों के मन्दिर एक से हैं। उनकी बनावट तथा मूर्ति-कला के चातुर्य और सौन्दर्य को देखकर दर्शक दाँतों तले अंगुली दबा लेते हैं। राम के जन्म से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की कथा इन मन्दिरों में मूर्तियों के माध्यम से चित्रित की गई है। डेढ़ कि.मी. लम्बे तथा इतने ही चौड़े इस मन्दिर में शिवचरित भी मूर्तियों के माध्यम से चित्रित हैं। कालीदास के 'कुमारसंभव' महाकाव्य के चित्र यहाँ दर्शनीय हैं। इस मन्दिर की दुर्गमता इसके विशाल प्राचीर से स्पष्ट होती है तथा अनेक प्रांगणों से भी। इसकी सीढ़ियों का विस्तार भी देखने योग्य है।

मूर्ति-निर्माण—पूर्वमध्ययकाल में शैव, शाक्त जैसे मतों के उदय के कारण मूर्ति-कला को एक नई दिशा मिली। ग्यारहवीं शताब्दी की दशावतार की मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें मत्स्य, कूर्म, वाराह तथा कल्कि आदि की प्रतिमाएँ एक-एक करके दूसरी मूर्तियों के ऊपर स्थित हैं। इस युग में अवतारों की संख्या चौबीस हो जाने के कारण विष्णु के चौबीस रूपों की मूर्तियाँ निर्मित की गईं। विष्णु की मूर्तियों में गरुड़ को भी स्थान मिला है। विष्णु प्रायः शंख, चक्र, गदा तथा पद्म के साथ चित्रित किए गए हैं। विष्णु का चतुर्भुज रूप तथा ब्रह्मा का चतुर्मुखी रूप भी इस युग में मूर्तिमान् किया गया है।

शिव की मूर्तियों में नटराज शंकर, उमा-महेश्वर, रुद्र, सदाशिव जैसे रूप प्राप्त हुए हैं। शिव के अतिरिक्त कार्तिकेय तथा गणेश के रूप भी मूर्तिमान् मिलते हैं। देवी की मूर्तियाँ, बौद्ध एवं जैन धर्म से सम्बद्ध मूर्तियों का भी इस युग में निर्माण हुआ। यथार्थतः इस युग में मूर्तियों के निर्माण में प्रस्तर, काँसा, ताम्बा तथा मिट्टी का प्रयोग किया गया।

भारत के औपनिवेशिक एवं सांस्कृतिक विस्तार का इतिहास

(Colonial and Cultural Expansion of India)

भारत की संस्कृति 4000 ई. पू. में भी सिन्धु घाटी की सभ्यता के रूप में विकसित थी। वैदिक युग में आर्यों की पर्यटन-प्रवृत्ति के फलस्वरूप भारत की संस्कृति विभिन्न जातियों के संस्कारों को समन्वित करके विकसित हुई, जिसके फलस्वरूप आर्यों में अपनी संस्कृति का प्रचार-प्रसार करने की अभिरुचि और भी अधिक विवर्धित हुई। जब आर्यों के संस्कृति प्रचारक विदेशों में भी सांस्कृतिक प्रचार हेतु रहने लगे तथा विभिन्न देशों में अपनी संस्कृति के प्रचारार्थ धर्मशाखाएँ भी प्रवर्तित थीं तो उसी स्थिति को उपनिवेशवाद के रूप में जाना गया। अतः जो-जो देश भारतीय संस्कृति को सम्मान देने लगे तथा उसकी प्रचारणा हेतु प्रचारकों को सुविधाएँ दीं, वे देश ही भारत के सांस्कृतिक उपनिवेश कहे जाते हैं तथा उन्हीं देशों में भारतीय संस्कृति का विस्तार हुआ। भारतीय साहित्य को अनूदित कराकर तथा भारतीय कला को आधारभूत मानकर स्तूपों, मन्दिरों तथा सरोवरों का निर्माण कराकर भी विभिन्न देशों ने भारतीय संस्कृति के विस्तारगत प्रभाव को स्वीकार किया। प्राचीन भारत के शक्तिशाली राजाओं ने भारत के समीपवर्ती देशों में शासन स्थापित करके उन्हें अपना उपनिवेश बनाकर सांस्कृतिक विस्तार का आधार बनाया। अतः सांस्कृतिक प्रचार तथा उपनिवेशवाद का अटूट सम्बन्ध है या ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

भारतवर्ष के मौर्ययुगीन तथा गुप्तयुगीन राजाओं ने भारतीय संस्कृति के प्रचार में विशिष्ट योगदान दिया। भारतीय समाज की धर्म-कल्याण की प्रवृत्ति ने हमारे प्राचीन राजाओं को उपनिवेशवाद के आधार पर सांस्कृतिक प्रचार की ओर उन्मुख किया। वैदिक युग से ही समूचे विश्व के वातावरण को शान्तिमय देखने की परिकल्पनाएँ चल रही थीं, जिनके आधार पर विश्व-समाज को सुसंस्कृत बनाने का

1 एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्व-स्वं चरित्रं शिक्षेरन पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ —मनुस्मृति

दृढ़ निश्चय करके भारतीय प्रचारक अनवरत कार्य करते रहे। भारतवासियों को इस बात का गर्व और गौरव भी अनुभूत होता रहा कि उन्होंने विश्व को विद्या की ज्योति से आलोकित किया है तथा संस्कृति का सूर्य चमकाकार देशों-दिशाओं को धवलित किया है।

सर्वजनहिताय तथा सर्वजनसुखाय की भावना ने भारत के मनीषियों के हृदय को इतना द्रवीभूत कर डाला कि वे पूरे विश्व में शान्ति की स्थापना के लिए द्युलोक को शान्तिमय देखने की कल्पना कर उठे। उन्होंने अन्तरिक्ष को शान्त देखना चाहा। पृथ्वी को शान्ति की धात्री के रूप में देखने की विराट् कल्पना की अगाध जलाशयों को शान्ति के धाम के रूप में देखना चाहा। विश्व के सभी देवताओं को शान्ति की स्थापना में सहायक मानने का विचार किया। सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त ब्रह्म को शान्तिमय देखने का विचार रखा। सब कुछ शान्ति संकलित हो, यह भावना ही इतनी व्यापक बनी कि वैदिक युग का सांस्कृतिक समाज अपनी संस्कृति के प्रचार हेतु विश्व में जहाँ भी संस्कृति का प्रचार कर सकता था, प्रचारार्थ जुट गया। वेद की सर्वकल्याणकारी भावना[1] तथा सहयोग ने भारतीय संस्कृति को प्रधानता का रूप प्रदान करके उसे मानव-संस्कृति बना दिया।

बौद्ध एवं जैन संस्कृतियों के उदय से प्रचारकों के बड़े-बड़े जत्थे यथासमय वैदेशिक यात्रा करके सांस्कृतिक प्रचार के लिए निकल पड़े। संस्कृति के प्रचारार्थ बुद्ध ने प्रचारकों को यह उपदेश भी दिया—"भिक्षुओं! एक-एक भिन्न-भिन्न दिशाओं को जाओ, दो-एक ही देश को न जाओ और तथागत देखे सत्य का प्रचार करो, इस सत्य का जो आरम्भ में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकार है, अन्त में कल्याणकारी है, उसका बहुजनहिताय बहुजनसुखाय प्रचार करो।"

भारतीय वेदान्त, ज्योतिष, नाटक, गणित, राजनीति तथा विज्ञान का भी प्रचार दूर-दूर देशों में हुआ। इस सांस्कृतिक प्रचार के कारण भारत ने चीन से छपाई या मुद्रण की कला सीखी तथा ग्रीक एवं अरबों से भेंट कर दर्शन एवं गणित जैसी विद्याओं का विकास किया। भारतीय संस्कृति के प्रचार के फलस्वरूप जो देश भारत के उपनिवेश बने तथा जिनमें भारतीय संस्कृति को महत्त्व दिया गया, वे अग्रलिखित हैं—लंका, दक्षिण पूर्वी एशिया, पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया, चीन, तिब्बत और नेपाल एवं तोंकिन व अफगानिस्तान आदि।

लंका

भारतवर्ष के दक्षिण में हिन्दमहासागर में स्थित देश लंका है। प्राचीनकाल में लंका को सिंहलद्वीप भी कहा जाता था। पौराणिक काल में भारतीयों का लंका

1 द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष शान्तिः पृथिवीशान्तिरापः शान्तिरोवधयः शान्ति।
वनस्पतयः शान्तिर्वि श्वेदेवाः शान्तिब्रह्मशान्ति; सर्वशान्तिः।
शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ —यजुर्वेद, 36/18

2 तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/1/1

से पर्याप्त सम्पर्क स्थापित हो चुका था। कई शताब्दी ईसा पूर्व में अयोध्या के राजा श्री रामचन्द्र ने भारत की शक्तियों को एकीकृत करके लंका के राजा रावण को परास्त किया था। रावण के अनुज विभूषण को आर्य संस्कृति का अनुयायी बनाकर लंका का राजा बना दिया था तभी से लंका को भारत के उपनिवेश के रूप में माना जाने लगा था।[1]

ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में बौद्ध संस्कृति के विकास के कारण भारत और लंका के बीच पुनः सम्पर्क स्थापित। बौद्ध साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि विजय नामक राजकुमार अपने पिता का राज्य छोड़कर लंका के लिए रवाना हुआ। सैकड़ों जहाजों को लेकर समुद्री तूफानों का सामना करके वह लंका में पहुँचा। कालान्तर में उसका लंकाधिपति की कन्या से विवाह हुआ तथा वहीं रहकर विजय ने अपनी कूटनीति के बल से लंका के ऊपर अधिकार कर लिया। लंका में शासन स्थापित करके लंका को भारत का उपनिवेश बना दिया गया। इतिहास के आधार पर यह माना जाता है कि जिस दिन भगवान बुद्ध ने कुशीनगर में निर्वाण प्राप्त किया था, उसी दिन राजकुमार विजय ने लंका पर अधिकार किया था। अतः लंका में बौद्ध संस्कृति का प्रचार पाँचवीं शती ई. पू. में ही हो चुका था।

लंका से भारत का विशिष्ट सम्पर्क सम्राट् अशोक के शासनकाल में हुआ। अशोक ने तीसरी शती ई. पू. में तृतीय बौद्ध संगीति को आमन्त्रित किया। इस संगीति के अधिवेशन के तुरन्त पश्चात् विदेशों में संस्कृति-प्रचार करने के लिए प्रचारकों की सूची बनाई गई। लंका में सद्धर्म का प्रचार करने के लिए अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को चुना गया। स्वयं अशोक ने ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह में महेन्द्र और संघमित्रा को लंका जाने वाले जहाज में बैठाया। महेन्द्र अपने साथ बोधिवृक्ष की शाखा या टहनी भी ले गया। उसी की शाखाएँ-प्रशाखाएँ आज लंका की भूमि पर बौद्ध वृक्ष के रूप में झूमती जान पड़ती हैं। अशोक के समय में बौद्ध धर्म का जो प्रचार लंका में हुआ, उसके विषय में अनेक ऐतिहासिक प्रमाण विद्यमान हैं। पहले तो कलिंग युद्ध के पश्चात् अशोक ने बौद्ध धर्म को जो आदर दिया था, उसे सब भली-भाँति जानते हैं। दूसरा प्रमाण यह है कि बौद्ध धर्म तीसरी संगीति का कार्यभार स्वयं अशोक ने ही संभाला था, जो आज तक बौद्ध साहित्य में सुरक्षित है। अतः लंका में अशोक के शासन-काल में सांस्कृतिक प्रचार-प्रसार का कार्य तेजी से हुआ।

चौथी शताब्दी में गुप्तवंशी सम्राट् समुद्रगुप्त ने लंका के राजा मेघवर्ण से राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित किये। गुप्तकालीन कला ने लंका की कला को अनेक रूपों में प्रमाणित किया। लंका-स्थित सिगरिया की दीवारों पर चित्रित चित्र अजन्ता के गुहागृहों के चित्रों के प्रभाव को लेकर ही बने हैं। दशवीं-ग्यारहवीं शती में चोल नरेश राजराज प्रथम ने कई हजार द्वीपों के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित

1 वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड

किया था। इनमें लक्षदीव तथा मालदीव भी थे। चोलराज ने लंका के उत्तरी भाग पर भी अधिकार किया तथा लंका को सांस्कृतिक उपनिवेश का स्वरूप प्रदान किया। इसी प्रकार से तेरहवीं शताब्दी में पांड्यराज महावर्मन कुलशेखर ने लंका को जीता। ऐसे ही-कतिपय उदाहरणों के अतिरिक्त भारतीय राजाओं ने लंका पर राज करने का कोई प्रयास नहीं किया।

प्राचीन काल में लंका चीन के समुद्री मार्ग पर पड़ता था। बर्मा तथा पूर्वी-द्वीप समूह की ओर जलयानों का प्रस्थान भी लंका होकर ही होता था। पाँचवीं शताब्दी में प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान भारत का ऐतिहासिक भ्रमण करके लंका और जावा के मार्ग से ही चीन की ओर प्रत्यावर्तित हुआ था। दक्षिणी भारत की लिपि को बर्मा के विद्वानों ने भी अपनाया जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लंका से बर्मा जाने वाले बौद्ध विद्वानों ने ही भारतीय लिपि का प्रचार बर्मा में किया था।

लंका में बौद्ध धर्म अब भी विद्यमान है। बौद्ध साहित्य के अनमोल ग्रन्थ लंका में सुरक्षित रखे गये हैं। गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि-गणना के विषय में लंका के बाह्य साक्ष्यों तथा अन्त:साक्ष्यों से भी मदद मिली है। लंका स्थित अनुराधपुर के मठ में गौतम बुद्ध का एक दांत आज भी सुरक्षित है। इसी प्रकार बौद्ध जातकों, दीपवंश तथा महावंश की कृतियों को अभी तक सुरक्षित रखकर लंका ने अपने आपको भारतीय संस्कृति का अनुयायी सिद्ध किया है। अत: राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टियों से लंका भारत का उपनिवेश रहा है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि भारत का बौद्ध धर्म भारत से निर्वासित होकर लंका जैसे समीपस्थ देशों में प्रचलित रहा।

दक्षिण पूर्वी एशिया

जिसे आज इन्डोनेशिया कहा जाता है, उसी का हिन्दी भाषागत नाम हिन्द-एशिया है। दक्षिण पूर्वी एशिया में बर्मा, मलाया, स्याम तथा पूर्वी द्वीप समूह को गिना जाता है। प्राचीन भारत में इसी भूभाग को सुवर्णभूमि के नाम से पुकारा जाता था। ई. पू. तीसरी शताब्दी में सम्राट अशोक ने शोथ तथा उत्तर नामक दो बौद्ध भिक्षुओं को सुवर्णभूमि के लिए भेजा था।

दक्षिणी पूर्वी एशिया में जब बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ा तो बौद्ध जातकों में सुवर्ण भूमि के विभिन्न द्वीपों को अनेक नामों से पुकारा जाने लगा। सुमात्रा को सुवर्णद्वीप कहा गया, जावा को भवद्वीप के नाम से जाना गया। विभिन्न छोटे-छोटे द्वीपों को शंखद्वीप, ताम्रद्वीप, कर्पूरद्वीप, नारिकेला द्वीप, लवंगद्वीप आदि नामों से से पुकारा जाने लगा। बंगाल के ताम्रलिप्ति (मिदनापुर जिला) बन्दरगाह से बर्मा होकर मलाया या मलय प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह की यात्राएँ व्यापार और सांस्कृतिक दृष्टियों से की जाती थीं।

ईसा पूर्व प्रथम तथा दूसरी शती में शकों, आभीरों तथा गुर्जरों के आक्रमण हुए। शकों को भारत के वीरों से निरन्तर लोहा लेना पड़ा तथा उसी संघर्ष के

फलस्वरूप अनेक शक नौकाओं के माध्यम से गुजरात के काठियावाड़ से होकर समुद्री यात्रा करते हुए दक्षिणी पूर्वी एशिया में पहुँचे। ये शक दक्षिणी पूर्वी एशिया में जाकर विशेष सांस्कृतिक प्रचार तो न कर सके, परन्तु इनके वहाँ पहुँचने से विभिन्न जातियों का समन्वय हुआ तथा बौद्ध संस्कृति के आधार पर सांस्कृतिक समन्वय का मार्ग भी खुला। पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शकारि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों के राष्ट्रों—मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र पर अधिकार कर लिया और शकों को भारतभूमि से बाहर जाने के लिए बाध्य कर दिया। पाँचवीं शताब्दी तक शक भारतीय संस्कृति को बहुत कुछ अपना चुके थे। अतः इस बार उन्होंने जहाजों के माध्यम से जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में पहुँचकर संस्कृत भाषा में पल्लवित भारतीय संस्कृति को को प्रचारित किया। इतिहास के आधार पर यह प्रमाणित है कि शकराज रुद्रदामन ने दूसरी शताब्दी में अपने राज्य का विस्तार करके संस्कृत भाषा तथा भारतीय संस्कृति को पर्याप्त महत्त्व दिया था। रुद्रदामन का शिलालेख भारतीय भाषा एवं संस्कृति का ही परिचायक है। अतः शकों ने दक्षिणी पूर्वी एशिया में बसकर भारतीय संस्कृति के प्रसार में योगदान दिया।

सपूर्ण दक्षिणी पूर्वी एशिया के इतिहास से पता चलता है कि भारतवासियों ने वहाँ राजनीतिक गढ़ स्थापित किये थे। बर्मा की ख्यातों तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों से पता चलता है कि कपिलवस्तु के शाक्यों का राजपुत्र अभिराज अपनी सेना के साथ बर्मा पहुँच तथा संकिस्त (तगौंग) को राजधानी बनाकर उधर ही राज्य करने लगा। इरावती नदी की घाटी में बसा तगौंग आज तक अभिराज के शासन की सूचना देता है। यह अभिराज बुद्ध के जन्म से कई सौ वर्ष पूर्व बर्मा या ब्रह्मदेश में राज कर चुका था। बर्मा का ब्रह्मदेश नाम ही यह सिद्ध करता है कि भारतीय भाषा संस्कृत का वहाँ बोलबाला रहा, जिससे देश का नाम संस्कृत भाषा में रखा गया।

दक्षिणी पूर्वी एशिया के कुछ छोटे-छोटे अन्य देश भी भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार की कहानी को अपनी ख्यातों के माध्यम से स्पष्ट करते हैं। प्राचीन भारत में जिसे कम्बुज कहते थे, उसे आज कम्बोडिया या कम्पूचिया कहते हैं। प्रथम शताब्दी में कौडिन्य नामक हिन्दू राजा ने वहाँ राज्य स्थापित किया। कम्बुज के मूल निवासी बर्बर थे। कौडिन्य के शासन-काल में ही वहाँ सभ्यता की पहली किरण पहुँची। वहाँ के निवासी वस्त्र धारण करने लगे। कौडिन्य के राजकुल ने कम्बुज में लगभग सौ वर्ष तक राज्य किया। उसके पश्चात् लगभग 200 ई. में कम्बुज की जनता द्वारा निर्वाचित सेनापति फान-चे-मान ने कम्बुज का शासन-सूत्र संभाला। उसने अपने राज्य का विस्तार करके वहाँ की जनता को संस्कृति के सूर्य के आलोक से परिचित कराना चाहा। 'फान' शब्द वर्मन् शब्द का ही अपभ्रंश है, जो यही सूचित करता है कि किसी भारतीय नाम के आधार पर ही तयोक्त राजा का नामकरण हुआ। फान-चे-मान के अनुवर्ती राजाओं के नाम के पूर्व भी यही शब्द जुड़ा हुआ है, जो संस्कृत भाषा तथा भारतीय संस्कृति का ही परिचायक है। इसी वंश के दूसरे राजा फान-चान ने अपने दूत चीन में भेजे तथा भारत से भी प्रगाढ़

सम्बन्ध स्थापित किये। मलाया (मलय), स्याम (श्याम) आदि देश भी दक्षिणी पूर्वी एशिया में अपने नामों के आधार पर भारतीय संस्कृति को ही सूचित करते हैं।

मलय प्रायद्वीप से नीचे की ओर पूर्वी द्वीप समूह का विस्तार है। पूर्वी द्वीप समूह में सुमात्रा, जावा, बाली तथा बोर्नियो द्वीप अधिक ख्याति प्राप्त हैं। प्राचीन काल में सुमात्रा को सुवर्णद्वीप कहते थे तथा जावा को यवद्वीप। सुमात्रा और जावा का भारतीयकरण ईसवीं सन् के आरम्भ में ही प्रारम्भ हो गया था। पहले तो भारतीय संस्कृति के प्रचारक ही उधर सांस्कृतिक प्रचार कर रहे थे परन्तु पाँचवीं शताब्दी में जावा और सुमात्रा में हिन्दू राज्य स्थापित हुआ तथा उसकी राजधानी श्रीविजय बनी। उक्त दोनों ही द्वीपों में बौद्ध धर्म तथा शैव मत का प्रचार था। यहाँ के मठ और मन्दिर मुख्यतः पाँचवीं शताब्दी में निर्मित हुए। सातवीं शताब्दी सुमात्रा और जावा में हिन्दू शैलेन्द्र राजवंश की राजस्थापना हुई। बारहवीं शताब्दी तक मुसलमानों के आक्रमणों का सामना करते हुए अनेक हिन्दू राजा कथित द्वीपों में राज करते हुए भारतीय संस्कृति को प्रोत्साहन देते रहे। नवम् शताब्दी में राजा दक्ष ने जावा में शैव मन्दिरों का निर्माण कराकर भारतीय संस्कृति को प्रचारित किया।

जावा से सटा हुआ बाली द्वीप है। इस द्वीप में अनेक हिन्दू मन्दिरों को देखकर तथा वहाँ की संस्कृति में देवी-देवताओं की पूजा-प्रथा को देखकर यह निश्चय हो जाता है कि जावा द्वीप कभी भारत का सांस्कृतिक एवं राजनीतिक उपनिवेश रहा है। बाली द्वीप के धार्मिक जीवन पर आज भी पुराण-प्रथित धर्म का प्रभाव है।

बोर्नियो द्वीप में ईसवी सन् के आरम्भ में ही भारतीय संस्कृति का प्रचार शुरू हो गया था। तीसरी-चौथी शताब्दी में तो वहाँ हिन्दू-राज्य की स्थापना हो चुकी थी। चौथी शताब्दी के राजा मूलवर्मा को यूप बनवाये तथा शिलालेख उत्कीर्ण कराये, उनकी संस्कृत भाषा भारतीय संस्कृति के प्रचार की स्पष्ट सूचना है।

दक्षिणी पूर्वी एशिया के विस्तृत भूभाग पर हिन्दुओं का राजा तथा सांस्कृतिक प्रचार उक्त भूभाग को भारत का उपनिवेश सिद्ध करता है। कालान्तर में मुसलमानों के आगमन और अधिकार के फलस्वरूप दक्षिणी पूर्वी एशिया की अधिकांश जनसंख्या मुसलमान हो गई। आज भी वहाँ मुसलमानों का बहुमत है।

पश्चिमी एशिया

सीरिया, इस्रायल, ईरान, ईराक, अरब तथा अफगानिस्तान को पश्चिमी एशिया के अन्तर्गत गिना जाता है। प्राचीन भारत में पश्चिमी एशिया को शाकद्वीप कहा जाता था। सीरिया का प्राचीन नाम असीरिया या असूर्य था।[1] प्रसिद्ध इतिहासकार अलबेरुनी का कहना है कि भारत की संस्कृति बौद्ध युग में खुरासान, ईरान, ईराक, मासुल और सीरिया तक फैली हुई थी। सीरियाई ग्रन्थकार जेनब ने लिखा है कि पश्चिमी एशिया में फरात नदी के ऊपरी भाग में

तथा वान झील के पश्चिमी क्षेत्र में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में भारतीय उपनिवेश था। वहाँ उनके दो मन्दिर थे, जिनमें क्रमशः 18 और 22 फीट ऊँची देव प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित थीं। 304 ई. में उन्हीं प्रतिमाओं को ग्रेगरी ने नष्ट किया, जिसका भारतवासियों ने प्रबल विरोध किया था। पश्चिमी एशिया में बौद्ध धर्म का इतना प्रभाव बढ़ा कि जब वहाँ ईसाई धर्म का बोलबाला हुआ तब भी गौतम बुद्ध को सन्त जोजाफत के नाम से जाना जाता रहा। ईसाई धर्म में संन्यास प्रतिष्ठा भी भारतीय संस्कृति के प्रभाव को परिलक्षित करती है।

प्राचीन काल में अफगानिस्तान को गन्धर्वदेश कहते थे। पश्चिमी एशिया तथा मध्य एशिया को जोड़ने के लिए अफगानिस्तान का विशेष महत्त्व था। इसका संस्कृत नाम तथा गन्धर्व जाति भारतीय संस्कृति के ही परिचायक चिह्न हैं।

भारतीय दर्शन, चिकित्सा तथा ज्योतिष का पश्चिमी एशिया के साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा। तीसरी शताब्दी में ससानी राजा शापूर प्रथम ने भारतीय साहित्य के सिद्धान्तों को अपने देश के साहित्य में स्थान दिया एवं दिलाया। सीस्तान के दलदल में बौद्ध विहार के भग्नावशेष भी यही सिद्ध करते हैं कि पश्चिमी एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रचार रहा है।

मध्य एशिया

आधुनिक चीन का पश्चिमी भाग, अफगानिस्तान का उत्तरी भाग तथा सोवियत संघ का दक्षिणी भाग मध्य एशिया के नाम से प्रसिद्ध रहा है। प्रथम शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी तक मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। ईसा की पहली शताब्दी में सम्राट् कनिष्क ने बौद्ध धर्म की चौथी संगीति का अधिवेशन बुलाया था, जिसके फलस्वरूप मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का अपेक्षाकृत अधिक प्रचार हुआ। तीसरी शताब्दी में तो बाख्त्री को भारतीय भूमि तथा आमू नदी को बौद्धों और ब्राह्मणों की नदी माना जाने लगा था। थ्यानशान कुनलुन, पामीर, लेपनूर के दलदल तथा गोबी के रेगिस्तानी क्षेत्र में भारतीयों का पर्याप्त आवागमन रहा तथा वहाँ भारतीय संस्कृति के प्रचार को सूचित करने वाले अवशेष भी यदा-कदा प्राप्त हुए। चीन के कान्सू प्रान्त में, जहाँ कभी हूणों का निवास था, अनेक दरीगृह बौद्धों के चित्रों से लिखित एवं मण्डित प्राप्त हुए हैं।

मध्य एशिया में शैलदेश (काशगर), चोकक्क (यार कन्द), खोतान (खुत्तन) आदि भारतीय उपनिवेश रहे हैं। इन स्थानों पर अनेक बौद्ध मठ एवं विहार प्राप्त हुए हैं। दीवारों के ऊपर लिखे चित्र तथा ब्राह्मी लिपि यही स्पष्ट करती है कि प्राचीन काल में मध्य एशिया में पर्याप्त भारतीय धर्म-प्रचार रहा।

आधुनिक कुचा को प्राचीन युग में 'कुची' नाम से पुकारा जाता था। वहाँ भारत के सुवर्णपुष्प, हरिपुष्प, हरदेव नामक राजाओं ने राज्य किया। कूचा में अनेक बौद्ध विहार भी मिले हैं। मध्य एशिया के कड़ा शहर को अग्निदेश के नाम से पुकारा जाता था। इन्द्रार्जुन तथा चन्द्रार्जुन जैसे राजाओं ने अग्निदेश पर राज्य

किया। वहाँ कुबेर, गणेश, शंकर आदि की मूर्तियाँ मिली हैं, जो वैदिक धर्म का परिचायक हैं। वहाँ बौद्ध धर्म का प्रबल प्रचार हुआ।

मध्य एशिया में संस्कृत और पालि भाषाओं में सुरक्षित भारतीय साहित्य के अंश भी मिले हैं। प्रथम शताब्दी में अश्वमेघ नामक महाकवि ने 'सारिपुत्र प्रकरण' नामक रूपक की रचना की थी, जिसके अंश मध्य एशिया में प्राप्त हुए हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अश्वघोष बौद्ध था तथा उसने संस्कृत में काव्य-रचना की थी। बौद्ध धर्म के महान् ग्रन्थ 'धम्मपद' के अंश भी मध्य एशिया में प्राप्त हुए हैं। ऐसे सभी तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति का पर्याप्त प्रचार रहा।

चीन

ईसापूर्व छठी शताब्दी में भारत के उत्तरी भाग में अवस्थित चीन देश से भारत के प्रगाढ़ सम्बन्ध बनने शुरू हो गये थे। महाभारत मनुस्मृति तथा अर्थशास्त्र जैसे ग्रन्थों में चीन का उल्लेख हुआ है। अतः चीन से भारत का सम्पर्क ईसापूर्व में ही हो चुका था। चीन के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध जल और थल दोनों ही मार्गों से हुआ। इतिहास के आधार पर चीन जाने के तीन मार्ग थे—पहला अफगानिस्तान तथा हिन्दूकुश होकर बलख की ओर जाता था दूसरा मार्ग बर्मा या ब्रह्मदेश से होकर चीन के दक्षिणी प्रान्तों की ओर जाता था। तीसरा मार्ग जल से होकर था, जो पूर्वी द्वीप समूह के निकट से होकर जाता था। पांचवीं शताब्दी में चीनी यात्री फाह्यान जल मार्ग से ही चीन लौटा था। मैसूर में ईसा पूर्व दूसरी शती एक चीनी सिक्का मिला है, जो भारत और चीन के सम्पर्क को सूचित करता है।

ईसापूर्व प्रथम शती में हान सम्राट मिगत्ती ने विशिष्ट स्वप्न देखा तथा उसी के फलस्वरूप अपने दूतों को भारत भेजा। तभी भारत से बौद्ध भिक्षु धर्मरता तथा काश्यप मातंग चीन गये और उन्होंने वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। ईसापूर्व 65 में उक्त भिक्षुओं ने चीनी भाषा को सीखना शुरू कर किया तथा बौद्ध धर्म को प्रतिष्ठित करने के लिए बौद्ध साहित्य को चीनी भाषा में अनुदित किया। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जब मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का प्रचार ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी तक ही हो चुका था तो चीन में भी बौद्ध धर्म काफी पहले ही पहुँच चुका होगा। मध्य एशिया से बौद्ध भिक्षु चीन की ओर पहले ही प्रयाण कर चुके होंगे।

चीनी की संस्कृति भी बहुत प्राचीन रही है। जब चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ तो चीन के विद्वानों ने चीनी सभ्यता एवं संस्कृति की अपेक्षा बौद्ध संस्कृति को अधिक सुबोध एवं संस्कृत माना। तीसरी और चौथी शताब्दी में चीन में अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण हुआ, जिनके फलस्वरूप भारतीय संस्कृति की महिमा को समझकर फाह्यान, हुएनसांग तथा इत्सिंग जैसे चीनी यात्रियों ने भारत की यात्रा करके भारतीय संस्कृति के मर्म को समझने की चेष्टाएँ कीं।

चीन में कागज और मुद्रण-यन्त्र का आविष्कार होने के कारण बौद्ध धर्म के प्रचार में चार चाँद लग गये। बौद्ध ग्रन्थों में छिपी दिव्य ज्योति को जनता ग्रन्थों के माध्यम से प्राप्त करना चाहती थी। परन्तु पुस्तकें हाथ से लिखी जाती थीं, जो अत्यन्त श्रमपूर्ण होने के कारण अति व्ययसाध्य सिद्ध होती थीं। तत्कालीन गरीब जनता उन पुस्तकों को खरीदने के लिए पैसा नहीं जुटा पाती थी। अतः वैज्ञानिक मुद्रण यन्त्रों के आविष्कार के फलस्वरूप धर्म-साहित्य की पुस्तकों के भण्डार मुद्रित हो गये तथा बौद्ध धर्म का प्रचार प्रचारकों के प्रचार की अपेक्षा कहीं अधिक होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि जो मुद्रण का आविष्कार चीन में हुआ था तथा जिसे कोरिया और जापान ने अधिक वैज्ञानिक बनाया था वह प्रचारकों के हाथों पूरे विश्व में फैल गया। विविधमुखी साहित्यक ग्रन्थों के साथ-साथ प्रचारकों ने बारूद का भी विदेशों में परिचय कराया, जिसकी आविष्कार भूमि चीन ही थी। अतः चीन में सांस्कृतिक प्रचार-प्रसार वैदिक काल से लेकर गुप्तकाल तक अनवरत गति से चला तथा तत्पश्चात् प्रचार-कार्य धर्म-कार्य के रूप में स्थानीय स्तर पर ही पर्याप्त एवं उपयोगी माना जाने लगा।

तिब्बत और नेपाल

भारतवर्ष के उत्तरी भाग में तिब्बत तथा नैपाल देश स्थित है। कई शताब्दी ईसा पूर्व में तिब्बत में वैदिक धर्म का प्रचार था उस समय तिब्बत को 'त्रिविष्टप' नाम से पुकारा जाता था। 'तिब्बत' शब्द त्रिविष्टप शब्द का ही अपभ्रंश है। पुराणों में वैदिक संस्कृत के समन्वय की कहानी तिब्बत संस्कृति की ओर स्पष्ट संकेत किया है। पुराणों में तीन देवता—ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर प्रमुख हैं। शंकर वृषभवाहन कहलाते हैं। तिब्बत में याक की सवारी की जाती है। अतः सभ्यता के आधार पर शंकर का निवास तिब्बत में ही माना जा सकता है। ज्ञानमार्गी शंकर के साथ वैदिक संस्कृति के उन्नायक विष्णु और दक्षादि को समझौता करना पड़ा।[1] इसीलिए वेदों में कर्मकाण्ड के साथ-साथ ज्ञानमार्ग की भी सांकेतिक प्रचुरता देखने को मिलती है।

तिब्बत के सांकेतिक सम्बन्ध रखने वाले देशों में भारत और चीन अग्रणी माने जाते हैं। चौथी-पांचवीं शताब्दी से ही तिब्बत के लामा चीन की राजधानी में अभिषिक्त होते रहे हैं। यह इस बात का स्पष्ट संकेत है कि प्राचीन काल से ही तिब्बत के ऊपर चीन की प्रभुत्ता अधिक रही है। बीच-बीच में तिब्बत स्वतन्त्र भी हुआ है, परन्तु आज भी तिब्बत के ऊपर चीन का ही प्रभुत्व है। धर्म और संस्कृति के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से भारत और चीन दोनों ने ही तिब्बत में धर्म प्रचार किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ईसा-पूर्व में ही चीन में भारतीय बौद्ध प्रचारक पहुँच चुके थे। अतः चीन में धर्म-प्रचार हो जाने के कारण वहाँ के प्रचारक तिब्बत में भी सांस्कृतिक प्रचार करने लगे। इधर भारत से भी धर्म प्रचारक तिब्बत में प्रवेश कर गये तथा उसका परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म के मठ दुर्गम गुफाओं में बनने लगे तथा बौद्ध साहित्य को तिब्बती भाषा में अनूदित किया जाने लगा। सप्तम शताब्दी में तो चीन में ब्राह्मी लिपि का भी प्रचार हो गया। इधर

1 रुद्र संहिता, यज्ञ विध्वंस प्रकरण

बारहवीं शताब्दी बख्तियार के आक्रमण के फलस्वरूप बिहार के नालन्दा विश्वविद्यालय को भारी क्षति पहुँचाई गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि अनेक बौद्ध भिक्षु-भारत से तिब्बत की ओर प्रस्थान कर गये। उन भिक्षुओं ने तिब्बत पहुँचकर वहाँ भारतीय संस्कृति को और भी अधिक विशद एवं व्यापक बनाने में योगदान दिया। आज भी तिब्बत में बौद्ध धर्म जनधर्म है तथा उसे राष्ट्रीय धर्म कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। अतः तिब्बत को भारत का सांस्कृतिक उपनिवेश ही कहा जा सकता है।

भारत के पड़ोसी नैपाल का पुराना नाम 'नयपाल' रहा होगा—यह एक भाषावैज्ञानिक सत्य है। ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में सम्राट् अशोक से भेंट करने के लिए नैपाल नरेश अपनी पुत्री चारुमती तथा अपने दामाद देवपाल क्षत्रिय के साथ आया था। समझा जाता है कि उस समय नैपाल ने भारत की अधीनता स्वीकार करली थी, चौथी शताब्दी में नैपाल को समुद्रगुप्त के सीमान्त राज्यों में गिना जाता था। नैपाल की राजवंशावली को देखने से पता चलता है कि वहाँ किरातों, आभीरों, सोमवंशियों तथा सूर्यवंशियों के राज रहे हैं। इतिहास के आधार पर नैपाल छठी शताब्दी के अन्त में तिरहुत (बिहार) के प्रभाव में आया तथा लिच्छिवी क्षत्रिय राजा शिवदेव का मन्त्री ठाकुरी अंशुवर्मन् वहाँ का स्वामी बन बैठा। ठाकुरी राजकुल का शासन वहाँ कुछ काल ही स्थापित रह सका। बारहवीं शती में तिरहुत के नामदेव ने उसे जीत लिया और अन्त में अठारहवीं शती में गोरखों ने। तदन्तर नैपाल अंग्रेजों के प्रभाव में आया।

नैपाल में बौद्ध धर्म तथा पुराण धर्म (वैदिक धर्म) दोनों का ही प्रचार हुआ। सम्राट् अशोक के समय जो भिक्षु-चीन, तिब्बत तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया में गए उन्हीं के साथ बौद्ध भिक्षुओं ने नैपाल में भी प्रवेश किया। में धीरे-धीरे तान्त्रिक महायान सफल हो गया। परन्तु पीछे से शैव मत के प्रचार ने नैपाल से बौद्ध धर्म को उखाड़ फेंका गया। वहाँ हिन्दू देवी-देवताओं का यथेष्ठ प्रचार हुआ। नैपाल की राजधाकी काठमाडू में शिव का मन्दिर शैव मत का ही प्रतीक है। नैपाल की जनता में शिव देवता के प्रति बड़ी भक्ति रही है, जिसका उल्लेख नैपाली धर्म साहित्य में भरा पड़ा है। नैपाल में शिव को पशुनतिनाथ भी कहा गया है, जो शैव मत के प्रचार का ही द्योतक है। नैपाल की संस्कृति में यज्ञवाद, मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद जैसे तत्त्वों को देखकर यही कहना पड़ता है कि नैपाल प्राचीन काल में भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक उपनिवेश रहा है।

उपर्युक्त देशों के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति का विस्तार जापान, मंगोलिया, तोंकिन जैसे अनेक देशों में हुआ। यदि हम पुराणों का अनुशीलन करें तो आज के इतिहास से उसका तालमेल बैठाने पर पता चलता है कि भारतीय संस्कृति नाग संस्कृति तथा मय संस्कृति के रूपों में दक्षिणी अमेरिका तथा उत्तरी अमेरिका—अर्थात् नई दुनिया में भी फैली हुई थी। वैदिक एवं पौराणिक काल में भारत का अफ्रीका महाद्वीप से भी अत्यधिक सम्बन्ध रहा था। अतः प्राचीन काल से ही भारतीय राजा एवं धर्म प्रचारक विश्व को आर्य बनाने का स्वप्न देखते रहे हैं—"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।"

प्रश्नावली
(UNIVERSITY QUESTIONS)

अध्याय 1–2

1 संहिता साहित्य का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत कीजिए। (1976)
Give a brief description of the Sambita literature.

2 वैदिक साहित्य का पूर्वापर सम्बन्ध वर्ण्य-विषय की दृष्टि से बताते हुए निर्देश कीजिए कि किस वेद से कौन ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् प्रवर्तित हैं। (1979)
Discuss the development of vedic contents and mention the relationship of Brahmanas, Aranyakas and Upnishadas with the Vedas.

3 ब्राह्मण ग्रन्थों की विषय-वस्तु तथा महत्त्व का विवेचन कीजिए। (1977)
Discuss the contents and importance of the Brahmanas.

4 'उपनिषदों में वैदिक चिन्तन उत्कर्षबिन्दु को प्राप्त होता है' इस कथन की समीक्षा कीजिए। (1976)
'Upanisadas are the culmination of Vedic thought' Discuss.

5 उपनिषदों की शिक्षाओं का विवेचन कीजिए। (1977)
Discuss the teachings of Upnishadas.

6 सूत्र का स्वरूप विवेचन करें तथा सूत्रसाहित्य (वेदांगीय) पर निबन्ध लिखें। (1977)

7 आरण्यक और ब्राह्मण में क्या अन्तर है ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए। (1976)
What is the difference between an Aryanaka and a Brahamans ? Illustrate your answer.

8 वेदों के वर्ण्यविषय पर सविस्तार प्रकाश डालिए।
Illustrate the contents of the Vedas.

9 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ बतलाते हुए प्रमुख उपनिषदों पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
Explain the word 'Upnisad' and write a short essay on Upnisadas.

10 निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—
यजुर्वेद संहिता, अथर्ववेद संहिता, आरण्यक
Write a short note on the following :—
Yajurved Samhita, Atharvveda Samhita, Aranyanaka

11 वेदों के रचना-काल का समीक्षात्मक वर्णन कीजिए।
Write a critical essay about the period of the Vedas.

12 उपनिषदों के विवेच्य-विषय का वर्णन कीजिए।
Illustrate the contents of Upnisadas.

अध्याय 3

1 पुराणों के महत्त्व का विवेचन कीजिए। (1980)
Illustrate the importance of Puranas.

2 रामायण और महाभारत की उपजीव्यता किन विशेषताओं पर आधारित है ? सोदाहरण विवेचन कीजिए।
Main theme of Ramayana and Mahabharata depends on which specialities ? Elucidate.

3 महाभारत के सम्बन्ध में 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति तत्क्वचित्' उक्ति का समर्थन कीजिए। (1980)
Illustrate the statement 'Yadihasti Tadanyatra Yanahasti Tatkavachit' about Mahabharat.
4 रामायण के महाकाव्यत्व का विवेचन कीजिए। (1978)
Illustrate the epic qualities of Ramayana.
5 महाभारत का काल निर्धारण कीजिए। (1977)
Discuss the date of Mahabharat.
6 पुराणों का वर्गीकरण कीजिए।
Classify the Puranas.
7 पुराणों के लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
Illustrate the factors of Puranas.

अध्याय 4

1 आधुनिक संस्कृत साहित्य पर एक निबन्ध लिखिए।
Write a short essay on Modern Sanskrit Literature.
2 आधुनिक संस्कृत साहित्य की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। (1980)
Illustrate the specialities of Modern Sanskrit Literature.

अध्याय 5

1 भारतीय आस्तिक षड्दर्शनों पर टिप्पणी लिखिए। (1977)
Write a note on the six Orthodox systems of Indian philosophy.
2 दार्शनिक साहित्य के विकास का विवरण दसवीं शती की रचनाओं को लेकर स्पष्ट कीजिए। (1979)
3 "आस्तिक और नास्तिक दर्शनों में भेद स्पष्ट नहीं है।" समझाइए। (1976)
"The distinction between Astika and Nastika Darshans is not clear." Elucidate.
4 "भारतीय दर्शन निराशावादी है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए। (1976)
"Indian philosophy has a pessimistic outlook." Comment.
5 सांख्य दर्शन की व्युत्पत्ति एवं विकास पर प्रकाश डालिए। (1978)
Illustrate the origin and development of Sankhya.
6 न्याय दर्शन की उत्पत्ति एव विकास पर प्रकाश डालिए। (1978)
Describe the origin and development of Nayay.
7 निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए— (1980)
वेदान्त दर्शन, चार्वाक दर्शन।
Write a short note on the following—
Vedant Darshan, Charwak Darshan.
8 बौद्धदर्शन के विषय में एक निबन्ध लिखिए।
Write an essay on Boddha Philosophy.
9 जैन दर्शन पर एक निबन्ध लिखिए।
Write an essay on Jain Philosophy.
10 प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक साहित्य का उल्लेख करते हुए आयुर्वेद के विकास पर टिप्पणी लिखिए। (1979)
Make a comment on scientific literature of ancient India and illustrate the development of Ayurveda.

11 रस-सिद्धान्त पर लघु निबन्ध लिखिए और संस्कृत आलोचना में इसकी उपयोग विधि समझाइए । (1977)
Write a short essay on the Theory of Rasa and its application in Sanskrit Criticism.

12 संस्कृत काव्यशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों पर निबन्ध लिखिए । (1976)
Write an essay on the fundamental principles of Sankrit poetics.

13 धर्मशास्त्र के ऐतिहासिक विकास पर एक निबन्ध लिखिए ।

14 मनुस्मृति पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए । (1980)
Write a short essay on Manusmrati.

15 अर्थशास्त्र के इतिहास में कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भूमिका का वर्णन कीजिए ।
Illustrate the contribution of Kautilyan Arthshastra in the history of Arthshastra.

16 निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—
रीति सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति जीवित, ध्वनि सम्प्रदाय
Write a short note on the following—Riti Sampraday, Alankara Sampraday, Vakkrokti Sampraday, Dhwani Sampraday.

17 निम्नलिखित पर प्रकाश डालिए—
गणितशास्त्र, तन्त्र साहित्य, भारतीय ज्योतिष
Illustrate the following :—
Ganit Shastra, Tantra Literature, Indian Astrology.

18 "अलंकार शास्त्र का मूल भरत का नाट्यशास्त्र है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए । (1979)
"Bharata's 'Natyashastra' is the root of poetics". Comment.

अध्याय 6

1 वैदिक वाङ्मय के अनुसार तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति पर टिप्पणी लिखिए ।
Write a note on the socio-economic conditions as depicted in the Vedic Literature. (1976)

2 वैदिक युगीन गृहस्थ धर्म का विवेचन कीजिए । (1980)
Illustrate the house-hold religion of Vedic period.

3 वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था का विकास कैसे हुआ ? "शूद्रों की स्थिति साधारणतः अच्छी थी ।" इस कथन की समीक्षा कीजिए । (1979)
How the caste system developed in the Vedic period ? "Shudras were in good condition comparatively." Comment.

4 ऋग्वेदकालीन धार्मिक जीवन का उल्लेख कीजिए । (1980)
Mention the religious life of Rigved period.

5 ऋग्वेदकालीन संस्कृति पर प्रकाश डालिए ।
Illustrate the culture of Rigveda period.

6 उत्तर वैदिक युगीन संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट कीजिए ।
Clear the cultural form of afterward Vedic era.

7 पौराणिक संस्कृति पर निबन्ध लिखिए । (1975)
Write an essay on mythological culture.

8 बौद्ध संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट कीजिए ।
Illustrate the formation of Buddha Culture.

9 जैन संस्कृति पर प्रकाश डालिए ।
Elucidate the Jain Culture.

10 धर्म की भारतीय अवधारणा क्या है ? (1977)
What is the Indian Conception of religion ?

अध्याय 7

1 निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए:—
गान्धार कला, मथुरा कला, सांची का स्तूप, खुजराहो, सारनाथ, अजन्ता, एलोरा, गुप्तयुगीन कला (1976, 78)
Write a note on the following :—
Gandhar Art, Mathura Art, Sanchi Tower, Khujrabo, Sarnath, Ajanta, Alora, Art of Gupta Period.

अध्याय 8

1 भारतीय धर्म का विदेशों में किस प्रकार प्रसार हुआ ? (1979)
How Indian religion extended in the foreign countries ?

2 निम्नलिखित में से भारतीय संस्कृति के विस्तार पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए:— (1978)
चीन, दक्षिण पूर्वी एशिया
Write a short essay on extension of Indian culture selecting the following:
China, Southern and Eastern Asia.